अङ्क १८ २५७५वीं जयन्ती

महावीर जयन्ती स्मारिका

1977

प्रधान सम्पादक

भँवरलाल पोल्याका

जैनदर्शनाचार्य साहित्यशास्त्री

*

प्रबन्ध सम्पादक

श्री रमेशचन्द्र गंगवाल

विज्ञापन समिति

श्री कपूरचन्द पाटनी

श्री देवकुमार सोगानी

श्री सुमेरकुमार जैन

श्री सुरजीलाल जैन

श्री कैलाशचन्द वेद

श्री नरेशकुमार सेठी

सम्पादक मण्डल

डा० नरेन्द्र भानावत

श्री पदमचन्द साह

एम ए सम्पादनकला विशारद

श्री राजकुमार काला

एम ए एलएल बी

प्रकाशक

बाबूलाल सेठी

मंत्री

राजस्थान जैन सभा जयपुर

राजस्थान जैन सभा, जयपुर

पदाधिकारीगण एव कार्यकारिणी के सदस्य

१	श्री राजकुमार काला	अध्यक्ष
२.	श्री ताराचन्द्र साह	उपाध्यक्ष
३.	श्री पूनमचन्द्र साह	उपाध्यक्ष
४	श्री बाबूलाल सेठी	मन्त्री
५	श्री प्रकाशचन्द ठोलिया	स० मन्त्री
६	श्री भागचन्द छाबडा	स० मन्त्री
७	श्री सुरज्ञानीचन्द लुहाडिया	कोषाध्यक्ष
८	श्री कपूरचन्द पाटनी	सदस्य
९	श्री प्रवीणचन्द छाबडा	,,
१०	श्री सूरजमल सोगाणी	,
११	श्री रतनलाल छाबडा	
१२	श्री लल्लूलाल जैन	,,
१३	श्री कैलाशचन्द गोधा	,
१४	श्री त्रिलोकचन्द काला	,,
१५	श्री रमेशचन्द गगवाल	,
१६	श्री अरुण कुमार सोनी	,,
१७	श्री सुभाष काला	,,
१८	श्री राजमल जैन बेगस्या	,,
१९	श्री महेशचन्द काला	,,
२०	श्री ज्ञानप्रकाश बक्षी	,,
२१	कुमारी प्रीति जैन	,,
२२	श्री भँवरलाल पोल्याका	,,
२३	श्री राधाकिशन जैन	,,
२४	श्री रतनलाल जैन	,,
२५	श्री जवाहरलाल जैन	,

विश्व आज जिनकी २५७५वीं जयन्ती
मना रहा है

जन्म
चैत्र शुक्ला त्रयोदशी

मोक्ष
कार्तिक कृष्णा अमावस्या

जन्म चैत सित तेरस के दिन,
कुण्डलपुर कन वरना ।
सुरगिर सुरगुरु पूज रचायो,
मैं पूजो भय हरना ।।

आशीर्वचन

उपाध्याय विद्यानन्द मुनि

२१६२, काजी वाडा
दरियागज, दिल्ली
१६-३-७७

राजस्थान जैन सभा महावीर जयन्ती के पुनीत पर्व पर एक स्मारिका का प्रकाशन कर रही है समयानुकूल कार्य है।

स्मारिका मे प्रकाशित सामग्री पठनीय एवं प्रमाणित हो यही स्मारिका की विशेषता है।

स्मारिका पाठकों के लिए उपयोगी हो यही मेरी शुभाशीर्वाद है।

शुभाशीर्वाद

सन्देश

राज भवन
बैगलोर
मार्च 5, 1977

मुझे यह जानकर बहुत खुशी हुई है कि भगवान महावीर के जयन्ती-समारोह के अवसर पर राजस्थान जैन सभा एक जयन्ती स्मारिका प्रकाशित करने जा रही है। स्मारिका मे जैन दर्शन, इतिहास, सस्कृति तथा साहित्य पर प्रतिष्ठित विद्वानो के गवेषणापूर्ण लेखो के प्रकाशन से उसकी उपयोगिता बहुत बढ जायगी। ऐसी स्मारिका को सब ही प्रबुद्ध पाठक प्राप्त करना तथा ध्यान से अध्ययन करना चाहेगे। राजस्थान जैन समाज के इस आयोजन का मै स्वागत करता हूँ और यह हार्दिक कामना करता हूँ कि स्मारिका सर्वाङ्ग सुन्दर तथा सर्वोपयोगी सिद्ध हो।

—उमाशकर दीक्षित
राज्यपाल, कर्णाटक

सेठ मूलचन्द सोनी मार्ग
अनोप चौक, अजमेर
3-3-77

श्रीयुत् बाबूलालजी सेठी
मंत्री, राजस्थान जैन सभा, जयपुर

सादर जयजिनेन्द्र !

आपका कृपा पत्र मिला। आप आगामी श्री महावीर जयन्ती के पुण्य पर्व पर जयन्ती स्मारिका का प्रकाशन कर रहे हैं, यह अवगत कर हार्दिक प्रसन्नता हुई।

भगवान महावीर स्वामी के विश्व हितैषी उपदेशों के प्रसारार्थ स्मारिका प्रकाशन का प्रयास श्लाघनीय है। वीर प्रभु की देशना का पुण्य लाभ जनसाधारण को अधिकाधिक मिले, यह स्मारिका का लक्ष्य होना चाहिये। सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की पुण्य सलिला में जन-मन निमग्न हो, यह प्रथमतः आवश्यक है। क्योंकि समग्र हितैषी उक्त सिद्धान्त सार्वजनीन दृष्टि से विश्व मंच पर स्वीकार जा चुके हैं।

विश्वास है आपके सद्प्रयास में उक्त भावना का समावेश होगा। सुष्ठु प्रकाशन के लिये हार्दिक शुभकामनाएं।

आपका
- भागचन्द सोनी

अनुक्रमणिका

अपनी बात

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

कला, संस्कृति और साहित्य

तृतीय खण्ड

विविध

चतुर्थ खंड

आंग्ल भाषा (English Section)

अपनी बात

महावीर-वाणी

१. किसी भी प्राणी की हिंसा न करना ही ज्ञानी होने का सार है।

२. जीव मरे या जीये इससे हिंसा का सम्बन्ध नहीं है। यत्नाचार-हीन प्रमादी पुरुष निश्चित रूप से हिंसक है। यत्नाचारपूर्वक प्रमादहीन प्रवृत्ति करने वाले को जीव की हिंसा हो जाने मात्र से बध नहीं होता।

३. सम्यक्ज्ञान का फल शुद्ध चारित्र है।

४. अहिंसा, सयम और तपरूप धर्म ही उत्कृष्ट मगल अर्थात् कल्याणकारी है।

५. अप्रमत्त और सावधान रहते हुए सदा हितकारी, मित और प्रिय वचन बोलना चाहिए।

६. परोपकारी लोग अपनी आपत्तियों का विचार नहीं करते।

७. जीव के अच्छे और बुरे भाव ही पुण्य तथा पाप क्रमशः है।

८. बांधे हुए शुभ और अशुभ कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पडता है।

९. मन के विकल्पो को रोक देने पर यह आत्मा ही परमात्मा बन जाता है।

१०. तू ही कर्म करने वाला है, तू ही उनका अच्छा बुरा फल भोगने वाला है तथा तू ही मुक्त होने वाला है फिर कर्मबंधन से मुक्त होकर स्वाधीन होने का प्रयत्न क्यो नही करता।

११. तू स्वय ही तेरा गुरु है।

❖

★★★ अध्यक्षीय

आज से 2575 वर्ष पूर्व भारतवर्ष की ही नही सम्पूर्ण विश्व की बडी ही चिताजनक स्थिति थी। सासारिक विषय भोगो मे मानव इस प्रकार फस गया था कि उसे हेयाहेय, कर्तव्य-अकर्तव्य आदि का कतई ज्ञान नही रहा था। वह भुला बैठा था कि जिस तरह मेरी आत्मा है उसी प्रकार दूसरो की भी है, जिस प्रकार मैं सुखी होना चाहता हू उसी प्रकार दूसरे प्राणी भी सुखी होना चाहते हैं, मरना कोई नही चाहता। जिह्वालोलुपता की तो उसने हद ही करदी थी। पशु यज्ञ स भी आगे बढ कर वह मनुष्य यज्ञ पर आगया था। यह ही नही अपने इन कुकृत्यो के समर्थन हेतु उसने न केवल नए नए ग्रन्थो का निर्माण ही किया था अपितु पुराने चले आए ग्रन्थो मे भी घटाबढी की थी। वेद भी इससे अछूते नही रहे थे। उनमे भी नरबलि तक सम्मिलित होगई थी जिह्वालोलुप यह कह कर बलि का समथन कर रहे थे कि देवो के लिए की गई बलि हिंसा नही है। प्राणियो के चीत्कार से आकाश गू ज रहा था चारो ओर हाहाकार मचा था। सब चाहते थे कि कोई ऐसा शक्तिसम्पन्न मानव इस धरा पर अवतार ले जो उनके कष्टो का अन्त कर सके दुनिया को सत्य की ओर मोड सके, प्राणियो को दु ख से छुडा उन्हे सुख और शाति प्रदान कर सके।

फलस्वरूप आज से 2575 वर्ष पूव चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को भगवान महावीर ने इस धरा पर जन्म लिया। वे जन्म से ही ऐसे मार्ग की खोज मे थे जिस पर चल कर दु खी प्राणियो का दु ख दूर हो सके। घर मे रहकर ऐसा सभव नही था। अत उन्होने दीक्षा ग्रहण की। बारह वर्ष तक की कठोर साधना के पश्चात् जो माग उन्हे सूझा था जीवन मे अहिंसा का अवतरण तथा विचारो मे अनेकान्त तथा वाणी मे स्याद्वाद का मार्ग। उन्होने कहा तुम स्वय जीओ मगर दूसरो को भी जीने दो। आग्रह मत करो, सब की सुनो, विभिन्न दृष्टिकोणो से चिन्तन कर सत्य का निर्णय करो। जिस दृष्टिकोण से तुम्हारी बात सच है दूसरे दृष्टिकोण से वह असत्य भी हो सकती है। एक दृष्टिकोण केवल आशिक सत्य का दर्शन कराता है।

भ० महावीर का बताया माग केवल एक काल के लिए नही था। वह कालातीत था। उस पर चलने की जितनी आवश्यकता तब थी आज भी है। उनका सन्देश जन जन तक पहुचे इस पवित्र भावना के वशीभूत हो स्व० प० चैनसुखदासजी की प्रेरणा से राजस्थान जैन सभा ने सन् 1962 से जयन्ती पर एक ऐसी स्मारिका के प्रकाशन का निर्णय लिया जो सब की सम्मिलित हो उसमे निबन्ध आदि समन्वय परक हों साम्प्रदायिकता को उभारने वाल न होकर एकता तथा सगठन पर बल देने वाले हो साथ ही जैन इतिहास तथा सस्कृति का परिचय कराने वाले हो। स्मारिका के अब तक 13 अक पाठको के हाथ मे पहुच चुके हैं। 14 वा अक उनके हाथ मे है। यह निर्णय करना उनका काम है हम कहा तक अपने उद्देश्य की पूर्ति मे सफल हुए हैं।

स्व० प० चैनसुखदासजी के स्वर्गवास के पश्चात् सन् 1969 से स्मारिका का सम्पादन प० भवरलालजी पोल्याका जैन दर्शनाचार्य करते आरहे हैं। इस बष भी उन्होने ही हमारा अनुरोध स्वीकार कर अस्वस्थ होते हुए भी काफी अल्प समय मे इस कार्य के सम्पादन मे जिस कर्त्तव्यनिष्ठा और लगन का परिचय दिया है उसके लिये मेरे पास श्री पोल्याकाजी को धन्यवाद अर्पित करने को शब्द नही है। मैं श्री पोल्याकाजी एव उनके सहयोगी श्री पदमचन्दजी का अत्यन्त आभारी हू।

राजस्थान जैन सभा के कार्यक्रमो में कार्यकारिणी समिति के सभी साथियो का समय समय पर मुझे सम्पूर्ण सहयोग मिलता रहा है, विशेष रूप से सभा की कार्यकारिणी समिति के वरिष्ठ साथी श्री कपूरचन्दजी पाटनी ने कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी अपनी कुशलता से कार्य को सफल बनाने मे मेरी मदद की है। वे सस्था के तो प्राण ही हैं। सस्था के अन्य वरिष्ठ साथी श्री प्रवीणचन्द्रजी छाबडा भी मुझे मार्ग दर्शन देते रहे हैं। मैं उन सब का भी अत्यन्त आभारी हूँ।

मैं सस्था के उपाध्यक्ष श्री ताराचन्दजी शाह एव श्री पूनमचन्दजी शाह का भी आभारी हू जिन्होने समय समय पर अपनी राय देकर सभा को लाभान्वित किया है। सस्था के मत्री श्री बाबूलाल जी सेठी सम्पूर्ण वर्ष भर सामाजिक सेवा की भावना से कार्य करते रहे है, यदि यह कहा जावे कि सेठी जी की लग्नशीलता एव कर्त्तव्य निष्ठा ही सभा को गति दे सकी तो इसमे कोई अतिशयोक्ति नही है। श्री सेठी के साथ श्री प्रकाशचन्दजी ठोलिया एव श्री भागचन्दजी छाबडा ने भी पूर्ण तन मन से कार्य किया है। मैं उनका भी आभारी हू।

श्री वीर सेवक मण्डल का भी समय समय पर सहयोग मिलता रहा है उनके प्रति आभार प्रकट किये बिना भी मेरा कार्य अधूरा है।

मुझे श्री ज्ञानप्रकाश बक्षी, श्री राजेन्द्रकुमार बिल्टीवाला, श्री हेमकुमार चौधरी श्री महेशचन्द काला कैलाशचन्द गोधा श्री अरुणकुमार सोनी, कुमारी प्रीति जैन आदि का भी विशेष सहयोग मिलता रहा है। मैं उनका भी आभारी हू।

स्मारिका के प्रकाशन में प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष रूप से जिनका सहयोग रहा है उनका वर्णन किये बिना भी नही रहा जाता। श्री रमेशचन्द्र जी गगवाल ने विज्ञापन समिति के सयोजन का भार वहन कर मेरी काफी मदद की है उनके साथ सर्व श्री देशभूषणजी सोगानी, सुमेरकुमार जैन मुन्नीलाल जैन, महेशचन्द काला, कैलाशचन्द वैद आदि के सहयोग को भी नही भुलाया जा सकता है अर्थ-व्यवस्था मे सर्वश्री सुरज्ञानीचन्द लुहाडिया ताराचन्द साह देवकुमार शाह, कैलाशचन्द सोगानी त्रिलोक चन्द काला तेजकरण सोगानी आदि का भी काफी सहयोग रहा है। मैं विज्ञापनदाताओं का भी आभारी हू जिन्होने स्मारिका के महत्व को समझ कर विज्ञापन देकर इस स्मारिका को मूर्त रूप देने मे मदद की है।

मैं समाज के उन सभी लोगो को जिन्होने विभिन्न समितियो के सयोजक के रूप मे भार वहन कर कार्य को सफल बनाया धन्यवाद दिये बिना नही रह सकता हू।

स्मारिका का मुद्रण कार्य मूनलाइट प्रिन्टर्स ने किया है। इसके मालिक श्री महावीर प्रसाद जैन एव प्रेस के अन्य कर्मचारियो के परिश्रम के फलस्वरूप यह स्मारिका समय पर ही पाठको के हाथ मे है वे भी धन्यवाद के पात्र है।

स्मारिका मे रही त्रुटियो के लिए मैं अपना उत्तरदायित्व स्वीकर करता हू। भविष्य मे इससे भी सुन्दर रूप मे स्मारिका प्रकाशित हो सके एतदर्थ पाठको के सुझावो का स्वागत है। मुझे आशा और विश्वास है कि पाठकगण पूव की भाति प्रस्तुत स्मारिका से लाभान्वित होगे। स्मारिका में कोई भी कमी है तो इसका दोषी मैं ही हो सकता हू भविष्य मे और सुन्दर बनाई जाने हेतु पाठको के सुझाव आमन्त्रित हैं।

राजकुमार काला

अध्यक्ष

राजस्थान जैन सभा, जयपुर द्वारा प्रतिवर्ष प्रकाशित होने वाली स्मारिका शृंखला मे अब तक पिरोई गई 13 कड़ियो के साथ यह 14 वी कड़ी पिरोते हुए हमे बरबस की स्वनामधन्य श्रद्धेय गुरुवर्य प० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ का नाम स्मरण हो आता है जिनके सत्परामर्श एव आशीर्वाद से सभा ने स्मारिका प्रकाशन द्वारा भगवान् महावीर का पावन सन्देश तथा जैनधर्म, दर्शन कला, इतिहास, साहित्य आदि से सम्बन्धित सार्दभिक सामग्री जन जन तक पहुचाने का महत्व-पूर्ण सुनिर्णय लिया और जीवन पर्यन्त जिन्होने उसके सम्पादन का भार वहन किया । वे 'शिष्यादिच्छेत् पराजयम्' इस वेदवाक्य के अनुसर्त्ता थे । अपने शिष्यो को अपने से आगे बढते देख उनका हृदय प्रसन्नता से पुलकित हो उठता था । आज भी सैकडो उपाधिधारी तथा अनुपाधिधारी उनके शिष्य अपने ढग से उनके अधूरे छोडे कार्य को आगे बढाने मे लगे हुए हैं । श्रद्धानत है हमारा मस्तक उनके पुनीत चरणो मे ।

अभी अभी भगवान् महावीर का 2500 वा निर्वाण वष हम बडी धूमधाम से मना चुके हैं और नेता तथा विद्वद्वृन्द उनकी उपलब्धियो और अनुपलब्धियो का लेखा जोखा लगाने मे सलग्न हैं। जैन के विभिन्न सम्प्रदायो मे ऐक्य स्थापन भी निर्वाण वर्ष के उद्देश्यो मे से एक था और एकता का वह उद्घोष जब तब जैन पत्रो तथा प्लेटफार्मो पर सुनाई भी पडा किन्तु इस ओर वास्तविक रूप से हम कितना आगे बढे हैं यह प्रश्न विचारणीय एव समीक्षणीय है । जैन एकता मे मुख्य बाधक हमारे बाह्य क्रियाकाण्ड, पूजास्थल, तीर्थक्षेत्र आदि हैं । इनको लेकर दिगम्बर श्वेताम्बर ही नही लडते दिगम्बर दिगम्बर भी लडते हैं मुकदमे बाजी करते हैं, एक दूसरे को नीचा दिखाने का, छीछालेदार करने का प्रयत्न करते हैं । जैनो की जो शक्ति कुछ ठोस उपलब्धियो के लिए लगना चाहिये वह ऐसे कार्यों मे लगे क्या यह हम महावीर के अनुयायियो के लिए शोभा की बात है ? सस्कृत के एक कवि ने कहा है —

न वै भिन्ना जातु वरन्तीह धर्म
न वै सुख प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः ।
न वै भिन्ना गौरव प्राप्नुवति
न वै भिन्ना प्रशम रोचते ।।

जिन लोगो मे फूट है, जो सगठन शील नही हैं उन्हे न तो इस लोक मे धर्म की प्राप्ति हो सकती है, न वे सुखी ही हो सकते हैं, न उन्हें गौरव की प्राप्ति हो सकती है और न उन्हे कभी जीवन मे शाति मिल सकती है ।

ससार मे सैकडो उदाहरण हमे ऐसे सरलता से सुलभ हो जावेंगे जो हमे सगठन का महत्त्व बता सकें। सगठित तिनके बुहारी का रूप लेकर घर के कूडे ककट को बाहर फेकने मे सफल होती है किन्तु असगठित अवस्था मे स्वय भी कूडे के ढेर के अतिरिक्त अन्य कुछ नही होनी। यही हाल रस्सी का है। छोटे छोटे तन्तु जब सगठित होकर रस्सी का रूप ले लेते है तो बडे बडे मस्त हाथी भी उससे बाधे जा सकते हैं। अलग-अलग होने की अवस्था मे उन तन्तुओ को एक बालक भी आसानी से तोड सकता है। अलग अलग लकडिया आसानी से तोडी जा सकती हैं किन्तु जब वे भारे के रूप मे हो उन्हे भुकाया भी नही जा सकता। जो सगठित ईटे मकान का निर्माण करती हैं वे ही असगठित अवस्था मे मलबा कहलाता है। महासागर का निर्माण अनन्त छोटी-छोटी बिन्दुओ से ही होता है।

वैदिक मान्यतानुसार हम जिस युग मे रह रहे है वह कलिकाल है। जैन मान्यतानुसार यह पचम दुखमा नामक काल है। नाम भेद के अतिरिक्त इनके स्वरूप मे कोई विशेष अन्तर नही है। महाभारतकार ने इस युग मे सगठन की शक्ति का विशेष महत्व बताया है। उन्होने कहा है— 'सघे शक्तिर्कलौयुगे' कलियुग मे सगठन के अतिरिक्त और कोई शक्ति नही है।

सगठन के इस महत्व को हमने नही समझा इसलिए किसी भी क्षेत्र मे आज हमारी कोई आवाज नही है। हमारे से कम सख्या वाले सिख सम्प्रदाय की जो स्थिति है क्या हम उसकी तुलना कर सकते हैं। सरकार भी उनकी आवाज को अनसुना करने का साहस नही कर सकती क्योकि उनकी आवाज के पीछे सगठन की शक्ति होती है। मुस्लिम सम्प्रदाय की भी यही बात है।

प्रसन्नता की बात यह है कि हमारी समाज के नेताओ ने इस कमी को अनुभव कर सम्पूर्ण दिगम्बर समाज का एक सगठन बनाने का निर्णय किया किन्तु खेद है विघ्नसतोषी जीवो को वह प्रिय नही हुवा। अभी तो उसका विधान बन कर भी तैयार नही हुवा और उसने विधिवत् कार्य करना भी प्रारभ नही किया कि प्रथमैव ग्रासे मक्षिकापात हुवा। पूज्य कानजी स्वामी तथा उनके भक्तो द्वारा प्रकाशित साहित्य को लेकर जो भी कुछ आज समाज मे नाटक खेला जा रहा है क्या वह हमारा सिर लज्जा से भुकाने के लिए पर्याप्त नही है। इसके पीछे वे लोग हैं जिनकी रोजी रोटी ही ऐसे झगडो को बढावा देने के पीछे चलती है। खेद की बात तो यह है कि इस झगडे मे उपाधिकारी विद्वानो और कुछ साधु सन्तो का भी हाथ है। ये वे ही लोग हैं जो समाज में प्रत्येक अच्छी बात का विरोध करते आए हैं। पू वर्णीजी को जिन्होने पीछी कमण्डलु छीनने की धमकी दी थी। ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी का भी जिन्होने विरोध किया था। ये कोई न कोई झगडा हमेशा ही समाज मे खडा रखना चाहते है जिससे कि उनका जीवन यापन होता रहे। खेद है कि कुछ मुनि लोग भी इस झगडे मे सम्मिलित होगए हैं। वे कभी इधर या उधर वक्तव्य देते रहते हैं। उन्हे भी भ्रम है कि कही भक्तगण उनका आहारदान बद न करदे। मुनियो को इस झगडे से क्या लेना। वे तो ज्ञान ध्यान तप मे ही लवलीन रहने वाले होते हैं। ये लोग भगवान् महावीर के अनुयायी और जैनधर्म तथा दर्शन के तलस्पर्शी अध्येता कहे जाते हैं। क्या भगवान् महावीर के अनुयायी ऐसा ही कार्य करते है ? क्या जैन शास्त्रो का अध्ययन हमे यह ही सिखाता है ?

जैन शास्त्रो का स्वाध्याय करने से पूर्व हमे निक्षेपो और नयो को भले प्रकार समझना चाहिये, स्याद्वाद तत्व जो कि जैनागम का प्राण है, हृदयगम करना चाहिये।

निक्षेप हमे बताता है कि शब्दो का प्रयोग कैसे होता है। नाम निक्षेप से किसी का भी नाम

महावीर हो सकता है किन्तु भाव निक्षेप से महावीर केवल वह ही कहला सकता है जिसमे महावीरत्व का गुण हो। द्रव्य निक्षेप से भू पू महावीर और होनेवाले महावीर भी महावीर कहला सकते हैं। जन्म के समय महावीर तीर्थंकर नही थे। भाव निक्षेप से तो वे तीर्थंकर तब हुए थे जब उन्होने कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् धर्म तीर्थ की प्रवर्तना की थी मगर द्रव्य निक्षेप से वे भविष्य में धर्मतीर्थ की प्रवर्तना करने वाले होने के कारण जन्म से ही तीर्थंकर कहलाते थे। स्थापना निक्षेप से महावीर की मूर्ति भी महावीर कहलाती है और तदनुरूप ही उनकी पूजा, उपासना, स्तुति, सम्मान आदि होता है। शब्दो के इस प्रयोगपरिपाटी के न समझने वालो के लिए इसमे लडाई का काफी मसाला मिल सकता है।

यह ही बात आलकारिक भाषा के सम्बन्ध मे भी लागू होती है। किसी भी मोटे आदमी को देख कर उसे प्राय हाथी कह दिया जाता है इसका अर्थ यह कदापि नही है कि वह वास्तव मे ही हाथी है। नदी पर रहने का अर्थ यह नही होता कि अमुक मनुष्य नदी के बीच पानी पर रहता है अपितु यह है कि वह नदी के किनारे रहता है। शहर मे आकाश को छूने वाले मकानो का अर्थ यह नही कि वे वास्तव मे ही आकाश को छूते हैं अपितु यह है कि शहर मे बहुत ऊचे ऊचे मकान हैं। केवल वाक्य मे प्रयुक्त शब्दो का ज्यो का त्यो अर्थ करने वालो के लिए यहा भी लडाई का काफी मसाला मिल सकता है मगर है वह अज्ञान की पराकाष्ठा ही।

इसी प्रकार शब्दो का अर्थ करते समय प्रसग का भी ध्यान रखना पडता है। रोटी खाते समय सैधव का अर्थ नमक होगा और लडाई के मैदान मे यह ही शब्द घोडे का वाचक होगा। सैंधव का अर्थ करते समय यदि प्रसग का ध्यान न रखा जाय और रोटी खाते समय खाने वाले द्वारा सैन्धव मागने पर उसे नमक न परोस उसके सामने घोडा खडा कर दिया जाय तो सोचिये कैसी विचित्र स्थिति होगी। जैन शास्त्रो के अनुसार बलि प्रथा का आरम्भ 'अज' शब्द का अर्थ नही काम मे या पुन उत्पादन मे अशक्य अनाज' न करके बकरा अर्थ करने के कारण हुवा। आपको एक सत्य किन्तु मजेदार घटना बताता हू। मैं जब सरकारी सर्विस मे था हमारे बॉस खेलो के बडे शौकीन थे। वे नित्य क्लब मे टेनिस खेलने जाया करते थे। साथ मे उनका चपडासी भी जाता था। क्लब मे बडे बडे अफसर, जागीरदार आदि आते थे। एक बार स्मृति दोष से वे अपनी कार की चाबी कार मे ही लगी छोड आए। उन्होने चपडासी से मोटर मे से मोटर की चाबी लाने को कहा तो वह दौडा दौडा गया और मोटर मे चाबी देने का हैण्डिल उठा ले गया क्योकि वह उसे भी चाबी ही कहता था। दौडा दौडा जाकर जब उसने उस बडे हैण्डिल को सम्मान पूर्वकहमारे बॉस को अन्य समुपस्थित सज्जनो के सामने दोनो हाथो मे लेकर प्रस्तुत किया तो सब चौके कि क्या बात है। फिर असल बात ज्ञात होने पर वह कहकहा लगा कि आप अनुमान कर सकते हैं। सच है प्रसगानुसार अर्थ न करने वाले इसी प्रकार हँसी के पात्र होते हैं।

घडा निश्चय नय से मिट्टी का है किन्तु घी के सयोग से घी का घडा, दूध के सयोग से दूध का घडा, मिर्ची के सयोग से मिर्ची का घडा व्यवहार नय के द्वारा कहा जाता है। निश्चय नय से घडे का अस्तित्व उतने ही प्रदेशो मे है जितने कि उस मिट्टी मे है किन्तु व्यवहार नय से घडा कमरे में है ऐसा भी कहा जाता है। ये परस्पर विरोधी दिखने वाली बातें एक नय से ठीक हैं तो दूसरी नय से ठीक नही भी हैं। शास्त्रकारो ने नय का एक लक्षण 'वक्तुरभिप्रायो नय' ऐसा भी किया है।

अत शास्त्रो का पठन करते समय यह जानना भी आवश्यक है कि अमुक बात से ग्रथकार का वास्तविक अभिप्राय क्या है ? कौनसी नय का आश्रय लेकर उन्होने वह बात कही है । साथ मे यह भी जानने की बात है कि शास्त्रकार जिस नय का आश्रय लेकर कोई बात कहते हैं तो इसका अभिप्राय यह नहीं है कि दूसरी नय की अपेक्षा जो बात ठीक है वह उसका खण्डन करते हैं । हाँ वे उसे गौरा अवश्य कर जाते है । यही जैन शास्त्रकारो के कथन की विशेषता है कि जहा एक दृष्टिकोण से वे किसी बात का खण्डन करते है तो दूसरे दृष्टिकोण से उसे स्वीकार भी कर लेते हैं । ऐसा करने पर ही सर्वधमसमभाव अथवा सब धर्मों का समन्वय सभव है । आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रथ मे क्या ही अच्छी बात कही है—

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिमन्थाननेत्रमिव गोपी ॥

अर्थात जब जैन शास्त्रकार किसी एक नय से पदार्थ या वस्तु तत्व का वर्णन करते हैं तो दही मथने वाली गोपी के हाथो की तरह वह नय प्रधान हो जाती है और दूसरी नय गौण। वह खण्डित नही होती उसका अस्तित्व बना रहता है ।

आज समाज मे जो निमित्त उपादान अथवा निश्चय व्यवहार के झगडे समाज का वातावरण गदा कर रहे हैं उसके पीछे कारण यही है कि हम नय विवक्षा को भूल कर शास्त्रों का अर्थ करने लगे है ।

धर्मतीर्थ का प्रवतन निश्चय और व्यवहार दोनो नयो को जानने वाले ही कर सकते हैं । केवल एक नय का आश्रय लेकर मोक्षमाग का प्रवतन नही किया जा सकता। उनही आचार्य ने स्पष्ट कहा है कि 'व्यवहार निश्चयज्ञा प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम्' । प० आशाधरजी ने भी अपने अनगारधर्मामृत मे यही बात कही है –

जइ जिणमय पवज्जह ता मा ववहार णिच्छए मुअह ।
एकेण बिना छिज्जइ, तित्थ अण्णेण पुण तच्च ॥

यदि तू जिनमत मे अपनी प्रवृत्ति करना चाहता है तो व्यवहार और निश्चय को मत छोड क्योंकि एक के भी अभाव मे धर्मतीर्थ का अभाव ह जायगा ।

भगवान् महावीर ने 'भी' के प्रयोग के साथ साथ 'ही' के प्रयोग का भी विधान किया है । सापेक्ष वाक्यो मे 'ही' उच्चरित नही होने पर भी वक्ता के अभिप्राय मे छुपी रहती है ।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि हम वक्ता के कथन का अपने मनोनुकूल अर्थ करना छोडें । हम उस अपेक्षा को समझने का प्रयत्न करें जिस अपेक्षा से वक्ता ने वह बात कही है । इसे समझ लेने पर अधिकाश झगडे स्वत ही समाप्त हो जावेंगे । और तब धमतत्व हमारी आत्मा मे उतरेगा । जैनत्व का अश हमारे मे आवेगा । तब हम नाम निक्षेप के जैनी न रह कर भाव निक्षेप से जैनी बनेगे । यदि हमने पूर्वाग्रह छोडकर निरपक्ष दृष्टि से शास्त्र स्वाध्याय किया तो सहज ही हमारी समझ मे यह बात आजायगी कि किस दृष्टि से पुण्य हेय और किस दृष्टि से उपादेय है । उपादान का क्या कार्य है और निमित्त का क्या ? अपने अपने स्थान पर दोनो का ही महत्व है ।

धर्मात्माओ के बगैर धर्म की सत्ता नही रह सकती । धर्म का एक लक्षण यह भी है कि

दूसरो की मान्यताओ को आघात न पहुचायें । 'मजहब नही सिखाता आपस मे बैर करना' । धर्म दूसरो की निन्दा करना नही सिखाता, विरोधियो को नष्ट करना नही सिखाता, वह तो सबके प्रति समभाव की शिक्षा देता है । समता का प्रदाता ही सच्चा सम्प्रदाय कहलाता है । लेकिन हमारा मार्ग उलटा है । हम धर्म के सम्मुख न होकर उससे विमुख हो रहे हैं । प० आशाधरजी ने ठीक ही कहा था—'पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रै जठरैश्च तपोधनै । शासन जिनचन्द्रस्य निर्मल मलिनीकृतम् ।।'

कानजी स्वामी वर्तमान काल की उन विभूतियो में से हैं जिन्होने हजारो विपथग मियो को सत्पथ के माग पर लगाया है । जो कार्य हमारे नग्न दिगम्बर साधु नही कर पाये उस कार्य को उन्होने कर दिखाया । समाज पर उनका यह उपकार कम नही है । उनकी कुछ मान्यताओ मे किसी का भी मतभेद होना सभव है, यह भी सभव है कि वे स्वय भी कही गलती पर हो तो भी समय का तकाजा है कि वे मतभेद मनोभेद की हद तक न पहुचे । सगठित समाज आज की महती आवश्यकता है । हमारा दोनो ही पक्षों से नम्र निवेदन है कि वे कोई ऐसा कार्य अपनी ओर से न करें जिससे समाज के सगठित होने मे बाधा उपस्थित हो । पहले ही सगठन के कार्य मे कई कठिनाइया हैं । उनमे वृद्धि कर 'हम करेला और नीम चढ़ा' वाली उक्ति चरितार्थ न करें ।

स्मारिका के प्रकाशन तथा सम्पादन के सम्बन्ध मे राजस्थान जैन सभा प्रतिवर्ष नए सिरे से निश्चय करती है । वह निश्चय इतना विलम्ब से होता है कि विद्वान् लेखको से नई कृतिया प्राप्त करना बडा कष्टसाध्य काय होता है । यह तो हमारे लेखको और कवियो का सौजन्य है कि वे हमारा एक पत्र पाने पर ही हमे अपनी रचनाए भिजवा देते हैं । हमे उन्हे बार बार स्मृति पत्र नही भेजना पडता । यदि यह सहयोग लेखको और कवियो की ओर से हमे नही मिले तो निश्चय ही स्मारिका समय पर प्रकाशित होकर पाठको के हाथो न पहुँचे । एतदर्थ हम हमारे लेखको और कवियो के हृदय के अन्तर्तम से आभारी हैं । यदि प्रकाशन एव सम्पादन के सम्बन्ध मे स्थायी रूप से न सही जयन्ती से कम से कम 6 मास पूव भी निर्णय ले लिया जाय तो इससे भी अच्छे रूप मे स्मारिका का प्रकाशन हो सकता है । आशा है भविष्य में सभा इस सम्बन्ध मे कुछ भी निश्चय करेगो ।

इस वर्ष प्रसिद्ध विचारक और लेखक श्री यशपालजी का स्वर्गवास देश के लिए बडी दु खद घटना है । वे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के व्यक्ति थे और देश तथा विदेशो मे अपनी रचनाओ पर कई सम्मान तथा पुरस्कार उन्होने प्राप्त किये थे । ऐसी महान् आत्मा का वियोग राष्ट्र की क्षति है । दूसरे वयोवृद्ध लेखक श्री दौलतराम 'मित्र' भानपुरा थे जो हम से बिछुड गये । हम दोनो आत्माओ के शाति एव सद्गतिलाभ हेतु कामना करते है ।

स्मारिका का यह 14 वा अक जैसा भी हम से बन सवर सका आपके हाथो मे है । इस पर आपकी निष्पक्ष सम्मति का सर्वदा स्वागत है ।

जैसा कि प्रतिवर्ष होता है इस वष भी बहुत सी रचनाए इस या उस कारण से स्मारिका मे अपना स्थान ग्रहण नही कर पाई हैं । वे खेदपूर्वक उनके लेखको को लौटाई जा रही है । प्रसिद्ध इतिहास वेत्ता श्री दिगम्बरदासजी एडवोकेट की एक वृहत्काय रचना भी इनमे है जिसमे उन्होने 24 तीर्थंकरो की ऐतिहासिकता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है । रचना इतनी अधिक लम्बी थी

कि स्मारिका के कम से कम 60 पृष्ठो मे ग्राती । हम उसके कुछ ग्र शो का प्रकाशन करना चाहते थे मगर ग्रादरणीय लेखक को यह स्वीकार नही था । वे इस सम्बन्ध मे सभा को ग्रपनी ग्रोर से कुछ ग्रार्थिक सहयोग देने को भी प्रस्तुत थे । किन्तु हमारी ग्रोर सभा की कुछ मजबूरिया, कुछ कठिनाइया थी । हमे वास्तव मे खेद है कि उनका ग्राग्रह स्वीकार करने मे ग्रसमर्थ रहे । विनम्रता पूर्वक हम उनसे क्षमायाचना करते हैं । स्मारिका का कलेवर भी परिस्थितियो वश छोटा करना पड़ा है ।

स्मारिका सम्पादन मे मेरे सहयोगी श्री पदमचद साह का जो सहयोग ग्रौर परामर्श समय-समय पर मुझे मिला उसके लिए मैं उनका धन्यवाद करता हूँ । पत्रकारिता पर उन्होने उपाधि प्राप्त की है तथा इस क्षेत्र मे उनका सक्रिय ग्रनुभव भी है । मेरे ग्रन्य सम्पादन सहयोगियो का भी मुझे पूरा पूरा सहयोग प्राप्त हुवा है उन सबका भी मैं ग्राभारी हूँ ।

राजस्थान जैन सभा प्रतिवर्ष मुझे स्मारिका के सम्पादन का भार प्रदान कर जनता के सम्मुख ग्राने का जो ग्रवसर प्रदान करती है एतदर्थ मैं कार्यकारिणी का ग्राभार मानता हू । विशेष रूप से श्री राजकुमारजी काला ग्रध्यक्ष, श्री बाबूलालजी सेठी मत्री एव ग्रन्य बन्धुग्रो ने जो सहयोग मुझे इस वर्ष प्रदान किया उसका धन्यवाद करने हेतु मैं ग्रपने पास शब्दो का ग्रभाव पाता हूँ ।

मे० मून लाइट प्रिंटर्स के मालिक तथा व्यवस्थापक श्री महावीरप्रसादजी जैन तथा वहा के कर्मचारियो ने भी स्मारिका समय पर निकालने हेतु जो श्रम किया उससे मैं परिचित हूँ । उसे ग्रनदेखा नही किया जा सकता । से सब ही धन्यवाद के पात्र हैं ।

स्मारिका के सबध मे एक बात ग्रौर । हमारे कुछ समीक्षक इसे शोध ग्र थ के रूप में ही देखना चाहते हैं ग्रत उससे नीचे स्तर की रचनाए उन्हे पसन्द नही ग्राती । स्मारिका प्रकाशन का उद्देश्य जैनधर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास, पुरातत्व ग्रादि का प्रचार प्रसार करना है केवल शोध खोज तक ग्रपने को सीमित रखना नही । समीक्षक हमारे इस उद्देश्य को ग्रवश्य ही ध्यान मे रखे क्योकि उन्हे ऐसी रचनाए भी इसमे मिल सकती हैं जो उस स्तर की न होकर भी स्मारिका के उद्देश्य की पूर्ति मे सक्षम हैं ।

सम्पादन मे बन पडी, त्रुटियो, भूलो तथा ग्रसावधानियो के लिए सभी सम्बन्धित सज्जनो से क्षमायाचना पूर्वक—

भवरलाल पोल्याका
प्रधान सम्पादक

मुनीश्री अजीत सागरजी महाराज के करकमलो मे सभा द्वारा प्रकाशित महावीर जयन्ती स्मारिका की प्रति भेट करते हुए सभा के अध्यक्ष श्री राजकुमार काला

महावीर जयन्ती समारोह 1976

स्मारिका के प्रधान सम्पादक प भवरलाल पोल्याका समारोह के अध्यक्ष श्री गुलाबचन्द कासलीवाल को स्मारिका की प्रति भेट करते हुए

प्रकाशकीय

यदि जयपुर की सक्रिय सामाजिक सस्थाओ की गणना की जाय तो उसमे सर्वप्रथम जो नाम आवेगा वह है–राजस्थान जैन सभा। यह अपने जीवन के 25 वष पूर्ण कर रही है। इस सुदीर्घ काल में उसने समाज हित के जो कार्य अब तक किये है उनका लेखा जोखा आपको स्मारिका के इन ही पृष्ठो मे अन्यत्र पढने को मिलेगा।

जैन साहित्य का प्रचार प्रसार भी सभा की प्रमुख गतिविधियो मे से एक है। अन्य ट्रैक्टो और पुस्तिकाओ के प्रकाशन के अतिरिक्त भ० महावीर के उपदेशो के प्रचार-प्रसार तथा जैन दशन, साहित्य, इतिहास, सस्कृति, कला आदि से सम्बन्धित महत्वपूर्ण जानकारी जैनाजैन जनता को उपलब्ध कराने हेतु सन् 1962 मे स्व प चैनसुखदासजी की सत्प्रेरणा और परामर्श मे भ० महावीर की जयन्ती के पुण्यावसर पर एक स्मारिका के प्रकाशन का निर्णय लिया था जिसने नियमित प्रकाशन का रूप ले लिया है।

अब तक स्मारिका के 13 अक प्रकाशित हो चुके है। 14 वा अक पाठको के हाथ मे है। प० चैनमुखदासजी के स्वर्ग प्रयाण के पश्चात् इसका सम्पादन प भवरलालजी पोल्याका जैन दर्शनाचार्य करते आरहे हैं। आप इन दिनो गत कुछ वर्षो से अस्वस्थ रहते हैं फिर भी बिना किसी व्यवधान के गत वर्ष तक आठ अक आपने पाठको तक पहुचाए हैं और उनके सम्पादन काल का यह 9 वा अक पाठको के हाथ मे है। प्रतिवर्ष जो सैकडो पत्र विद्वान् पाठको के हमे प्राप्त होते है उनसे स्पष्ट है कि उनके सम्पादन काल मे स्मारिका का पूर्व स्तर न केवल कायम रहा है अपितु उसमे कुछ वृद्धि ही हुई है। एतदर्थ मैं सभा की ओर से श्री पोल्याकाजी का अत्यन्त आभार प्रकट करता हू।

इसके अतिरिक्त वे लेखकगण भी हमारे अत्यधिक साधुवाद के पात्र हैं जिन्होने अपनी रचनाए स्मारिका मे प्रकाशनार्थ भेजी। स्थानाभाव से कुछ रचनाए स्मारिका मे स्थान नही पा सकी इसका खेद है।

बिना अर्थ के किसी भी प्रकार का प्रकाशन कार्य सम्भव नही है। स्मारिका की अर्थ व्यवस्था सभा द्वारा विज्ञापनो के माध्यम से की जाती है। एतदर्थ एक समिति का निर्माण किया जाता है। इस समिति के सदस्य समाज के अन्य प्रमुख कर्मठ कार्यकर्ताओ के सहयोग से स्थान स्थान पर सम्पर्क कर विज्ञापन प्राप्त करते है। इस वर्ष इस कार्य का सयोजन श्री रमेशचन्दजी गगवाल एव

श्री सुदेशभूषणजी सोगाणी, मुन्नीलालजी जैन, कैलाशचन्दजी वैद, कपूरचदजी पाटनी, महेशजी काला, प्रकाशजी ठोलिया, सुमेरकुमारजी सोनी ने किया है । अर्थ सग्रह हेतु सर्वश्री सुरज्ञानीचदजी न्यायतीर्थ, ताराचन्दजी शाह, प्रकाशचदजी ठोलिया, ज्ञानचदजी भांझरी, बलभद्रजी जैन, महेशजी काला, सुभाषजी चौधरी, प्रवीणचन्दजी जैन, देवकुमारजी साह कैलाशचदजी सोगानी, चिरजीलालजी लुहाडिया, सुमेरचन्दजी जैन, सूरजमलजी दलाल आदि न अथक परिश्रम करके जो सहयोग दिया उनके प्रति भी आभार प्रकट किये बिना नही रह सकता ।

विज्ञापनदाताओ के सहयोग का ही यह फल है कि लागत से भी बहुत कम मूल्य पर स्मारिका पाठको के हाथो मे पहुचती है । यह पुण्य कार्य विज्ञापनदाताओ के सहयोग के बिना सभव नही है । इस वष जिन-जिन सस्थानो ने अपने विज्ञापन प्रदान कर हमे सहयोग प्रदान किया है उनका हम हृदय से आभार मानते हैं तथा भविष्य मे भी उनसे इसी प्रकार के सहयोग की आशा करते हैं ।

स्मारिका का प्रस्तुत अक कैसा है यह निर्णय करना हमारा काम नही है । पाठको से हमारा अनुरोध है कि इसमे रहने वाली त्रुटियो की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते रहे जिससे कि तदनुरूप उनमे सुधार होता रहे । इस वर्ष की स्मारिका पर आपका अभिमत साग्रह आमत्रित है ।

स्मारिका का मुद्रण कार्य मूनलाइट प्रिटर्स जयपुर ने किया है । स्मारिका समय पर उनके सहयोग के बिना पहुचना सभव नही था । एतदर्थ सस्थान के मालिक श्री महावीर प्रसाद जैन तथा उनके सभी सहयोगी धन्यवाद के पात्र है ।

बाबूलाल सेठी
मत्री
राजस्थान जन सभा, जयपुर

महावीर जयंती समारोह १९७७

		सयोजक	सह सयोजक
1	निबन्ध प्रतियोगिता	श्री प्रकाशचन्द जैन	श्री बुद्धिप्रकाश भास्कर
2	सगीत सध्या	,, बलभद्र जैन	,, जवाहरलाल जैन
3.	भाषण प्रतियोगिता	,, प्रकाशचन्द जैन	, कैलाशचन्द गोधा
4	प्रभात फेरी	, प्रकाशचन्द ठोलिया	,, कैलाशचन्द सोगानी
5	महिला सम्मेलन	कुमारी प्रीति जैन	श्रीमती मोहना देवी जैन
6	जुलूस	श्री हीराचन्द वैद	श्री प्रकाशचन्द ठोलिया
7	सास्कृतिक समारोह	, तिलकराज जैन	,, कैलाशचन्द गोधा
8	अर्थ सग्रह	,, सुरज्ञानीचद जैन	,, ताराचन्द साह
9	प्रचार	,, महेश काला	,, ज्ञान प्रकाश वक्षी
10	पडाल व्यवस्था	,, रामचरण जैन	,, लल्लूलाल जैन

आभार प्रदर्शन

भगवान महावीर के पावन सदेश तथा जैन संस्कृति, साहित्य, कला आदि से सम्बन्धित महत्वपूर्ण जानकारी जैन तथा जैनेतर जनता तक पहुंचाने मे राजस्थान जैन सभा, जयपुर द्वारा महावीर जयन्ती के पावन पर्व पर प्रतिवर्ष प्रकाशित होने वाली इस स्मारिका का स्थानीय ही नही अपितु सारे भारत मे अपना विशिष्ट स्थान है। स्मारिका की जो गरिमा आज हमारे सामने है, इसका वर्तमान मे श्रेय प० भवरलालजी पोल्याका जैनदर्शनाचार्य को है।

यद्यपि आप अस्वस्थ है और कडी महनत आपके स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव डालती है फिर भी जिनवाणी की सेवा की लग्न होने के नाते आप इस स्मारिका के लिए अथक बौद्धिक एव शारीरिक श्रम कर रहे है। इस कार्य के लिए समाज आपका सदैव ऋणी रहेगा।

किसी भी प्रकार के प्रकाशन कार्य के लिए वित्त' एक अनिवार्य साधन है। इसके बिना यह कार्य सम्भव नही लगता सभा यह कार्य विज्ञापनो के माध्यम से करती है। सभा ने विज्ञापन सग्रह का कार्य इस वर्ष भी मेरे कधो पर डाला। मैने इस उत्तरदायित्व को निभाने का शक्तिभर प्रयत्न किया है और उसका फल आपके सामने है।

विज्ञापन समिति के सदस्यो के अतिरिक्त मैं उन सभी विज्ञापनदाताओ का व्यक्तिश आभारी हू जिन्होने मुझे उत्साहित कर इस प्रकाशन को सफल बनाने मे सहयोग दिया है। इसके साथ ही मैं सभा के अध्यक्ष श्री राजकुमारजी काला एव सभा के मत्री श्री बाबूलालजी सेठी व मेरे अन्य साथियो जिनके नाम का यहाँ उल्लेख नही है–का भी अत्यन्त आभारी हू जिनके अथक प्रयास और सहयोग से मैं यह कार्य कर सका। मेरे इस कार्य मे मुझ से यदि कोई भूल हो गई हो तो आप उदार हृदय से मुझे क्षमाकर अनुगृहीत करेगे।

अन्त मे सभा के इस कार्य को भविष्य मे भी आपके उत्तम सहयोग की कामना रखते हुए सभी का हृदय से धन्यवाद अर्पित करता हूं।

अभिवादन सहित,

रमेश गगवाल
सयोजक
विज्ञापन समिति

राजस्थान जैन सभा, जयपुर
एक संक्षिप्त परिचय

समाज को कुरीतियो व कुरूढियो से मुक्त कराने, समाज को एक सूत्र मे बाधने, समाज की साहित्यिक, सास्कृतिक व आर्थिक उन्नति करने एव स्वस्थ धार्मिक वातावरण बनाने के लक्ष्य मे 25 वर्ष पूर्व विभिन्न सस्थाओ के एकीकरण द्वारा राजस्थान जैन सभा की स्थापना की गई। सभा का स्वय का एक सविधान है एव यह "राजस्थान सोसायटीज एक्ट" के अन्तर्गत पजीकृत है।

विशुद्ध धार्मिक एव सैद्धान्तिक मान्यताओ को प्रधानता देकर वास्तविक धर्म का मर्म समझाते हुए जैन समाज की साहित्यिक, सांस्कृतिक, चारित्रिक, सामाजिक एव आर्थिक उन्नति हेतु आवश्यक कार्य करना ही सभा का एक मात्र लक्ष्य है।

जनमानस को धर्म एव कर्तव्य की ओर आकृष्ट करने की दृष्टि से दशलक्षण पर्व, क्षमापनसमारोह, महावीर जयन्ती समारोह तथा निर्वाणोत्सव पर विशेष समारोह एव समय-समय पर व्याख्यानो-प्रवचनो के आयोजन एव साहित्य प्रकाशन सभा की मुख्य गतिविधिया रही हैं। स्मारिका का नियमित प्रकाशन — साहित्य प्रकाशन का एक मुख्य अग रहा है।

गत वर्ष मे किये गये कार्यों का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

महावीर जयन्ती समारोह

समस्त जैन समाज के सहयोग से यह समारोह 9 अप्रैल 1976 से 12 अप्रैल 1976 तक चतुर्दिवसीय कार्यक्रम के रूप मे मनाया गया। 9 अप्रैल 76 को प्रात महावीर स्कूल के प्रागण मे एक निबन्ध प्रतियोगिता "जनहित मे भगवान् महावीर' विषय पर आयोजित की गई। रात्रि के 7 30 बजे श्री दिगम्बर जैन मन्दिर बड़ा दीवान जी मे 'जैन दर्शन का कर्मसिद्धान्त मनुष्य को पुरुषार्थी बनाता है" विषय पर वादविवाद प्रतियोगिता का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता श्री श्रीरामजी गोटेवाला, सदस्य राजस्थान विधान सभा ने की। 10 अप्रैल 76 को आत्मानन्द सभा भवन मे प्रो० प्रवीणचन्दजी जैन की अध्यक्षता मे एक विचारगोष्ठी "आदर्श समाज रचना मे जैन

सिद्धान्त की उपयुक्तता" विषय पर आयोजित की गई जिसमे सर्वश्री नवीनकुमारजी बज, प० मिलाप चन्दजी शास्त्री, प० भँवरलालजी न्यायतीर्थ, श्रीमती स्नेहलता बज, प० भँवरलालजी पोल्याका जैन-दर्शनाचार्य, श्री अनूपचन्दजी न्यायतीर्थ, प० बशीधरजी शास्त्री ने अपने-अपने सारगर्भित विचार प्रकट किये। 11 अप्रेल 1976 को प्रात प्रभात फेरी निकाली गई जिसमे विभिन्न भजन मडलियो ने पूर्ण सहयोग दिया। रात्रि के 8 बजे लाल भवन मे रानी लक्ष्मीकुमारी चूडावत सासदा की अध्यक्षता मे एक महिला सम्मेलन का आयोजन किया जिसमे साध्वीश्री सिरहकुँवरजी व साध्वीश्री कानकवरजी का भी सान्निध्य प्राप्त हुआ। श्रीमती कमला बेनीवाल जनसम्पर्क मन्त्री ने विशिष्ट अतिथि के रूप मे सम्मेलन को सम्बोधित किया। दिनाक 12 अप्रेल 1976 को प्रात 6 30 बजे महावीर पार्क से एक विशाल जुलूस प्रारम्भ होकर नगर के प्रमुख बाजारो मे होता हुआ रामलीला मैदान मे पहुच कर एक सार्वजनिक सभा मे परिवर्तित हो गया। महावीर स्कूल द्वारा प्रस्तुत "सोलह स्वप्नो की झाकी' एव आदश जैन मिशन द्वारा प्रस्तुत "जन्म कल्याण महोत्सव की झाकी' जुलूस के विशेष आकर्षण रहे। एक ही पोशाक मे महिलाओ के मण्डल भी विशेष आकर्षक थे। जुलूस मे लगभग पच्चीस हजार से अधिक नर नारियो ने भाग लिया। जौहरी बाजार मे श्री बुद्धिप्रकाशजी भास्कर ने बडे रोचक ढग से जुलूस के दृश्य का आँखो देखा हाल प्रसारित किया। राजस्थान के वित्तमन्त्री श्री चदनमलजी वैद ने समस्त जैन समाज द्वारा मान्य पचरगा झण्डा फहरा कर झण्डारोहण किया। विशाल जनसमुदाय को सम्बोधित करते हुये श्री वैद ने कहा कि निर्वाण वर्ष एव जयन्ती के अवसर पर किये गये कार्यों का सिहावलोकन किया जाना चाहिये। श्री भँवरलालजी पोल्याका ने सभी अतिथियो को स्मारिका की प्रति भेट की। इसी अवसर पर भारत जैन महामण्डल एव वीर निर्वाण भारती द्वारा सम्मानित महानुभावो का भी अभिनन्दन किया गया। सर्वश्री मुनि जयानन्दजी व सोहनलालजी के प्रवचन हुए। मुनिश्री अजीतसागरजी ने अपने प्रवचन मे कहा कि रागद्वेष को त्याग कर वीतरागता की ओर अग्रसर होवे यही भगवान् महावीर का प्रमुख उपदेश है और तभी हमारा जयती मनाना सार्थक होगा। सासद श्री नवलकिशोर शर्मा प्रसिद्ध सर्वोदयी साहित्यकार श्री यशपाल जैन एव समारोह के अध्यक्ष श्री गुलाबचन्दजी कासलीवाल ने भगवान् महावीर के सिद्धान्तो पर प्रकाश डाला। रात्रि के 8 बजे श्री निहालचन्दजी जैन प्रशासक, नगर परिषद की अध्यक्षता मे एक सास्कृतिक कार्यक्रम रामलीला मैदान मे आयोजित किया गया जिसमे विभिन्न शिक्षण सस्थान व भजन मण्डलियो ने बडे आकर्षक कार्यक्रम प्रस्तुत किये। श्री हीराभाई एम० चौधरी, मुख्य अतिथि ने इस अवसर पर विजेताओ को पुरस्कार वितरित किये।

दश लक्षण पर्व समारोह

भौतिकता मे लिप्त मानव को आध्यात्मिकता का रसास्वादन कराने हेतु इस वर्ष भी 29 अगस्त 76 से 7 सितम्बर 76 तक दशलक्षण पर्व समारोह श्री दिगम्बर जैन मन्दिर बडा दीवानजी मे मनाया गया जिसमे प० जवाहरलालजी जैन विदिशा का दशधर्मों पर मार्मिक प्रवचन तथा सर्वश्री प० राजकिशोरजी जैन, चिरजीलालजी जैन, डा० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल, जसवन्त सिहजी साघी डा० एन० के० सिघी तेजकरणजी डडिया, प्रवीणचन्दजी छाबडा, निहालचन्दजी जैन ताराचन्दजी साह, कपूरचन्दजी पाटनी, रामचन्द्रजी कासलीवाल, श्रीमती चन्द्रकान्ता डडिया तथा कुमारी प्रीति जैन ने विभिन्न विषयों पर अपने विचार प्रकट किये। जैन दर्शन विद्यालय, महिला

जागृति सघ एव महावीर दिगम्बर जैन उच्च माध्यमिक विद्यालय ने इस समारोह के अवसर पर सवाद व भजन प्रस्तुत किये। श्री हरिराम आचार्य द्वारा प्रस्तुत काव्य पाठ विशेष आकर्षक रहा।

क्षमापन पव समारोह

सदा की भाति इस वष भी दशलक्षण पर्व समारोह की समाप्ति पर आसोज बुदि 2 दिनांक 10 सितम्बर 1976 को प्रात काल की बेला मे आपसी मतभेद भुलाने एव विश्व प्रेम की भावना को जागृत करने के लिए सामूहिक क्षमापन पव समारोह रामलीला मैदान मे मनाया गया जिसमे मुनिश्री सुव्रतसागरजी महाराज, श्री मोहन छागाणी, शिक्षा एव कृषि मन्त्री, राजस्थान सरकार ने विशिष्ट अतिथि के रूप मे प० मिलापचन्दजी शास्त्री, विधायक श्री फूलचन्दजी जैन एव श्री श्रीरामजी गोटेवाला, श्रीमती चन्द्रकान्ता डडिया, ने क्षमा के वास्तविक स्वरूप व महत्ता पर अपने विचार प्रकट किये।

महावीर निर्वाणोत्सव

भगवान् महावीर के उपदशो के प्रचार व प्रसार के उद्देश्य से इस समारोह का आयोजन निर्वाण दिवस की साध्य बेला मे 23-10-76 को बडे दीवानजी के मन्दिर मे श्री सुभद्रकुमारजी पाटनी की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ। सवश्री डा० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल, अनूपचन्दजी न्यायतीर्थ, मोहनलालजी रावका, कपूरचन्दजी पाटनी, ज्ञानचन्दजी बिल्टी वाले, प० हुकमचन्दजी भारिल्ल आदि ने महावीर भगवान् के उपदेशो व सिद्धा तो पर अपने विचार प्रकट किये। श्री राजमलजी बेगस्या द्वारा काव्यपाठ व महिला जागृति सघ द्वारा सवाद प्रस्तुत किये गये।

2500वां निर्वाण महोत्सव समापन समारोह

आल इण्डिया दिगम्बर जैन भगवान् महावीर 2500वा निर्वाण महोत्सव सोसाइटी द्वारा आयोजित समापन समारोह मे सम्मेलन के अतिथियो के सम्मान मे स्वल्पाहार का आयोजन किया गया एव सभी कार्यो मे कधे से कधा मिलाकर सहयोग दिया गया।

जैन मेला :

गत वर्ष के सामूहिक स्नेह मिलन समारोह की सफलता से प्रभावित होकर इस वर्ष इसे और वृहद् "जैन मेले" के रूप मे 14 नवम्बर 1976 को श्री महावीर दिगम्बर जैन उच्च माध्यमिक विद्यालय, सी-स्कीम के प्रागण मे मनाया गया। इस अवसर पर कला प्रदर्शिनी आयोजित की गई जिसका उद्घाटन श्री सूरजमलजी वैद द्वारा किया गया। समाज के सभी आयु के सदस्यो के लिए विभिन्न खेल-कूद प्रतियोगिताओ का आयोजन किया गया जिसमे प्रौढ महिलाए व पुरुषो की सगीत कुर्सी दौड, एव बच्चो की फेन्सी ड्रेस शो का कार्यक्रम विशेष आकर्षक रहे। सभी विजेताओ को श्री माणकचन्दजी सौगाणी, विधायक द्वारा पारितोषिक प्रदान किये गये। इस अवसर पर समाज की विभिन्न सहयोगी सस्थाओ ने भी अपनी-अपनी स्टालो द्वारा लागत मूल्य पर पेय व भोज्य सामग्री उपलब्ध कराई। हाथी, घोडे एव भूले आदि मनोरजन के साधन भी लागत मूल्य पर उपलब्ध कराये गये। शाम को सभी ने अपने-अपने मिठाई रहित भोजन से सहभोज किया।

पुरावशेष तथा बहुमूल्य कलाकृति अधिनियम

भारत सरकार द्वारा 5 अप्रेल 76 से पुरावशेष तथा बहुमूल्य कलाकृति अधिनियम को लागू करने के फलस्वरूप यह आवश्यक हो गया कि जिन व्यक्तियो के अधिकार व कब्जे मे मूर्तियाँ, पेन्टिग्स, एन्ग्रेविग्स अधिनियम मे उल्लेखित सामग्री हो वे उनका पजीयन करावें। राजस्थान के विभिन्न ग्रामो व कस्बो के मन्दिरो के सम्बन्धित महानुभावो को इसकी जानकारी हेतु सभा द्वारा पत्र भिजवाये गये तथा उनसे निवेदन किया गया कि वे सम्बन्धित अधिकारियो को उक्त नियमो के प्राव-धानो को मन्दिर पर लागू न करने के लिये तार भेजें। सभा ने इस सम्बन्ध मे भारत सरकार से आवश्यक पत्र व्यवहार किया। आवेदन पत्रो के फार्म भी मुद्रित करा कर उपलब्ध कराये गये व वाछित जानकारी समाज को समय-समय पर दी गई।

अमेरिकी जैन अतिथियो का अभिनन्दन

अमेरिकी जैन अतिथियो के 14 दिसम्बर 76 को जयपुर आगमन पर उनका अभिनन्दन किया गया तथा उन्हे स्मृति के रूप मे एक 'विजय स्तम्भ" तथा स्मारिका की प्रतियाँ भेंट की गई।

साहित्य प्रसार

स्व० प० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ की प्रेरणा से सभा ने सन् 1962 से भगवान महावीर की पावन जयन्ती के अवसर पर एक स्मारिका का प्रकाशन आरम्भ किया और वह सभा का एक नियमित प्रकाशन बन गया। इसमे जैन दर्शन, इतिहास, सस्कृति और साहित्य पर अधिकृत विद्वानो के गवेषणापूर्ण लेख व कविताए रहती है। प्रारम्भ मे स्मारिका का सम्पादन स्व० पडित साहब ने स्वय किया और प० श्री के स्वगवास के पश्चात् इस गुरुतर काय का दायित्व श्री भँवरलालजी पोल्याका द्वारा उठाया जा रहा है।

इसके अतिरिक्त समय समय पर लघु पुस्तको के प्रकाशन का काय भी सभा ने किया जिसमे 108 मुनि श्री विद्यानन्दजी एव डा० हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित पुस्तको का एव भजनावली आदि का प्रकाशन विशेष उल्लेखनीय हैं।

सामाजिक गतिविधियां

जैन सभा की गतिविधियां केवल समारोह आयोजन एव साहित्य प्रचार तक ही सीमित नही है अपितु जब भी सामाजिक क्षेत्र मे कोई समस्या उत्पन्न हुई सभा ने आगे आकर यथासम्भव समाधान करने का प्रयत्न किया है। राजस्थान विधानसभा मे प्रस्तुत नग्न विरोधी बिल को वापिस कराने तथा राजस्थान ट्रस्ट एक्ट मे आवश्यक सशोधन कराने राज्य सरकार से अनन्त चतुर्दशी एव सवत्सरी का ऐच्छिक अवकाश स्वीकृत कराने सागानेर मे जमीन मे प्राप्त जैन मूर्तियो को समाज के सुपुर्द कराने तथा आयकर मे हुए सशोधन से समाज को अवगत कराने जैसे महत्वपूर्ण कार्य किये है।

समाज मे व्याप्त कुरुढियो और कुरीतियो के विरुद्ध भी यह सभा सदैव जागरूक रही है।

समाज मे सगाई एव विवाह आदि के अवसर पर दहेज की माग, ठहराव आदि को सदैव बुरी दृष्टि से देखती रही हैं और इन बुराइयो को दूर करने मे सदैव प्रयत्नशील है।

सभा की आर्थिक स्थिति सुदृढ नही है इस कारण चाहते हुये भी सभा अपने लक्ष्यो को पूर्ण करने मे असमर्थ रही है।

सभा द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले विभिन्न आयोजनो व कार्यक्रमो मे जहा कार्यकारिणी समिति के सभी सदस्यो का सक्रिय सहयोग रहा है वहाँ सर्वश्री हीराचन्द वैद, तिलकराज जैन, निहालचद जैन, राजरूप टाक, हीराभाई एम० चौधरी, प० मिलापचन्दजी शास्त्री, केवलचन्दजी ठोलिया, जसवन्तसिह साधी, डा० हुकमचन्द भारिल्ल, पन्नालाल बाठिया, मूलचन्द पाटनी, रमेशचन्द पापडीवाल, प्रकाशचन्द जैन, तेजकरण डडिया, माणिक्यचन्द जैन, सूरजमल वैद, नवीनकुमार बज, सौभाग्यमल रावका, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल विनयकुमार पापडीवाल, देशभूषण सौगाणी, रामचरण जैन, अशोक लुहाडिया, देवकुमार साह, कैलाशचन्द सौगानी, बलभद्र जैन आदि के सहयोग को भी भुलाया नही जा सकता। श्री वीर सेवक मण्डल और अन्य सभी शिक्षण सस्थाओ, भजन मण्डलियो आदि का भी सभी कार्यक्रमो मे पूर्ण रचनात्मक सहयोग रहा है। सभा सभी व्यक्तियो एव सस्थाओ के प्रति आभार प्रकट करती है।

समाज के प्रत्येक सदस्य से सभा को तन, मन एव धन द्वारा सहयोग एव सुझाव की अपेक्षा के नम्र निवेदन के साथ—

बाबूलाल सेठी
मन्त्री
राजस्थान जैन सभा
जयपुर

न श्वेताम्बरत्वे न दिगम्बरत्वे
न तर्कवादे न च तत्त्ववादे।
न पक्षसेवाऽऽश्रयणेन मुक्तिः
कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव॥

भगवान् महावीर :
जीवन, जैन तथा जैनेतर दर्शन, उपदेश

वीर स्तवनम्

※ डा० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

अगाधे भवाब्धौ पतन्त जनं य
समुद्दिश्य तत्त्व सुखाढ्य चकार ।
दयाब्धि सुखाब्धि: सदा सौम्यरूप
स वीर प्रवीर. प्रमोद प्रदद्यात् ।।1।।

विदग्धोऽपि लोक कृतो यन मुग्ध
स काम प्रकाम रतज्चात्मरूपे ।
न शक्तो बभूव प्रजेत् मनाङ् य
स वीर प्रवीर प्रमोद प्रदद्यात् ।।2।।

यदीय प्रवीर्यं हि बाल्येऽपि देवो
धृताहीन्द्ररूपो न किञ्चिद् विवेद ।
प्रमोदस्वरूपस्त्रिलोकीप्रभूप
स वीर प्रवीर। प्रमोद प्रदद्यात् ।।3।।

जगज्जीवघातीनि घातीनि हत्वा
हतान्येव लेभे पर ज्ञानतत्त्वम् ।
अलोक च लोक व्यलोकीदथो य
स वीर प्रवीर. प्रमोदं प्रदद्यात् ।।4।।

स शिष्य. स विप्रो गुरुर्गौतमो य
समासीनभाराद् विलोक्यैव नूनम् ।
मद भूरिमान मुमोच स्वकीय
स वीर प्रवीर. प्रमोद प्रदद्यात् ।।5।।

सुरेन्द्रानुमेना लकानायकेनऽऽ
कृतास्थानभूमि समास्थाय दिव्यैः ।
वचोभिर्य ईशो दिदेशार्थसार्थं
स वीर प्रवीर. प्रमोद प्रदद्यात् ।।6।।

विहृत्यार्यखण्डे सुधर्मामृतस्य
प्रवृष्ट्या समस्तान् जगज्जीवसस्यान् ।
प्रवृद्धान् चकाराभ्ररूपोऽधिपो यः
स वीर. प्रवीर प्रमोदं प्रदद्यात् ।।7।।

अनेकान्तदण्डै प्रचण्डैरखण्डैः
समुद्दण्ड वादिप्रवेतण्डगण्डान् ।
बिभेदाशु यश्च प्रकृष्टप्रमाण
स वीरः प्रवीरः प्रमोद प्रदद्यात् ।।8।।

ततो ध्यानरूपं निशातं विसात
कृपाण स्वपाणौ य आदाय सद्यः ।
अघातीनि हत्वा बभूव प्रमुक्त
स वीरः प्रवीरः प्रमोद प्रदद्यात् ।।9।।

अथामन्दमानन्दमाद्यन्तहीनं
निजात्मप्रजात ह्यनक्षं समक्षम् ।
चिरं यश्च भेजे निजे नैजरूप
स वीर प्रवीरः प्रमोद प्रदद्यात् ।।10।।

भगवान महावीर : जीवन-झलक

❀ श्री नन्दकिशोर जैन एम० ए०, लखनऊ

वीर गर्भावतरण तथा जन्मोत्सव

(1)

हुए लगभग छब्बिस सौ साल,
बीतने को था चौथा काल,
हमारी भारत भूमि रसाल,
दुखो से पीडित थी बेहाल ।।

(2)

स्वार्थपरता छल-छिद्र अपार,
झूठ, हिंसा अरु मायाचार,
प्राप्ति भोगो की किसी प्रकार,
बने थे जीवन के आधार ।।

(3)

पाप से पूरित थे सब कर्म।
यज्ञ में पशु-बलि ही था धर्म ।।
किसी विधि ढोते जीवन भार,
दास बिकते थे बीच बजार ।।

(4)

समझ कर निज को केवल काय,
तनिक से दुख में अति अकुलाय,
कुदेवादिक को भजते जाय,
भ्रमित जन करते व्यर्थ उपाय ।।

(5)

दुखो से विकल हुई अति सृष्टि,
हुई तब जग पर मगल वृष्टि।
स्वप्न सोलह सुन्दर मनुहार,
हुए त्रिशला मा को सुखकार ।।

(6)

सजाए मोहक सुन्दर साज,
सप्त सण्डों से युत गजराज,
इन्द्र धनुषी नभ पथ से आय,
श्वेत ऐरावत अति मन भाय ।।

(7)

दिखा फिर अति सुन्दर वृषभेश।
सिंह—थे जिसके स्वर्णिम केश ।।
कमल राजित लक्ष्मी मनुहार।
ढोरते थे गज द्वय जलधार ।।

(8)

दिखीं दो अतिसुन्दर बनमाल।
चन्द्र—ज्योतिर्मय पूर्ण विशाल ।।
मिटाता अन्धकार का जाल,
सूर्य आभामय निकला लाल ।।

(9)

कलश दो स्वर्णिम शोभायुक्त।
तैरता मीन-युगल हो मुक्त ।।
सरोवर पकज युक्त ललाम।
तरगायित सागर अभिराम ।।

(10)

स्वप्न-पलों पर क्रमशः चित्र।
बदल कर आते रहे विचित्र ।।
स्वर्ण सिंहासन शोभावान।
और फिर अनुपम देव विमान ।।

(11)

भवन नागेन्द्र दिव्य मनुहार ।
चमकती रत्न राशि सुखकार ।।
सोलहवां स्वप्न अग्नि-निर्धूम ।
मातु की मया चेतना चूम ।।

(12)

अन्त इक उतरा स्वप्न विशेष।
दिखा निज मुख में हस्ति प्रवेश ।।
प्रात: उठ अति उछाह मन लाय।
स्वप्न फल पूछा प्रभु ढिग जाय ।।

(13)

स्वप्न सुन मुदित हुए सिद्धार्थ।
प्राप्त ज्यों हुआ सकल परमार्थ ।।
स्वप्न फल अलग अलग बतलाय।
कहा प्रिय त्रिशला से समझाय।

(14)

श्वेत हस्ती से बल युक्त काय।
पुष्प माला से--धर्म चलाय ।।
स्वप्न फल लक्ष्मी मुनिए नेक—
मेरु पर करें देव अभिषेक ।।

(15)

चन्द्र फल सबको हो सुखदाय।
सूर्य से—तत्सम आभा पाय ।।
कलश द्वय से — निधियों को खान।
मछलियों से - अनेक सुख जान ।।

(16)

स्वप्न फल सागर—केवल ज्ञान।
'स्वर्ग से चय'-फल देव विमान ।।
'जन्म से अवधिज्ञान युत सोय'
भवन नागेन्द्र स्वप्न फल होय ।।

(17)

रत्न की राशि कहे - गुणखान।
अग्नि-निर्धूम सुफल यह जान—
'कर्म-ईंधन तप-अग्नि जलाए,
जीव अति भव्य मोक्ष सुख पाए।'

(18)

अन्त मुख हस्ती किया प्रवेश
स्वप्न फल इसका पुण्य विशेष—
'वीर प्रभु गर्भ आपके आय
जगत को सब प्रकार सुखदाय ।।'

(19)

सुदी षष्टी असाढ शुचि मास,
गर्भ मे आया पुण्य प्रकाश ।
हुए अतिशय प्रति दिन बेजोड,
रत्न भी बरसे लाख करोड़ ।।

(20)

प्रफुल्लित हुई बहुत तब मात।
देर लगती नहिं दिन के जात ।।
चैत्र शुक्ला तेरस सुखदाय ।
वीर प्रभु जगती तल पर आय ।।

(21)

बजाए बिना बज उठे साज।
सिंहासन कंप हुआ सुरराज ।।
जान कर जन्म वीर भगवान,
इन्द्र ने किया नृत्य अरु गान ।।

(22)

भक्तिवश अति उछाह उमगाए।
मेरु पर ले जा अति हर्षाय ।।
किया क्षीरोदधि जल अभिषेक।
दर्श हित नयना किए अनेक ।।

(23)

बुद्धि, बल युक्त धीर, गम्भीर।
बालपन से ही थे अतिवीर ।।
देव संगम बन आया सर्प ।
वीर ने तोड़ा उसका दर्प ।।

(24)

विजय, संजय मुनि शंका दूर।
हुई तो हुए भक्ति भरपूर ।।
दिया तब प्रभु को 'सन्मति' नाम।
जयतु जय वर्धमान सुखधाम ।।

वीर प्रभु की दीक्षा

(1)

हुए जब पूर्ण युवा श्री वीर,
कांति से जगमग हुआ शरीर।
हृदय अति कोमल, वत्सल, धीर
मिष्ट बोली मृदु, गुरु, गम्भीर ।।

(2)

यशोदा राजकुँवरि सुकुमार,
कलिगाधिप बेटी मनुहार ।
राव जितशत्रुहि किया विचार—
"योग्य हैं इसके वीर कुमार"

(3)

वीर के मात-पिता के पास ।
सदेशा दे कर भेजा दास ।।
मातु त्रिशला को हुआ हुलास ।
पिता सिद्धार्थ मुदित मन-हास ।।

(4)

वीर थे इन भावो मे दूर ।
विनय भर वाणी मे भरपूर
कहा—"धन कचन-कामिनि धूर ।
चित की चाह करूँ चकचूर ।।

(5)

बहुत दुर्लभ है मानव देह
छोडकर सकल जगत से नेह
सहू सब सर्दी गर्मी, मेह
खोज पथ जाऊ शाश्वत गेह ।।"

(6)

नही था यद्यपि प्रकट निमित्त,
खिला वैराग्य वीर के चित्त,
विषमयी ज्वाला के सम भोग,
जगत के लगे भयानक रोग।

(7)

प्रभु ने मन मे किया विचार,
नही है जग मे कोई सार,
चाँदनी दिखती दिन दो चार,
सभी नश्वर है घर परिवार ।।

(8)

राव-राजा, हय-गज-असवार
मरें सब अपनी-अपनी बार
सहोदर, मात-पिता, परिवार
नही है कोई बचावनहार ।।

(9)

द्रव्य बिन निर्धन मन को मार,
धनी-तृष्णा में विविध प्रकार,
विकल सब फिरें बीच ससार,
करें मानव जीवन बेकार ।।

(10)

अकेला जीव जगत मे आए ।
मरण पर पुन अकेला जाए ।।
न साथी सगा बधु या भाए ।
कर्म-फल जीव अकेला पाए ।।

(11)

देह छुटने नहि अपना कोय,
द्रव्य, घर, बधु पराया होय,
चार दिन चर्चा करते रोय,
भूलते फिर भोगो मे खोय ।।

(12)

चमकती चाम चढी यह देह
ऊपरी सज्जा वश सब नेह
महा दुर्गंध भरी घिन गेह
राग तज तन से रहे विदेह।

(13)

मोह वश रुले जीव ससार,
लिए कर्मों का गुरुतर भार,
सरल शुचि निर्मल हो व्यवहार,
बद हो तब कर्मों का द्वार ।।

(14)

पूर्व-कृत-कर्म अनेक प्रकार,
जीव को कसे कुडली मार,
बद्ध-कर्मों का तप से क्षार,
करे जब, तब हो जीवोद्धार ।।

(15)

लोक है चौदह राजु प्रमान,
इसी मे जीव फिरे बिन ज्ञान,
सुलभ हैं यद्यपि जन धन मान,
बहुत दुर्लभ है सम्यक्ज्ञान ।।

(16)

निकलने का नहि दूजा द्वार,
धर्म ही करे भवोदधि पार,
भावना बारह उक्त प्रकार,
प्रभू मन उपजी बारम्बार ।।

(17)

एक दिन बैठे वीर कुमार
करहि जब मन मे सोच विचार
देव लौकातिक प्रभु के द्वार
आए तब बोध दिया सुखकार—

(18)

"दुखो से पीडित है ससार
आपको करना जीवोद्धार
करें तप निज-पर हित सुखकार
सिद्ध बन करें भवोदधि पार ।।"

(19)

सकल इच्छाओं को तब मार,
प्रभू ने त्याग दिया घरबार,
तजा परिजन, पुरजन का प्यार,
मात त्रिशला का लाड–दुलार ।।

(20)

पालकी चन्द्रप्रभा मनुहार,
तभी ले आये असुर कुमार,
ध्यान, तप करके विविध प्रकार,
ज्ञातृवन-खण्ड गये सुकुमार ।।

(21)

महामानी–मन्मथ को मार,
करो से काले केश उपार,
कृष्ण दसमी मगसिर शशिवार,
दिगम्बर मुनि दीक्षा ली धार ।।

(22)

अधिकतर कर एकात विहार,
परीषह सहकर विविध प्रकार,
तिरे भव-सिंधु अनेको तार
जयतु-जय-जय वीर कुमार

वीर कैवल्य

(1)

जग की पीडा से हुए विकल,
तो छोड सभी कुछ पडे निकल,
जिस भाति मिले जग-दुख का हल,
खोजूगा, निश्चय किया अटल ।।

(2)

वय तीस वर्ष ही थी केवल,
जब होती है कामना प्रबल,
अति करना है मन्मथ विह्वल,
ऐसे में छाडे भोग सकल ।।

(3)

पथ की बाधाए सकीं न छल
तप किया घोर अरु रहे अचल
सर्दी, गर्मी, वर्षा का जल
सब झेला, तदपि रहे निश्चल

(4)

था आत्म-तेज का अतुलित बल
बिन मार्ग मिले थी तनिक न कल
लगता था जिम जीवन निष्फल
अरु आयु घट रही थी प्रतिपल

(5)

ऋतुओं ने चक्कर बारह चल
जब पूर्ण किए, तप हुआ सफल
सब संचित कर्म गये खिर-गल
अरु ज्ञान प्रकाशित हुआ सकल

(6)

सारी बाधाएं जाती टल,
निश्चय जब अपना ही अविचल
प्रभु का निश्चय था अडिग अटल
कैवल्य ज्ञान का खिला कमल

(7)

घिर हुई दमक दामिनी चपल
जुगनू चमके झलमल झलमल
तारे झांके टलमल-टलमल
अरु हुआ पूर्व का अरुणाचल

(8)

उड़ चली खबर यों शीघ्र मचल
वन में ज्यों फैले दावानल
रवि उदय हुए ज्यों खिलें कमल
त्यों प्राणी हुए मुदित, विह्वल

(9)

आलोकित हुए सभी जल थल
सब कूप बावडी हुए सजल
सुरभित मलयानिल चली मचल
वन-उपवन भी हो गए सफल

(10)

सरिताएं उमग बहीं कल-कल
खग-कुल ने गाए गान विमल
जल-थल-चर नाचे उछल-उछल
प्राणी निर्भय हो गए सकल ।।

(11)

सरवर में प्रमुदित हुए कमल
गुन-गुन गूंजे भौंरे चंचल
मधुबन में कुहुक उठी कोयल
अरु शांत हुआ जगती का तल

(12)

जनता तब उमडी दल की दल
नर-नारी, बच्चे, सबल-निबल
करने को अपना जन्म सुफल
प्रभु दर्शन के हित पडे निकल

(13)

सब दिग्पालादिक गए संभल
निज-निज यानों पर देव सकल
दौडे, लखने प्रभु सुछवि विमल
रहे गये अमर-जीवन निष्फल

(14)

दुष्टों ने हाथ घिसे मल मल
नहिं शोषण पीडन सकता चल
आश्चर्य ! कई खल गए बदल
उनके भी भाव हुए निर्मल

(15)

जय-जय कहते गिरि विपुलाचल
सब पहुंच गए तब पायी कल
उद्ग्रीव, उझक पंजों के बल
कुल निरख रहे प्रभु सुछवि विमल

(16)

नयनों में डब-डब भक्ति तरल
था धन-धन्य का कोलाहल
वचनामृत आशा डोरी से
बस बंधे थे हृदय सकल

(17)

वाणी प्रभु खिरी मची हलचल
मिथ्यामत-वादी गये दहल
गिर गये सभी बालुका महल
पशु-बलि याज्ञिक नहिं सकती चल

(18)

दुष्टों को लगते सुजन गरल
विहँसे जिनके थे हृदय सरल
भविजन को प्राप्त हुआ सबल
प्रभु वाणी सुन भव किया सफल—

(19)

जग मे नहिं कोई वस्तु अटल
पर्यायें क्षण–क्षण रही बदल
फिर कैसा मद, काहे का बल
भव-बन में फिरता जीव विकल

(20)

जग-भोग भयानक है दलदल
जितना खींचो, धसता पग तल
तप, ज्ञान-ध्यान से जाते जल
जब कर्म, मिले तब मोक्ष महल

(21)

दश धर्म, विनय सत, सयम से
व्यवहार लोक का सकता चल
यों मिले बहुत प्रश्नो के हल
जिनमत की फैली कीर्ति धवल

(22)

प्रभु तीन दशाब्दी पैदल चल
जन-जन को बोध दिया निर्मल
ससृति अशोक जब हुई सकल
प्रभु भी जा तिष्ठे मोक्ष महल

———

एक पद

कजरी बनारसी–ताल त्रिताल

हमारी अर्ज सुनो महावीर।
निशि वासर प्रभु ध्यान तुम्हारो,
चरणन मे चित लाग्यो हमारो।

जब ते मूरत नैना निरखो,
दूर भई सब पीर ॥हमारी०॥

हाथ जोड मैं शीस नमाऊ,
पुनि पुनि प्रभु ये अवसर पाऊ।

अरज प्रभु इस व्यथित हृदय की
कटे करम जजीर ॥हमारी०॥

भगवान् महावीर ने केवल एक पाप बताया था और वह था हिंसा। शेष 4 पाप तो हिंसा के ही भेद हैं। वे तब तक पाप नहीं जब तक कि उनमे हिंसा सम्मिलित नहीं हो। इसलिए आत्मोत्थान के लिए हिंसा से बचना और कषायो को क्षय करना आवश्यक है। यह ही भगवान् महावीर के उपदेशों का, जिनागम का संक्षेप है।

प्र० सम्पादक

अहिंसा के प्रतीक महावीर

❀ पं० सुभाषचन्द्र दर्शनाचार्य, श्रीमहावीरजी

वर्तमान जैन संस्कृति के संस्थापक तीर्थङ्कर ऋषभदेव की परम्परा मे तीर्थङ्कर भ० महावीर अंतिम कडी है। प्राचीन लिच्छवि गणतंत्र की राजधानी वैशाली मे राजा सिद्धार्थ और राजमहिषी त्रिशला देवी के यहा उनका जन्म हुआ। राजघराने की विपुल वैभव सामग्रियो से सम्पन्न होने पर भी उन्होने 30 वर्ष की पूर्ण यौवनावस्था मे संसार और शरीर भोगो से विरक्त हो दिगम्बरी दीक्षा धारण की। 28 मूलगुणो का पालन करते हुए कठोर जिन-श्रमण मार्ग का अनुसरण किया। एकान्त दुर्गम और बीहड वनो मे जाकर उन्होने आत्मसाधना की। अनार्य और आततायियो द्वारा किये गये विभिन्न प्रकार के उपसर्गो को समभाव पूर्वक सहन किया। द्वादश वर्ष की अनवरत महासाधना के पश्चात् उन्होने कैवल्य की प्राप्ति की।

केवलज्ञान प्राप्त हो जाने के अनन्तर भगवान् महावीर 30 वर्ष तक भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशो मे विशेषकर बिहार प्रदेश मे विहार करते हुए जीवो को उपदेश देते रहे। उन्होने दूसरो को उपदेश देने से पूर्व स्वय को ही ज्ञानपुञ्जो से आलोकित करना ठीक समझा। उन्होने सोचा कि जो प्रयोग मुझे दूसरो पर करना है उसे पहले स्वयं पर ही करके दिखाया जाय दूसरो को कल्याण का उपदेश देने से पूर्व अपना ही कल्याण किया जाय। उन्होने किया भी ऐसा ही। आत्म-कल्याण के सारे प्रयोग पहले उन्होने स्वय पर किये बाद मे जाकर दूसरो को उनका उपदेश दिया।

त्रिशत्वर्षीय सुदीर्घ देशनावधि मे तीर्थङ्कर भगवान् महावीर ने लोकोदय की भावना से अनुप्राणित वही उपदेश दिये जिनको उन्होने अपने आप मे पूर्णरूप से आत्मसात् किया था। उनके उपदेश लोकोदय से कल्याणोदय पर्यन्त सामञ्जस्यपूर्ण थे। मोटे तौर पर अहिंसा, समानता, अनेकान्त, आत्मस्वातंत्र्य कषायमुक्ति आदि महावीर के मुख्योपदेश कहे जा सकते हैं।

विशाल भारत के विस्तृत वसुधा खण्ड पर तीर्थङ्कर महावीर द्वारा पुर्नस्थापित अहिंसा ही एक ऐसा तत्व है जिसकी सुदृढ़ नीव पर महावीर के महावीरत्व या जैनत्व का अचल महाप्रासाद खडा हुआ है। यदि महावीर के जीवन मे से अहिंसातत्व को निकाल दिया जाये तो उसमें कुछ भी अवशेष नही बचेगा। महावीर के उपदेशो में सर्वाधिक

प्रतिष्ठा अहिंसोपदेश की ही है। महावीर और अहिंसा एक दूसरे के प्रतीक है-एक दूसरे के पर्याय-वाची हैं। विश्ववंद्य बापू ने एक बार कहा था-- 'यदि आज कोई महावीर को जानता है तो बस उनकी अहिंसा के ही कारण।'' अहिंसा तत्व की यद्यपि सभी धर्मों मे प्रतिष्ठा के साथ व्याख्या की गई है तो भी इसकी अतुल गहराइयो मे महावीर ही जा पाये, तलस्पर्श तो महावीर ने ही किया,बाकी सभी उथले (कम गहरे) मे ही लौट आये। तभी तो जैन दर्शन मे इसके रूपो की विवेचना प्राप्य है। महावीर ने कहा था कि सभी जीवो की आत्मा समान है। सभी जीव जीना पसन्द करते हैं मरने को कोई भी इच्छा नही करता, साथ ही सभी जीवो को जीने का अधिकार है। यदि कोई जीव किसी अन्य जीव की हिंसा करता है तो सबसे पहले वह उसकी अपनी ही हिंसा करता है अत किसी भी जीव की हिंसा मत करो, वध मत करो, पीडा मत पहुचाओ और सभी जीवो के साथ मैत्री भाव रखो इसी मे कल्याण है।

असमानता के विरोध मे महावीर ने समानता की आवाज उठाई। मानववाद का अभियान चलाया। उन्होने कहा सभी मनुष्य समान हैं। कोई भी मानव किसी वर्ग जाति-पाति या रूप रग के आधार पर ऊचा-नीचा नही है ये सारे भेद मानव के स्वय-निर्मित हैं अत किसी को भी अपने से हीन मत समझो। सभी बराबर हैं। सत्य अनेकान्तात्मक है। कोई एक कथन किसी एक दृष्टि से सत्य है तो उससे विपरीत कथन भी किसी दूसरी दृष्टि से सत्य होता है। इसीलिये परस्पर विरोधी दो दृष्टिकोणो के बीच भी सामञ्जस्य का द्वार खुला रहता है। एतदर्थ उन्होने ऐकान्तिक दृष्टि का परित्याग कर सभी के साथ शातिपूर्ण सह अस्तित्व की भावना बनाये रखने पर जोर दिया।

भगवान् महावीर जिस समय हुए उस समय देश में विभिन्न प्रकार के मत-मतान्तरो का प्रचार प्रसार चल रहा था। आत्मा के सम्बन्ध मे भी लोगो मे कई तरह की भ्रान्त दृष्टिया व्याप्त थी। अतः इस सम्बन्ध मे भी उन्होंने अपना स्पष्ट और सुलझा हुआ विचार-वास्तविक मान्यता तत्कालीन समाज के सामने पेश की। उन्होने कहा आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता है-आत्मा एक वास्तविकता है। उसका निर्माण किसी अन्य द्रव्य से नही हुआ है और न ही वह किसी अन्य द्रव्य के उत्पादन मे सक्षम है। शरीर के साथ आत्मा का सयोग होते हुए भी वह शरीर से एकदम भिन्न है जो अनादिकाल से जन्म-मृत्यु के आवर्त मे चक्कर लगा रही है और उनसे क्लेशित होती रहती है। ससार का चक्र आत्मा के लिये बडा दुखदायी है। जो आत्मा ससार के चक्र से निकल जाती है वह पूर्ण रूपेण स्वतन्त्र हो जाती है और उसका दुखो का अनादि अनवरत सिलसिला सदा के लिये समाप्त हो जाता है। अत हे प्राणी ! तुम स्वय अपने भाग्य के विधाता और अनन्त शक्ति के पुञ्ज हो अपने शुभाशुभ कर्मो के द्वारा ही तुम अपना अच्छा और बुरा कर सकते हो। अपने कर्मों के भोक्ता स्वय तुम ही हो। अत अपने पुरुषार्थ के द्वारा अपनी आत्मा को स्वतन्त्र करो-अनन्तकाल से ससारावर्तन मे चक्कर लगा रही आत्मा का उद्धार करो। उसे बन्धन से निकालो और स्वतन्त्र करो-आत्मानन्द की अनुभूति को प्राप्त करो। कषाय मुक्ति के बारे मे लोगो की अन्तश्चेतना को उद्बुद्ध करते हुए उन्होने कहा-राग और द्वेष आत्मा के ये दोनो ऐसे शत्रु है जो उसे सदा ससार मे बाधे हैं-कभी भी छूटने नही देते। इन दोनो का बन्ध ही ससार का बडा कारण है। अत उससे छूटने के लिये क्रोध, मान, मायादि रूप कषायो को छोडो और सुखी होओ क्योकि कषायो को छोडने वाला ही ससार छेदकर परमसुख और अनन्त शाति की प्राप्ति करता है।

इस विश्व में परस्पर विरोधी गुणों वाले दो पदार्थ मिलते हैं—1 चेतन 2 जड। जैनदर्शन मे चेतना गुण वाले द्रव्य को जीव नाम से अभिहित किया जाता है। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच द्रव्य चेतना विहीन है। इनमे से केवल पुद्गल ही क्रियाशील है। सांसारिक अवस्था मे जीव का पुद्गल के साथ सयोग रहता है। जीव का और पुद्गल का संबध विच्छेद होने पर जीव की जो शुद्ध अवस्था होती है वह ही मोक्ष है। विदुषी लेखिका ने जीव की दोनों अवस्थाओं का किञ्चित् वर्णन इन पक्तियों मे किया है।

प्र० सम्पादक

भौतिक जगत् और मोक्ष

(जैन-दर्शन मे मान्य 'आत्मा' के सन्दर्भ मे)

❀ कुमारी प्रीति जैन, शोध छात्रा, जयपुर

इस विशाल विश्व के किसी भी अश पर दृष्टिपात करने पर हमे केवल दो ही प्रकार की सत्तायें दृष्टिगोचर होती हैं—1 चेतन और दूसरी 2 जड। साधारण भाषा मे चेतन सत्ता' का तात्पर्य आत्मा अथवा जीव से और 'जड' का अचेतन से, अजीव से, और दार्शनिक सन्दर्भ मे 'चेतन' का तात्पर्य आध्यात्मिकता से व 'जड' का तात्पर्य भौतिकता से है।

जैन दर्शन के अनुसार 'चेतनसत्ता' केवल आत्मा या जीव है, इसके कोई भेद नही हैं, किन्तु अचेतन (जड) सत्ता के पाच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जैनागम मे इन्हे द्रव्य कहा जाता है, इस प्रकार कुल छ द्रव्य हैं। इन छहो द्रव्यो मे क्रियाशील द्रव्य जीव व पुद्गल ही हैं, शेष चारो द्रव्य निष्क्रिय है, गतिहीन हैं। अत चेतना का प्रसार जीव द्रव्य से और जडता का प्रसार पुद्गल द्रव्य से ही है।

जैन-दर्शन के अनुसार सक्षेप मे जीव-द्रव्य का स्वरूप हैं।

"जीव उपयोगमयः अमूर्ति कर्त्ता स्वदेहपरिमाण भोक्ता ससारस्थ सिद्ध स विस्रसा ऊर्ध्वगति।"
(द्रव्य सग्रह गा 2)

अर्थात् जो (चार प्राणो से) जीता है, उपयोगमय है, अमूर्तिक है, कर्त्ता-भोक्ता है, स्वदेह परिणाम वाला है, ससारस्थ है (ससार मे स्थिति रखने वाला है), सिद्ध होने की शक्ति युक्त है, स्वभाव से ऊर्ध्वगति को जानेवाला है, साथ ही जिसमे ज्ञान, दर्शन, वीर्य सुख आदि गुण हैं वहीं जीव है, चेतन है और जिसमे रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श गुण हों वह पुद्गल है, रूप, रस, गध तथा स्पर्श गुण युक्त होने के कारण पुद्गल मूर्तिक (जो आखो द्वारा देखा जा सके) द्रव्य है। मूल रूप से पुद्गल परमाणु रूप है, किन्तु अनेक पुद्गल परमाणुओं का सघात भी होता है, परमाणुओ का संघात स्कन्ध कहलाता

है। शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, अंधकार, छाया, प्रकाश, आतप (गर्मी) आदि पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं, (त सू–5/24, द्रव्य संग्रह–16 ।

जब इस विश्व मे फैली हुइ वस्तुओ पर दृष्टि-पात करते हैं तब प्रत्येक वस्तु रूप, रस, गध तथा स्पर्श से युक्त और शब्द, बध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, प्रकाश, आतप स्थितियो मे ही प्राप्त होती है। अत यह ज्ञात होता है कि यह समस्त दृश्य-जगत् पुद्गल का ही विस्तार है।

आधुनिक विज्ञान की पुस्तको के अनुसार ध्वनि, ऊष्मा, प्रकाश आदि ऊर्जायें भौतिकता की प्रतीक हैं, इन ऊर्जाओ के कारण ही यह जगत् भौतिक जगत् कहलाता है। शब्द, आतप, प्रकाश आदि ये भौतिक ऊर्जायें पुद्गल की पर्यायें अथवा स्थितिया हो तो हैं। अत यह निर्विवाद सत्य है कि समस्त भौतिक जगत् पौद्गलिक है, अर्थात् यह दृश्य जगत् अनन्त पुद्गल परमाणुओ के स्कन्धो का बनाव है।

भौतिकता का क्षेत्र समस्त भौतिक-जगत् है किन्तु आध्यात्मिकता केवल आत्मा तक ही सीमित है, क्योकि आध्यात्मिकता की आधारभित्ति आत्मा ही है, जिसकी चरम परिणति मोक्ष है।

'मोक्ष' आत्मा की स्वाभाविक और सासारिक अवस्था उसकी वैभाविक स्थिति है। स्वाभाविक स्थिति मे आत्मा शुद्ध रूप मे होती है, उसका किसी अन्य द्रव्य अर्थात् पुद्गल के साथ सयाग नही रहता जबकि वैभाविक स्थिति मे आत्मा का पुद्गल के साथ सयोग रहता है। जब तक आत्मा का पुदगल के साथ सयोग रहता है तब तक वह भौतिक जगत की सीमा मे रहती है, किन्तु जब आत्मा का पुद्गल से वियोग हो जाता है तब ही वह शुद्ध अवस्था मे स्थित होती है और आत्मा की यह शुद्ध अवस्था ही तो मोक्ष है, क्योकि मोक्ष का अर्थ है छूटना, मुक्त होना अर्थात् आत्मा का समस्त कर्म बन्धनो से मुक्त होना। आत्मा का अपने शुद्धरूप मे निज रूप मे, स्वभाव मे अपनी स्वतन्त्र सत्ता लिए हुए स्थित रहना ही मोक्ष है, मुक्ति है। यह आत्मा की पूर्णता की स्थिति है। मुक्तावस्था मे आत्मा के ज्ञान दर्शन सुख, वीर्य आदि स्वाभाविक गुण विकसित हो जाते हैं। मुक्त हो जाने के बाद जन्म-मरण, रोग शोक, दुख भय आदि बाधायें समाप्त हो जाती हैं। क्योकि ये सब बाधायें कर्म-जनित बाधायें है, देह के साथ उत्पन्न होने वाली बाधाये हैं, मुक्तावस्था मे जब कर्म ही नष्ट हो जायेगे तब कर्म जनित अवस्थायें कैसे रह सकती हैं ?

इस प्रकार भौतिक जगत् और मोक्ष आत्मा की दो अवस्थाये हुई, किन्तु दोनो एक दूसरे से नितान्त विरोधी हैं। भौतिक जगत् नश्वरता अर्थात् जन्म और मृत्यु का प्रतिनिधि है तो मोक्ष इसके विपरीत शाश्वतता का प्रतीक है।

भौतिक जगत् दृष्ट है और मोक्ष अदृष्ट, अतः इनके अस्तित्व व सत्यता के बारे मे जिज्ञासा होती है। इस सम्बन्ध मे भारतीय दार्शनिको मे मत-वैभिन्य है। एक ओर चार्वाक दार्शनिक दृष्ट-भौतिक जगत को ही सत्य अथवा अस्तित्वशील मानते हैं, उनके अनुसार मोक्षावस्था कोरी कल्पना है, इसके विपरीत अद्वैतवेदान्त दार्शनिको का कहना है कि 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या" अर्थात् मोक्ष ही सत्य है, अस्तित्वशील है, यह भौतिक जगत् मिथ्या है, भ्रम है सत्यता का आभास है।

उपरोक्त दोनो स्थितिया एक दूसरे से नितान्त विरुद्ध स्थितिया हैं, दो छोर है, रुतिया (extremes) हैं। किन्तु जैन-दर्शन इन दोनो अतियो (extremes) को अपने अन्दर समेटे हुए है। उसके अनुसार यह भौतिक जगत् और मोक्ष दोनों ही सत्य हैं, अस्तित्वशील हैं। क्योकि यह जगत पौद्गलिक है, पुद्गल का विस्तार है, पुद्गल द्रव्य है, जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य सत् है, अस्ति-

स्वशील है (सत् द्रव्यलक्षणम्, त० सू० 5/29) अत यह पौद्‌गलिक जगत् भी सत्य है अस्तित्वशील है, और मोक्ष जो आत्मा की शुद्धावस्था है, चरम-परिणति है, वह भी सत्य है, अस्तित्वशील है, क्योकि आत्मा भी द्रव्य है, जब द्रव्य अस्तित्वशील है तो आत्मा भी अस्तित्वशील है व आत्मा की शुद्धावस्था मोक्ष भी सत् है।

जब दोनो स्थितिया सत् है तो प्रश्न उठता है कि आत्मा के लिए श्रेयस् क्या है श्रेष्ठ क्या है ? क्योकि केवल आत्मद्रव्य ही चेतनद्रव्य है, कर्त्ता-भोक्ता है अत समस्त भौतिकता व आध्यात्मिकता की उपादेयता केवल आत्मद्रव्य के सन्दर्भ मे ही है। अत यहा मूल्यात्मक दृष्टिकोण से विचार करना होगा कि आत्मा के लिए मूल्यवान् क्या है ?

मूल्य के प्रत्येक निर्णय मे आत्मा की सन्तुष्टि-असन्तुष्टि अन्तर्निहित होती है। मूल्य-निर्णय मे हेय और उपादेय का निर्णय आवश्यक है। मूल्य, लक्ष्य प्राप्ति मे सहायक है, क्योकि जीव उसी को मूल्य प्रदान करता है जिसे वह प्राप्त करना चाहता है, जो उसका प्राप्तव्य है। आत्मा के लिए वही मूल्यवान् है, श्रेयस है जो उसके लक्ष्य मे साधक हो, उसके अभीष्ट की पूर्ति करे और परमश्रेयस वह है जो सर्व प्रकार उपादेय है। सामान्यत प्रत्येक जीवका लक्ष्य पृथक्-पृथक् है, लौकिक रूप मे भी देखा जाता है कि कोई शिक्षा-प्राप्ति को अपना लक्ष्य मान उसे मूल्यवान् समझता है तो कोई धन-प्राप्ति मूल्यवान् समझता है और कोई मान-प्रतिष्ठा का ही मूल्यवान् समझता है, किन्तु इन सभी मूल्यो मे एक बात समान रूप से अन्त-र्निहित है सुख प्राप्ति की इच्छा, सुख प्राप्ति का लक्ष्य, क्योकि शिक्षा प्राप्ति, धन प्राप्ति, पद-प्रतिष्ठा पाने की इच्छा अन्ततोगत्वा सुख प्राप्ति की इच्छा पर ही आधारित है अर्थात् प्रत्येक जीव सुख का अभिलाषी है दुख से भयभीत है। प० दौलतरामजी ने कहा भी है—"जे त्रिभुवन मे जीव अनन्त सुख चाहे दुख ते भयवन्त"। प्रत्येक प्राणी इष्ट वियोग, अनिष्ट-सयोग, राग द्वेष से पीडित है, दुखी है, अत वह सुख प्राप्ति व दुख निवृत्ति की चेष्टा करता है। इसके लिये वह नये नये साधनो की खोज करता है उनकी प्राप्ति के लिये एडी-चोटी का पसीना बहा देता है, अधिक से अधिक साधन जुटाना चाहता है, उसके सारे प्रयत्न येन केन-प्रकारेण सुख प्राप्ति के लिये ही होते हैं। इसी भावना से वशीभूत आज प्राणी ने एक से एक आश्चर्य जनक वस्तुओ का निर्माण कर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे सुख सुविधाओ का अम्बार लगा दिया है, ऐसा प्रतीत होता है कि शायद उसने अपने लक्ष्य, सुख प्राप्ति मे पूर्णता करली हो। किन्तु सुख-शान्ति के भौतिक साधनो की बढोतरी के बावजूद भी वह सुखी नही है। सुख प्राप्ति की दिशा मे आज भी वह वही है जहां से वह चला था, अथवा शायद आज वह पूर्वापेक्षा अधिक दुखी है, सत्रस्त है, भयभीत है, क्योकि उसकी खोजे, उसके प्रयास और उसके द्वारा प्राप्त साधन, सभी भौतिकता की ओर झुके हुये हैं, सभी साधन भौतिक है। भौतिक समृद्धि नश्वर हैं, सीमित हैं, अस्थायी है। हम देखते हैं कि जो वस्तु आज सुख प्रदान करती है, वही कल दुख उत्पन्न करने लगती है। जबकि वह चाहता है कि उसका सुख अपरिमित हो, कभी न समाप्त होने वाला हो, और सुख की परिभाषा भी तो यही है कि जो आकुलता रहित हो, स्थायी हो जिसके बाद फिर किसी प्रकार का दुख शेष न रहे (पचाध्यायी उत्तरार्ध—224), सब प्रकार की बाधायें दूर हो जाये किन्तु भौतिकता इतनी समर्थ नही है। आज पाश्चात्य देशवासी भौतिक-साधनो से सम्पन्न होते हुये भी विकलता का अनुभव कर रहे है, जीवन की बढती असुरक्षा के कारण भयभीत हैं, पलायन की ओर उन्मुख हैं। इससे ज्ञात होता है कि प्राणी को जिस सन्तोष, सुख व शान्ति की कामना है खोज है वह भौतिकता से प्राप्त नही है। वस्तुत भौतिकता निराकुल सुख

प्रदान करने मे सर्वथा असमर्थ है, बल्कि वह तो दुःख के जनक राग और द्वेष को और बढावा देती है। इसका तात्पर्य यह नही है कि भौतिक जगत् मूल्य रहित है या भौतिकता मूल्य प्राप्ति मे साधक नहीं है, कितने ही मूल्य भौतिकता के माध्यम से ही प्राप्त होते हैं किन्तु फिर भी वह (भौतिकता) परम श्रेयस् (u't mate goo}) की प्राप्ति मे बाधक है अत हेय है।

प्रश्न उठता है कि तब आत्मा के लिये, प्राणी के लिये उपादेय क्या है ? उसे सुख की प्राप्ति परमश्रेयस् की प्राप्ति कहा से हो सकती है ? कैसे हो सकती है ?

आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है किन्तु सासारिक प्राणी पुद्गल कर्मों से जकड़ा हुआ है, पुद्गल द्रव्य आत्मद्रव्य से सर्वथा भिन्न एक पृथक द्रव्य है, और दो नितान्त विरोधी द्रव्यो का सयोग कदापि सुखकारी नही हो सकता। इस सयोग से आत्मा स्वभाव भूल गई है, उसके ज्ञान, दर्शन आदि गुण मलिन पड गये है, वह अशुद्धावस्था मे है। प्रत्येक वस्तु जब अपने शुद्ध रूप मे होती है तभी वह मूल्यवान् होती है, उपादेय होती है और अपने लक्ष्य को भी तभी प्राप्त कर सकती है। दूध को ही ले जब वह शुद्ध होता है, जलमिश्रित नही होता तभी वह उपादेय गुणकारी व मूल्यवान होता है और तभी वह अपने लक्ष्य मे भी सफल होता है। अत आत्मा भी जब अपने शुद्ध रूप मे स्थित होगी तभी परम-आनन्द का अनुभव कर सकेगी, इसके लिये उसे स्वरूप जानना होगा, अपनी आत्मा मे ही लीन हो 'पर' से ममत्व त्यागना होगा 'स्व-पर' भेद विज्ञान को जानना होगा तभी वह नैसर्गिक सुख को प्राप्त कर सकती है। वस्तुत भौतिकता निराकुल सुख की प्राप्ति मे बाधक है, क्योकि सुख तो आत्मा का अपना गुण है, किन्तु वह पौद्गलिक कर्मों से आवृत होने के कारण मलिन हो रहा है, अतः जब तक आत्मा के साथ भौतिकता अथवा पौद्गलिक कर्मों का किंचित् अश भी रहेगा तब तक आत्मा सुख प्राप्त नही कर सकती। जिस क्षण आत्मा का भौतिकता से साथ छूट जायेगा उसी क्षण सुख का अजस्र-स्रोत फूट पड़ेगा और शान्ति की अविरल धारा बह निकलेगी। आत्मा अपने सहज-रूप में, निज-रूप मे, स्वभाव मे स्थित हो जायेगी, वही स्थिति तो मोक्ष है, मुक्ति है। वहा आकुलता का, राग-द्वेष का प्रवेश नही है। वहा आत्मा के सब बधन निर्बन्ध हो जाते हैं, वहा न तक की गति है, न उसे हमारी भौतिकता से पगी हुई बुद्धि ही ग्रहण कर सकती है। अर्थात् परम-श्रेयस् की प्राप्ति 'आध्यात्मिकता' से ही हो सकती है, भौतिकता से नही। इसीलिये भारतीय-मनीषा हजारो वर्षों से भौतिकता के प्रति असन्तोष प्रकट करती आ रही है इसी कारणवश उसे (भारतीय मनीषा को) घोर निराशावादी कहा जाता रहा है, किन्तु ऐसा कहना नितान्त एकागी दृष्टिकोण का परिचायक है क्योकि दूसरी ओर वे शाश्वत-सत्य व पूर्ण सुख के राज्य मे जाने का मार्ग भी तो प्रशस्त करते हैं, जो परम आशा का प्रतीक है।

साधारणत प्रत्येक प्राणी के अन्तस् मे ऐसे अपरिमित सुख की प्राप्ति के प्रति सन्देह उत्पन्न होता है किन्तु जैन दार्शनिक तो आत्मा की नैसर्गिक अनन्त सामर्थ्य मे गम्भीर विश्वास रखते हैं, अत वे प्राणी मात्र को आशा का सन्देश व स्वावलम्बन की प्रशसनीय शिक्षा देते हैं और सुख प्राप्ति का पथ भी उद्घाटित करते हैं। आवश्यकता है उस पथ के पथिक बनने की, एक बार पथ पर बढ़ कर देखे तो, सन्देश स्वमेव विश्वास मे, अनुभव मे परिणत हो जायेगा। केवल प्रयत्न की आवश्यकता है, आध्यात्मिकता की शरण मे जाने के बाद सुख की प्राप्ति निश्चित है। अत यदि हम वास्तव मे सुख चाहते हैं तो हमे आध्यात्मिकता ही की शरण मे जाना होगा, इसी से हमारे गन्तव्य, हमारी मजिल 'मोक्ष' की प्राप्ति हो सकेगी अन्यथा यह विशाल भौतिक जगत् ही हमारी नियति बन कर रह जायेगा, जहा हम बहुरुपिये की भाति एक के बाद एक भेष धारण करते रहेंगे, जन्म-धारण करते रहेंगे और मृत्यु की गोद मे जाते रहेंगे।

जितने भी आस्तिक दर्शन हैं वे मानव का लक्ष्य निर्वाण प्राप्ति स्वीकार करते हैं। मानव के चार पुरुषार्थों में वह अन्तिम है। पुरुषार्थ धर्म से प्रारम्भ होते हैं। निर्वाण प्राप्ति के लिए धर्म की साधना अनिवार्य है। जैन और बौद्ध दर्शन इस दृष्टि से समान हैं कि दोनों ही ईश्वर को कर्त्ता धर्ता नहीं मानते। फलतः दोनों की ही मान्यता है कि मानव अपने प्रयत्नों अपनी साधना से निर्वाण की प्राप्ति कर सकता है। दोनों दर्शनों की वह साधना-पद्धति क्या है? इसकी जानकारी संक्षेप में विद्वान् लेखक की इन पंक्तियों से प्राप्त कीजिए।

प्र० सम्पादक

जैन-बौद्ध साधना पद्धति :

* श्री उदयचन्द्र 'प्रभाकर' शास्त्री, इन्दौर

भारतीय दर्शन की विचारधारा आध्यात्मिकता से ओतप्रोत है, जिसके पथ का अनुसरण कर मानव ने अपने कालुष्य को धोकर निर्वाण या मोक्ष या कैवल्य को प्राप्त कर लिया। कैवल्य या मोक्ष की दशा मे मानव को आत्म-स्वरूप का बोध हो जाता है और आत्मा ही परमात्मा का रूप धारण कर लेता है। उसका जन्म जन्मातर का भव-भ्रमण मिट जाता है। यहा इस बात का निर्देश करना है कि जैन-बौद्ध धर्म ने कौन से साधन मुक्ति के लिए प्रयोग किये जिससे ससार चक्र की अवस्था समाप्त हो जाय। दोनो ही दर्शन अपने अपने क्षेत्र मे प्रसिद्ध हैं। जहा जैनो ने रत्नत्रय को प्रधान कहा, वहा बौद्धो ने निर्वाण प्राप्ति के लिए अष्टागमार्ग का निर्देश किया। दोनो ने अहिंसा को महत्व दिया और ब्रह्मचर्य पर विशेष जोर दिया है।

हिंसादि कार्यों को दोनो ने हेय माना। कर्मवाद और पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी स्वीकार किया। परन्तु कुछ मान्यताओ को जो जैनो ने स्वीकार की उसे बौद्धो ने नही। जैनदर्शन की आधारभूत शिला आत्म तत्व या जीवतत्व है। यह जीव ज्ञानरूप है। जीव एक ही तत्व है। जो ज्ञान है वही जीव है, जो जीव है, वही ज्ञान है। जीव से पृथक् ज्ञान नही है। ज्ञान जीव का विशेषण नही, अपितु स्वरूप है।

आचार मीमांसा —भारतीय दर्शन का मूल लक्ष्य है मुक्ति या मोक्ष। सभी ने कर्मबधनो से मुक्ति या दुःख से विमुक्ति होने को मोक्ष कहा है। जैन दर्शन मे रत्नत्रय —सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की योग्यता प्राप्त होने पर मोक्ष प्राप्त हो जाता है। अतः मोक्ष के साधन हैं कर्मों की निर्जरा के लिए 1 पञ्चमहाव्रत, 2 समिति, 3 गुप्ति, 4 धर्म, 5 अनुप्रेक्षा, 6 परिषहजय और 7 चारित्र। ये उपाय हैं। महावीर की आचार मीमासा इसी आधार पर टिकी हुई है।

आधुनिक सदर्भ में अहिंसा कहा तक सफल है, यह तो इसी बात से प्रत्यक्ष हो जाता है कि सभी प्राणी अभय चाहते हैं, चाहे चोरी करने वाला हो या अन्य अवैधानिक कार्य को करने वाला। जहा हिंसक प्रवृत्ति मानव को पतन की

ग्रोर ले जाती है वहां ग्रहिसक ऐसा साधन प्रस्तुत करता है कि जिसमे मानव मे करुणा का प्रवाह बह निकले क्या हम ऐसा व्यवहार कर रहे हैं ? इसका उत्तर दूसरे के पास खोजने की बजाय स्वय के पास खोजना होगे। 'जरोण सद्धि होक्खामि' 'जो दूसरो का हाल होगा वह मेरा भी होगा।' वह ग्रज्ञानी ऐसा सोचने वाला हिसा, भू ठ कपट, चुगली, धूर्तता ग्रादि के स्वभाव को छोड सकेगा। परन्तु जो —

समुद्दगभीरसमा दुरासया,
ग्रचक्किया केणइ दुप्पहसया।
सुयस्स पुण्णा विउलस्स ताइणो,
खवित्त् कम्म गइमुत्तम गया ॥

ग्रर्थात् समुद्र के समान गभीर विचार वाला, दुर्जय, निर्भय किसी से नहीं दबने वाले विपुल श्रुतज्ञान से पूर्ण छ काय के रक्षक होकर कर्मों को क्षय करके मोक्ष को प्राप्त होते है।

ग्रहिसा वह है, जो सत्यान्वेषण के मार्ग की ग्रोर ले जा सके। वह ग्रात्म-तत्व ही सत्य है, जो हिंसक वातावरण से रहित है। उत्तरा० मे ग्रात्मा के विषय मे लिखा है —

'ग्रप्पा नई वेयरणी, ग्रप्पा मे कूडसामली।
ग्रप्पा कामदुहा धेणू, ग्रप्पा मे नदणवण ॥

ग्रर्थात् ग्रात्मा ही ससार सागर मे पार कराने वाली वैतरणी नदी के समान है, ग्रात्मा ही कूट शाल्मली वृक्ष है, ग्रात्मा ही कामधेनु है ग्रौर यही नन्दन बन है। 'तुमेव मित्त तुमेव सत्तु' श्रेष्ठ ग्राचार वाली ग्रात्मा मित्र रूप है ग्रौर दुराचार वाली ग्रात्मा शत्रु है। इस गहराई का स्पर्श करने वाला ग्रहिसक विचार ग्रौर क्या हो सकता। ऐसी बात महावीर ने कही ऐसा सोचकर उसको जीवन मे भी तो उतारकर देखें। ग्रौर जीवन को इस दिशा की ग्रोर मोड़ दें। ग्रतान उपम कत्वा न हनेय्य न घातये।' ग्रर्थात् ग्रपने समान सब जीवों को जानकर मनुष्य न किसी को मारे ग्रौर न मारने की ग्रोर प्रेरित करे। ग्रौर गीता का यह कथन जीवन मे चरितार्थ करे तो निश्चय ही सुख-शाति की प्राप्ति सभव हो सकती —

'नियत कुरु कर्म त्व कर्म ज्यायो ह्यकर्मण।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मण ॥

ग्रर्थात् नियत किये हुए स्वधर्म कर, क्योकि कर्म न करने की ग्रपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरा शरीर-निर्वाह भी नही हो सकता।

स्याद्वाद-ग्रनेकात की दृष्टि ग्राचार-विचार से ग्रोतप्रोत है, हिंसक भाव का किंचित् भी स्थान नही। ग्रत्याचार-ग्रनाचार की भावना मानव को मरुस्थली टीले पर खडा कर देती है, जो हवा के वेग से ढह जाने वाली है। ग्रत ऐसी वैचारिक दृष्टि को क्यो न ग्रपनाया जाय, जिससे हमारी ग्राधार शिला मजबूत रहे।

जीवन निराशा से पूर्ण है इसमे हर्ष, ग्रानन्द ग्रौर उल्लास किञ्चित् भी नही है। निराशा एव दु ख की शान्ति के लिए बुद्ध ने चार ग्रार्य सत्यो की प्रतिष्ठा की। जन्म, जरा, व्याधि एव मृत्यु दु ख के कारण हैं। इन दु खो की समाप्ति से परम सुख की प्राप्ति हो सकती। दु ख ग्रौर दु खो के कारणो से छुटकारा पाने के लिए बुद्ध ने ग्राष्टागिक मार्ग का ग्रनुसरण करने को कहा। 1 सम्यक् दृष्टि, 2 सम्यक् सकल्प, 3 सम्यक् वचन, 4 सम्यक् कर्मान्त, 5 सम्यक् ग्रजीव, 6 सम्यक् व्यायाम, 7 सम्यक् सस्मृति ग्रौर 8. सम्यक् समाधि इन ग्राष्टाग मार्ग का ग्रनुसरण कर मनुष्य स्वावलम्बी बन सकता है ग्रौर ये ही साधना पद्धति के साधन हैं।

परन्तु मनुष्य ग्रपने किये गये पापो से ग्रपने

आपको मलिन करता रहता है। पर यह नही मालूम .—

अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।
अत्तना हि सुदन्तेन नाथ लभति दुल्लभ ॥

धम्मपद–160

(आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन ।)

गीता–6–5

अर्थात् आप ही अपने स्वामी हैं, दूसरा कौन स्वामी हो सकता है। अपने स्वय को भली प्रकार से दमन कर लेने पर मनुष्य दुर्लभ स्वामी को प्राप्त कर लेता है। 'सच तो यह है कि जितने भी दु ख के कारण हैं वे सभी स्वय के द्वारा उत्पन्न किये गये हैं। इसलिए 'अत्तना हि कत पाप अत्तना सकिलिस्सति। अत्तना अकत पाप अत्तना हि विसुज्झति।' अर्थात् अपने स्वय के किये हुए दु खरूप पाप से स्वय ही शुद्ध हो सकता है।

दोनो ही साधना पद्धति दु खरूपी ससार के कारणो से छुटकारा प्राप्त करने को कहती हैं। और इस बात पर विशेष जोर देती हैं कि जो ससार के भव भ्रमण से छूटना चाहता है, उसे बाह्य से हटकर अपनी आन्तरिक गहराई तक पहुचना अवश्य है। स्वय के द्वारा खोजे हुए मार्ग का निर्देश दूसरो को सहज ही दिखला सकते हैं। महावीर-बुद्ध ने अपने मार्ग को पहले खोजा, बाद मे दूसरो को बतलाया, तभी तो ढाई हजार वर्ष बाद भी उनकी साधना पद्धति का मार्ग आज भी स्मरण किया जाता है। ❖

अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करना चाहिये। बाहरी शत्रुओ के साथ युद्ध करने से क्या लाभ? स्वय के द्वारा स्वय को जीतने वाला ही यथार्थ मे पूर्ण सुखी होता है।

—भ० महावीर

प्रत्येक साधक नित्य प्रति यह चिन्तवन करे––मैंने क्या कर लिया है और अब क्या करना बाकी है। कौन सा ऐसा कार्य है जिसे मैं कर सकता हू किन्तु कर नही पा रहा हूँ?

—भ० महावीर

समर्पित करदें अक्षत-चंदन

❖ श्री घासीराम जैन 'चन्द्र', शिवपुरी

युग युग बीत गए तुम आये
धरती पर पादप लहराये
डार डार ने फूल चढाये
बजी दुंदुभी स्वर्ग लोक में
त्यु लोक ने हर्ष मनाये।
कंचन बरसे, जन-मन हरषे
किसी भूप के राजकुंवर का जन्म हुआ था।
प्रजा खुशी मे नाच रही थी
किसे ज्ञात था तब त्रिलोक से
पूज्य बनेगा यह बालक
अज्ञान-तिमिर को हरण करेगा
वरण करेगा मुक्ति-रमा को।
बडे प्रेम से बडे भाव से बुला रहे हम
भगवन् आवो!
हमे ज्ञान के पाठ पढावो
किन्तु विराजित है घट-घट मे वर्धमान
उसको हमने कब पहिचाना है?
जो चिर-निद्रित मोह निशा के
अंधकार मे भटक रहा है
भटक रहा भव भ्रमण जाल मे
उसे न मिलती त्रिशला माता
सिद्धारथ-सा तात न पाया
जब भरमाया उसे जगाओ।
वही वीर है वर्धमान है, सन्मति है
अतिवीर वही है महावीर
यदि हम उसको पहिचानेगे
वर्धमान मिल जायं मिटेंगे
भव-भव के अनादि के बंधन
कर्म निकंदन तिहुं जग वन्दन
त्रिशलानन्दन घट-घट व्यापक घट मे बैठा
आवो उसे समर्पित करदे अक्षत-चन्दन।

जैनधर्म में अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय और साधु ये पांच परमेष्ठी माने गये हैं। ये जैनों के उपासनीय देव है। आत्मसाधना द्वारा जो ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय इन घातिया कर्मों का क्षय कर देते हैं वे अरिहन्त कहलाते हैं। इन अरिहन्तो मे जो ससार के कल्याण की उत्कट भावना के कारण सोलहकारण भावनाओ का चिन्तवन कर पूर्व जन्म मे सातिशय पुण्य प्रकृति तीर्थंकर प्रकृति का बध करते हैं वे तीर्थंकर बनते हैं। ऐसे तीर्थंकर प्रत्येक कालचक्र मे केवल 24 ही हो सकते हैं। इनके ही पच कल्याणक होते हैं। शेष के किसी के तीन किसी के दो कल्याणक होते हैं। धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति इन 24 तीर्थंकरो द्वारा ही होती है। इन कल्याणको के स्वरूप और भगवान महावीर के पच कल्याणकों के सम्बन्ध मे इस रचना में जानकारी दी गई है।

प्र० सम्पादक

पंच कल्याणकों का स्वरूप और भगवान महावीर

श्री आदित्य प्रचण्डिया 'दीति' एम ए, रिसर्चस्कॉलर, अलीगढ

जैन वाङ्मय मे प्रत्येक तीर्थङ्कर के जीवनकाल की पाच प्रसिद्ध एव महत्वपूर्ण घटनायें परिलक्षित होती हैं। इन्हे 'पच कल्याणक' नाम से सम्बोधित किया जाता है। ये कल्याणक जगत के लिए अत्यन्त कल्याणप्रद एव मगलकारी होते है। जो जन्म से ही तीर्थङ्कर प्रकृति के साथ अनुस्यूत हुये हैं उनके तो पाच ही कल्याणक होते हैं, परन्तु जिसने अन्तिम भव में ही तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध किया है उसके यथा सभव चार, तीन या दो कल्याणक ही होते हैं। इसका कारण यह है कि तीर्थङ्कर स्वभाव के प्रभाव मे साधारण साधको को ये कल्याणक नही होते हैं। जैन सस्कृति मे अवतारवाद के लिए कोई अवसर नही है। जीव का स्व कर्मानुसार उत्तरोत्तर विकास हुआ करता है। कल्याणक जीव को श्रेष्ठ परिणति का द्योतक है।

नव निर्मित जिन बिम्ब की शुद्धि हेतु जो पचकल्याणक प्रतिष्ठा पाठ किये जाते हैं वह उसी प्रधान पच कल्याणक की कल्पना मात्र है। जिसके प्रतिष्ठापन से प्रभु प्रतिमा मे वास्तविक तीर्थ की स्थापना होती है।

अब यहाँ इन कल्याणको का सक्षेप मे विवेचन करेंगे।

गर्भ कल्याणक

प्रभु के गर्भ मे आने से छ माह पूर्व से लेकर जन्म पर्यन्त पन्द्रह माह तक उसके जन्म स्थान पर इन्द्र के कोषाध्यक्ष कुबेर द्वारा प्रतिदिन तीन बार साढे तीन करोड रत्नो का वर्षण होता है। देवांगनायें माता की परिचर्या एव गर्भशोधन करती हैं। गर्भ-वाले दिवस से पूर्व रात्रि को माता को सोलह उत्कृष्ट स्वप्नो के अभिदर्शन होते हैं। इन स्वप्नो पर प्रभु का अवतरण निश्चय कर माता-पिता मुदित होते है।

जन्म कल्याणक

प्रभु का जन्म होता है। देवभवनो व स्वर्गों में अपने आ घण्टे बजने लगते हैं। इन्द्रो के आसन

कम्पायमान हो जाते हैं जिससे प्रभु के जन्म का निश्चय हो जाता है। इन्द्र व देव सभी का प्रभु के जन्म-महोत्सव मनाने हेतु बडी धूमधाम से इस भूलोक पर आगमन होता है। देवगण अपने-अपने स्थान पर ही सात पग आगे जाकर प्रभु को परोक्ष नमस्कार करते हैं। देवागनायें प्रभु के जातकर्म करती हैं। कुबेर नगर की अद्‌भुत साजसज्जा व शोभा में निमग्न होता है। इन्द्राणी प्रसूतिगृह मे प्रवेश करती है। माता को माया निद्रा मे सुलाकर उनके निकट एक मायामयी पुतला लिटा देती है। शिशु प्रभु को इन्द्र की गोद मे दे देती है। प्रभु के सौंदर्य का अवलोकन करने हेतु इन्द्र एक सहस्र नेत्र बनाकर भी सन्तुष्ट नही होता अपितु ऐरावत हाथी पर प्रभु को लेकर सुमेरु पर्वत की ओर चलता है। वहाँ पहुच कर पाण्डुक शिला पर शिशु प्रभु का क्षीरसागर से देवो द्वारा लाये गये जल के एक हजार आठ कलशो द्वारा अभिषेक करता है। तदनन्तर इन्द्र शिशु प्रभु को वस्त्राभूषण से अलकृत कर नगर में देवो सहित महान उत्सव के साथ प्रवेश करता है। शिशु के अगूठे मे अमृत भरता है और ताण्डव नृत्यादि अनेक मायामयी अद्‌भुत लीलायें प्रगट कर देवलोक को प्रस्थान कर जाता है।

तप कल्याणक

राज्य के वैभव को भोगने के उपरान्त एक दिवस किसी कारणवश प्रभु को वैराग्य उदय होता है। ब्रह्म स्वर्ग से लोकान्तिक देव आकर प्रभु को वैराग्य वर्द्धक उपदेश देते हैं। इन्द्र वस्त्राभूषण मे अलकृत करता है। कुबेर द्वारा निर्मित शिविका मे प्रभु स्वय विराजते है। शिविका पहले कुछ दूर तक भूलोक पर मनुष्यों द्वारा सचालित होती है फिर देवगण आकाश मार्ग से प्रभु पालकी ले चलते हैं। तपोवन में पहुचकर प्रभु वस्त्रालकार का परिहार्य कर केशो का लुचन करते हैं और दिगम्बर मुद्रा धारण करते है। प्रभु के साथ अनेक राजा दीक्षा लेते हैं। इन्द्र प्रभु केशो को एक मणि युक्त पिटारे में रखकर क्षीरसागर मे क्षेपण करता है। दीक्षास्थली तीर्थ-स्थली में परिणत हो जाती है।

प्रभु बेला, तेला आदि के नियमपूर्वक 'ऊ नम सिद्धेभ्य' का उच्चारण कर स्वय दीक्षा लेते हैं। नियम पूर्ण होने पर आहारार्थ नगर मे प्रविष्ट होते हैं और यथाविधि आहार ग्रहण करते हैं। दातार के निवास मे पचाश्चर्य अनुस्यूत होते हैं।

ज्ञान कल्याणक

यथाक्रम मे ध्यान की सीढियो पर आरूढ होते हुए चार घातिया कर्मों का नाश हो जाने पर प्रभु को केवल ज्ञान आदि अनन्त चतुष्टय लक्ष्मी प्राप्त होती है। तब पुष्पवृष्टि, दुन्दुभी शब्द, अशोक वृक्ष, चमर, भामण्डल, छत्रत्रय, स्वर्गसिहासन और दिव्य ध्वनि ये आठ प्रतिहार्य उदित होते हैं। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर समवशरण की सर्जना करता है। इस विचित्र सर्जना से जगत अचम्भित होता है। बारह सभाओ में यथास्थान देव, मनुष्य, मुनि, आर्यिका, श्रावक-श्राविका आदि सभी प्रभु के उपदेशामृत का पानकर जीवन सफलीभूत करते हैं।

प्रभु का विहार बडी धूमधाम से होता है। याचको को किमिच्छक दान दिया जाता है। प्रभु के चरण-कमल मे देवगण सहस्रदल स्वर्ण कमलो की रचना करते हैं और प्रभु इनको स्पर्श न करके अधर आकाश मे ही गमन करते है। आगे आगे धर्मचक्र चलता है। बाजे-नगाडे बजते हैं। पृथ्वी ईति भीति उन्मुक्त हो जाती है। इन्द्र राजाओ के साथ आगे आगे जय-जयकार करते चलते हैं। मार्ग मे मनोहारी क्रीडास्थल निर्मित किये जाते हैं। मार्ग अष्टमगल द्रव्यो से सुशोभित होता है। भामण्डल, छत्र, चमर स्वत साथ साथ चलते हैं। ऋषिगण अनुगमन करते है। इन्द्र प्रतिहारी बनता है। अनेक निधियाँ साथ हो लेती हैं। विरोधी अनुरोधी हो जाते हैं। अन्धे, बहरो को दिखने, सुनने लग जाता है।

निर्वाण कल्याणक

अन्तिम समय प्रभु योग-निरोध द्वारा ध्यान मे निश्चलता कर चार प्रघातिया कर्मों का भी नाश कर देते हैं और निर्वाण को प्राप्त होते हैं। देवगण निर्वाण कल्याणक की पूजा अर्चना करते हैं। प्रभु का शरीर कपूर की नाई उड जाता है। इन्द्र उस स्थान पर प्रभु के लक्षणों से युक्त सिद्धशिला का निर्माण करता है।

जैनधर्म के चौबीसवे तीर्थंकर भगवान महावीर के भी पच कल्याणक प्रसिद्ध है। उन सभी कल्याणको मे उपर्यङ्कित विशेषतायें परिलक्षित हैं। जैन भक्त्यात्मक लोक मे महावीर पूजन मे इन कल्याणको को नित्य गाया दुहराया जाता है। हिन्दी कवि वृन्दावनदास विरचित महावीर पूजन के आधार पर उनके कल्याणको का सक्षेप मे उल्लेख करेंगे।

टप्पाराग मे कवि ने गर्भकल्याणक मे स्पष्ट लिखा है कि अषाढ शुक्ला षष्ठी को महारानी त्रिशला के उर मे प्रभु ने गर्भ धारण किया जिसकी सुरपतियो द्वारा सब प्रकार से सेवा सुश्रूषा सम्पन्न हुई। यथा

> "गरभ साढ सित छट्ठ लियो तिथि,
> त्रिशला उर अघ हरना।
> सुर-सुरपति तितसेव करी नित,
> मैं पूजो भव तरना ।।"

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को प्रभु वर्द्धमान ने कुण्डलपुर नगर मे जन्म लिया। जन्मोत्सव को देवी-देवताओ के अतिरिक्त मनीषी मुनिजनो द्वारा पूजा-अर्चना की गयी। यथा

> "जनम चैत सित तेरस के दिन,
> कुण्डलपुर कन वरना।
> सुरगिर सुरगुरु पूज रचायो,
> मैं पूजो भय हरना ।।"

मार्गशीर्ष कृष्णादशमी को प्रभु ने तपश्चरण सम्पन्न किया और राजा के यहाँ पारणा प्राप्त की। इस घटना को लोक मे पूजा जाने लगा। यथा

> "मँगसिर असित मनोहर दशमी,
> ता दिन तप आचरना।
> नृप कुमार घर पारण कीनो,
> मैं पूजो तुम चरना ।।"

वैशाख शुक्ला दशमी को प्रभु द्वारा चार घातिया कर्मों का क्षय करके ज्ञान कल्याणक प्राप्त करना उल्लेखित है। केवल ज्ञान के बलबूते पर भव-भव के सकटो का समापन हो जाता है। यथा

> "शुकल दशैं वैशाख दिवस अरि,
> घात चतुक छय करना।
> केवल लहि भवि भवसर तारे,
> जजों चरन सुख भरना ।।"

पचम कल्याणक कार्तिक कृष्णा अमावस्या को सम्पन्न हुआ जिसमे प्रभु महावीर ने अपने पूर्ण कर्मों का क्षय करके आवागमन से मुक्ति पावापुर मे प्राप्त की है। यथा

> "कातिक श्याम अमावस शिवतिय
> पावापुर तैं वरना।
> गनफनि वृन्द जजे तित बहुविध
> मैं पूजो भय हरना।"

ये पच कल्याणक हमारी जीवन चर्या को प्रक्षालन करने के लिए महनीय काम करते हैं। इसीलिए इनका नित्य चिन्तवन भक्तजनो द्वारा जिन मदिरो मे सम्पन्न किया जाता है।

परम पूज्य श्री वर्धमान को

❀ हास्य कवि श्री हजारीलाल जैन "काका", पो० सकरार

स्वय प्रतीक बन महावीर ने जग को सद् उपदेश दिया था,
केवल परिग्रह त्याग कराने नग्न दिगम्बर वेष किया था,
भरता नही घाव वाणी का वाणी पर अनुशासन रक्खो,
बारह वर्ष मौन व्रत रख कर यही मूक सदेश दिया था,

खुद ही दु ख सह कर जीवो को जीने का विश्वास दिया था,
या यो समझो पतझर बनकर इस जग मधुमास दिया था,
जो हिंसा को धर्म मान कर अ धकार मे भटक रहे थे–
उसको सत्य अहिंसा वाला प्रबल, प्रखर, प्रकाश दिया था,

जिन्हे अछूत कहा करते थे माने जाते अशुचि अपावन,
जिनकी आँखों मे रहता था अत्याचारो से नित सावन,
धर्म नाम पर जिन्हे यज्ञ मे पशुओ के सग होमा जाता–
अभयदान देकर खुशियो का भोर उतारा उनके आगन,

जिनके चरणो मे ऋषि मुनिगण सदा लगाते रहे ध्यान को,
जिनके पद चिन्हो पर चल कर पाते रहते पूर्ण ज्ञान को,
जिनकी सद्वाणी के द्वारा ज्ञानामृत की धार बही थी–
'काका' कवि का कोटि नमन है परम पूज्य श्री वर्धमान को,

महापुरुष किसी काल विशेष अथवा व्यक्ति या सम्प्रदाय विशेष के नहीं होते। वो सबको समान भाव से देखते हैं। उनके लिए कोई छोटा/बड़ा नहीं होता। वो किसी को कष्ट देना नहीं चाहते। भगवान् महावीर भी ऐसे महापुरुषों में से एक थे। यह स्मारिका उन ही भगवान् महावीर की जन्म जयन्ती पर प्रकाशित हो रही है। बड़े बड़े उत्सव भी इस समय हो रहे होंगे। लेखिका की दृष्टि में, जो कि सच है जयन्ती मनाना तब ही सार्थक हो सकता है जब कि हम उनके बताये मार्ग पर चलें, धर्म को जीवन में उतारें।

प्र० सम्पादक

भगवान् महावीर

❀ श्रीमती सुशीला बाकलीवाल, एम ए, **जयपुर**

भगवान् महावीर हमारे 24वें एवं अन्तिम तीर्थङ्कर थे। वे तप प्रधान संस्कृति के उज्ज्वल प्रतीक हैं। भोगों से भरे हुये इस संसार में एक ऐसी स्थिति भी सम्भव है जिसमें मनुष्य का मन निरन्तर संयम और प्रकाश के सान्निध्य में रहता हो। इस सत्य की विश्वसनीय प्रयोगशाला भगवान् महावीर का जीवन है।

भगवान् महावीर का युग विश्व के धार्मिक जगत् में एक अद्भुत क्रान्ति तत्व चिंतन एवं दार्शनिक विचार बाहुल्य का युग था। जब स्वार्थ की आड़ में दुराचार, अत्याचार संसार में फैल जाता है, दीन-हीन निशक्त प्राणी निर्दयता की चक्की में पिसने लगते हैं रक्षक जन ही उसके भक्षक बन जाते हैं। स्वार्थी दयाहीन मानव धर्म की धारा अधर्म की ओर मोड़ देता है। दीन-असहाय प्राणियों की करुण पुकार जब कोई नहीं सुनता, तब प्रकृति का करुण स्रोत बहने लगता है। वह ऐसा पराक्रमी साहसी वीर ला खड़ा करती है जो अत्याचारियों के अत्याचार को मिटा देता है, दीन दुःखी प्राणियों का संकट दूर करता है और जनता को सत्पथ दिखाता है। ऐसे ही थे हमारे भगवान् महावीर।

भगवान् महावीर क्षत्रिय राजा सिद्धार्थ के पुत्र थे। वैशाली जनपद के मुख्य नगर कुण्डग्राम में उनका जन्म हुआ था। आपकी माता का नाम त्रिशला देवी था। एक सर्वसाधन सम्पन्न राजकुल में सांसारिक वैभव के मध्य जन्म ग्रहण करने के उपरान्त भी बालक महावीर का मन भौतिकता के प्रति नितान्त विरक्त रहा। आप बाल ब्रह्मचारी थे और तीस वर्ष की अवस्था में ही आपने सन्यास धारण कर बारह वर्ष तक कठोर तपस्या कर जंगलों में भटकते हुए अपने कर्मों का क्षय किया, इन्द्रियों को वश में किया और 42 वर्ष की अवस्था में केवलज्ञान प्राप्त कर सच्चे सुख की प्राप्ति की। तत्पश्चात् जनता को अपने उपदेशामृत से प्लावित करते हुये लोगों को सही राह दिखाते हुये तत्कालीन कुरीतियों का एवं ब्राह्मणवाद का घोर विरोध करते हुए विहार करते रहे। महावीर के अहिंसावादी उपदेशों ने प्राणिमात्र को अमानुषिक अत्याचारों से सान्त्वना ही नहीं दी, वरन् उनके

लिये विकास का नवमार्ग भी प्रशस्त किया। उन्होने प्राणी मात्र को करुणा व समानता का मूल मन्त्र दिया। उनका 'जीवो और जीने दो" का महान् सन्देश इसी दृष्टि का परिचायक है। उनकी अहिंसा का अर्थ कायरता नही है। अत्याचारी को दण्ड देना हिंसा नहीं है उनकी अहिंसा क्षमा में निहित है। इसी अहिंसा के सिद्धान्त ने तत्कालीन मानव समुदाय का सफलतापूर्वक मार्ग प्रशस्त किया था और इसी सिद्धान्त की आज के मानव को भी अत्यधिक आवश्यकता है क्योकि आज एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को हडपना चाहता है। एक मानव दूसरे मानव को अविश्वास की दृष्टि से देखता है। क्षण मात्र मे मानव सभ्यता को ही नष्ट कर सकने मे समर्थ अनेकानेक हथियारो का आविष्कार हो चुका है। युद्ध तथा हिंसा द्वारा शक्ति प्राप्ति का परीक्षण असफल हो चुका है। ससार के बुद्धि-जीवी स्थायी शान्ति की खोज मे प्रयत्नशील हैं। ऐसे समय मे भगवान् महावीर का 'अहिंसा परमो-धर्म" का सिद्धान्त ही विश्व मे शान्ति स्थापित कर सकता है।

भगवान् महावीर का दूसरा सिद्धान्त "अपरि-ग्रहवाद" हमारी समाजवाद की भावना को बल देता है। आवश्यकता से अधिक वस्तु का परि-त्याग ही अपरिग्रह है। 'अनेकान्त' भी भगवान् महावीर के मुख्य सिद्धान्तो मे एक है। 'नारी पुरुष समानता" के सिद्धान्त के भी आप हामी थे। एक बार भगवान् महावीर भ्रमण करते करते कौशाम्बी नगरी मे आहार के लिये निकले। चन्दना उसी नगर मे एक सेठ के यहाँ बन्दी थी। उसकी भावना भगवान् को आहार देने के लिये हुई और उस भावना के फलस्वरूप उसकी बेडिया टूट पडी और उसने भगवान् को आहार देकर पुण्य बध किया। भगवान् का समवशरण भी नारी समानता का द्योतक है। समवशरण मे पुरुष के बराबर नारी को भी भगवान् की वाणी सुनने का समान स्थान था। पुरुष की भाति स्त्री भी महाव्रत अगी-कार कर अपने कर्मों का आस्रव रोकने की अधि-कारी है। भगवान् महावीर ने अपने उपदेशो के द्वारा "नारी समानता" पर बल दिया है।

भगवान् महावीर का व्यक्तित्व केवल जैनियों के लिये ही नही, अपितु समूचे विश्व के लिये एक आदर्श है। आपके व्यक्तित्व मे चन्द्र की शीतलता, वन की उदासीनता सागर की गम्भीरता, हिमालय की उच्चता तथा आध्यात्मिकता की वीरता विराजमान है। प्रेम उनके चरणो मे अठखेलिया करता है। दया मुस्कराती है, करुणा द्रवीभूत होती है एव श्रद्धा स्वय नतमस्तक होती है। आपके व्यक्तित्व पर छाये हुये अखण्ड तेज को देख कर आँखे स्वत चकाचौंध हो जाती हैं। मस्तक झुक जाता है श्रद्धा उमड पडती है। आँख बन्द कर आपका ध्यान करने पर असीमित आनन्द की प्राप्ति होती है। ऐसा लगता है मानो अहिंसा का अस्त्र लिये हुये सत्य का तप करते हुये अडिग मौन तपस्वी सम्मोहन की वशी का स्वर गुजारित करने के लिये समस्त ससार की हृदयतन्त्री की वीणा के तार झंकारने के लिये सन्नद्ध एकाग्रचित एव प्रतिज्ञाबद्ध आसीन हैं।

हमारा जयन्ती मनाना तभी सार्थक होगा जब हम भगवान् महावीर की अहिंसा को अपने अन्तरग मे ढाले, तथा "जीवो और जीने दो" के सन्देश को यथार्थ रूप प्रदान करें, अहिंसा के मार्ग पर चले, जिससे विश्व को एक नया रूप मिले एव महावीर के सन्देशो को जन-जन तक पहुचावे। तभी हमारा जीवन सार्थक होगा तथा समाज एव राष्ट्र उन्नत होगा। ●

भगवान् महावीर नाम निक्षेप से ही नहीं भाव निक्षेप से भी महावीर थे। निर्वाण प्राप्ति का परम पुरुषार्थ उन्होंने किया था। इसीलिए वे वीर ही नहीं महावीर थे क्योंकि ऐसा पुरुषार्थ वह ही कर सकता है जिसमे अद्भुत् अतुल्य शक्ति हो। मानव जीवन का चरम लक्ष्य निर्वाण अर्थात् आत्मा की परमानन्दमयी स्थिति को उन्होने राग द्वेष से रहित हो, वीतराग बन प्राप्त किया था। बिना राग के नष्ट हुए कोई भी मुक्त नहीं हो सकता। इसीलिए जैनधर्म में सरागता तथा बाह्य भेश, आडम्बर आदि की पूजा नही है।

प्र सम्पादक

भगवान् महावीर, वीतरागता और निर्वाण

डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच

यह सच है कि आज से लगभग 2600 वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन महावीर या बर्द्ध-मान का जन्म हुआ था, किन्तु इससे अधिक सत्य यह है कि हम जिस महावीर की उपासना,, अर्चना करते हैं, वह क्षत्रियकुमार न होकर वीतरागता का आदर्श था। इस लिये उनके जीवन और व्यक्ति-त्व को हम किन्ही घटनाओ मे बाध कर वास्तविक रूप मे प्रस्तुत नही कर सकते। घटनाओ मे भी कहा जायगा, वह बाहर से समझा हुआ स्थूल होगा। उस बाह्य जीवन की नकल कर हम असल महावीर को नही खोज सकते। यही कारण प्रतीत होता है कि जैन पुराण-साहित्य मे महावीर के जीवन से सम्बन्धित सम्पूर्ण घटनाए नही मिलती। घटनाओ से हम केवल इतना ही जान पाते हैं कि 'क्या हुआ', क्यो और कैसे हुआ—यह उन रेखाओ के चित्रण से परे की बात है। अतएव महापुरुषो के जीवन की जो भी घटनाए बताई जाती हैं, वे केवल उनके महत्त्व प्रदर्शन के लिए होती हैं अथवा उनको ही अतिशयोक्ति पूर्वक वर्णित किया जाता है। उन मे तथ्य की अपेक्षा भक्ति का अधिक योग होता है। फिर घटनाए तो सबके जीवन मे भिन्न भिन्न होती हैं। किन्ही घट-नाओ के घटने के कारण कोई महान् बनता हो, तो केवल घटनाए ही रह जायेंगी, व्यक्तित्व नि शेष हो जायगा। चमत्कार-प्रदर्शन करना तो बहुत आसान है, युक्ति मात्र से चमत्कार दिखलाया जा सकता है। किन्तु आदर्श प्राप्त करना सचमुच कठिन होता है। इससे यह स्पष्ट है कि हजारो वर्षों के पश्चात् भी हम महावीर को इसलिए नही मानते कि वे चमत्कारी थे, उन में कोई अलौकिक सिद्धि थी, देवता लोग आकर उनकी स्तुति-वन्दना करते थे या वे स्वय आकाश मे गमन करते थे। ये बातें तो एन्द्रजालिक में भी देखी जा सकती हैं। इसी-लिये इन चमत्कारो, अतिशयों, आश्चर्यो या वैभव पूर्ण ऋद्धियो के कारण वे महान् नहीं हैं। उनकी महत्ता के दो ही प्रमुख लक्षण है—वीतरागता और सर्वज्ञता। वीतरागता ही उनका परम आदर्श था जिसे वे उपलब्ध होकर स्वय वीतराग बने और

इसीलिये हमारे पूज्य हैं।

जैनधर्म मे सरागता की पूजा नहीं है, बाहरी वेश और आडम्बर की पूजा नहीं है, पूजा है सच्चे निर्ग्रन्थ दिगम्बर गुरु-देव की जो वीतरागता के परम शिखर थे, त्याग और तपस्या के हिमालय थे और जिन्होने सब प्रकार से अकिंचन हो अपने चैतन्य भास्कर का अलौकिक प्रकाश प्रकट कर ज्ञान चेतना का उद्योतन किया था। जो स्वय समयसार थे और जिन्होने आत्मज्ञान की पूर्ण उपलब्धि कर बिना किसी अपेक्षा के ससार को सुख व कल्याण का मार्ग बताया था। जिस बीमारी के कारण ससार के सब लोग दुखी है, उसे उन्होने समझा था, उसका स्वय निदान किया था और अपने पुरुषार्थ से महामोह नाम की बीमारी को मिटा कर वीतरागता के महान् वैद्य बने थे। वे आजकल के डाक्टर और वैद्य के समान नही थे, जो स्वय बीमार रहते है और पैसे के खातिर दूसरो का इलाज करते हैं। वास्तव मे स्वस्थता प्राप्त कराना ही धर्म व आरोग्यशास्त्र का उद्देश्य है। आत्मा स्वय धर्मस्वरूप है। धर्म किसी क्रिया मे, पूजा-पाठ मे, आलोचना-स्तुति मे, जाति-कुल मे, प्रशसा प्रदर्शन मे न होकर आत्म स्वभाव की उज्ज्वलता को व्यक्त करने मे है।

यदि एक शब्द मे कहना हो तो इसमे कोई सन्देह नहीं कि महावीर व्यक्ति थे। हम और आप नाम के ही व्यक्ति हैं, किन्तु महावीर सचमुच व्यक्ति थे, पूर्ण व्यक्ति थे। शक्ति रूप से तो हम और आप सभी महावीर हैं। क्योकि सभी प्राणियो की आत्मा मे अनन्त शक्तिया हैं, अनन्त गुण है अनन्त सुख है, किन्तु वे सभी सुप्त हैं। महावीर ने उनको अपने ज्ञान-पुरुषार्थ से व्यक्त कर लिया था। पूर्ण रूप से प्रकट कर उस परम ज्योति को प्रकाशित कर दिया था। इसलिये उनका व्यक्तित्व पूर्ण कहा जा सकता है, वह किन्ही घटनाओ की वस्तु नही है। वास्तव में घटनाओ के प्रकाशन में कथ्य तिरोहित हो जाता है। सूर्य जैसे महान् व्यक्तित्व के सत्य को क्या हम किसी घटना से अधिक प्रकाशित कर सकते है? जैसे सूर्य अपने आप मे सत्य है, उसी प्रकाश को बताने के लिए कोई रोशनी नही फेंकनी पड़ती है उसी प्रकार महावीर अर्हन्त केवलज्ञान दिवाकर स्वय ज्ञान सूर्य थे, स्वय सत्य थे उस अप्रतिम प्रकाश को हम अपने तुच्छ ज्ञान से क्या प्रकाशित कर सकते हैं।

वीतरागता नितान्त वैयक्तिक है। अध्यात्म की शुद्ध दृष्टि के बिना आत्म तत्त्व व वीतरागता समझ मे आती नही है। आज के भौतिक जगत् मे जन्म जयन्तिया या निर्वाण तिथिया मनाना एक फैशन सा हो गया है। इस प्रदर्शन मात्र से हमारा भला नही हो सकता है। सम्भव है कि आप व्यापारी हो, और इसमे भी व्यापार का कोई उपाय निकाल कर यह कहे कि लाभ कैसे नही है? ठीक है, लाभ लेने वाला चाहिये, हरेक काम से लाभ मिल सकता है। किन्तु प्रदर्शन मात्र से आत्मा का कोई भला नही होने वाला है।

भगवान् महावीर के दो ही उपदेश मुख्य हैं, जिनकी विलक्षणता को देखकर हम अन्य भारतीय धर्म व दर्शनो से जैनधर्म को भिन्न निरूपित कर सकते है। वे विशेषताए हैं—स्वतन्त्रता और वीतरागता। जैनधर्म की स्वतन्त्रता अद्भुत है। अणु मात्र मे लेकर पेड़-पौधे, कीड़े-मकोडे खान-चट्टानें-पर्वत आदि प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्रता का दिव्य गान जैन आगम-ग्रथो मे भरा पडा है। स्वतन्त्रता भी ऐसी कि अणु मात्र भी कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ को परिणमा नहीं सकता है। सभी वस्तुओ का परिणमन स्वाधीन है। कोई किसी के आधीन नहीं हैं यह ऐसा क्रान्तिमूलक विचार है कि कोई सत्यार्थद्रष्टा ही इसे निरूपित कर सकता है। अनन्त वर्षों की काल-कसौटी पर

यह अच्छी तरह से कसा जा चुका है, परखा जा चुका है। और आज भी विज्ञान जगत् के लिए यह चुनौती है। इस विचार-दर्शन को भलीभांति समझ लेने पर लोक-रचना, विश्व का निर्माण और वस्तु के स्वरूप को समझाने मे बडी सरलता हो जाती है और अन्धविश्वास तथा रूढिवादिता के स्थान पर तर्कपूर्ण एक वैज्ञानिक विज्ञान सामने आ जाता है। इसलिये यह कहने मे कोई सकोच नही होता कि भगवान महावीर का अध्यात्म विज्ञानो का भी विज्ञान था।

तीर्थंकरो का यह उपदेश सचमुच विशुद्ध सत्य है। जब तक हमे पूजते रहोगे, तब तक हम जैसे नही बन सकते। भगवान महावीर ने भी यही देशना दी थी कि सच्चे देवो की पूजा करने से स्वर्ग मिल सकता है, किन्तु साक्षात् निर्वाण की प्राप्ति तो आत्मा की अनुभूति से होगी। जहा ज्ञानानन्द की अनुभूति है, वहा ससार के सब प्रकार के सुख समय मात्र मे नि सार प्रतीत होने लगते हैं। आत्मा का अनुभव सच मे विलक्षण है। आत्मानुभूति के द्वारा ही वीतरागता की प्राप्ति होती है, शुद्धोपयोग की दशा बनती है और चैतन्य आत्मा अपनी ज्ञानचेतना मे निश्चल हो जाती है। यह अनुभूति पर के आश्रय से प्राप्त नही हो सकती, स्वाश्रयी प्रवृत्ति से ही उपलब्ध होती है। इसलिये अध्यात्म-मार्ग मे स्वाधीनता को आवश्यक ही नही, अनिवार्य माना जाता है। आचार्यदेव समझाते हुए कहते है कि इस आत्मा मे राग-द्वेष रूप दोषो की जो उत्पत्ति होती है, उसमे अन्य किसी का कोई दोष नही है। यह अपराध तो स्वय इस जीव के अज्ञान का है, आत्मा स्वय अपराधी है। किन्तु यह ज्ञान होते ही कि मैं तो ज्ञान हूँ अज्ञान अस्त हो जाता है। जो अज्ञानी जीव राग की उत्पत्ति मे पर द्रव्य को ही कारण मानते हैं, अपना कारणपना स्वीकार नही करते, उनकी बुद्धि शुद्ध ज्ञान से रहित अन्ध है और वे मोह-नदी को पार नही कर सकते। इस प्रकार वीतरागता की उपलब्धि मे शुद्ध ज्ञान बहुत बडा कारण है। किन्तु यह शुद्ध ज्ञान शुद्धदृष्टि से मिल सकता है। शुद्ध दृष्टि का ही शास्त्र की भाषा मे निश्चय नय कहा गया है। भगवान महावीर के इस तत्व-उपदेश म ही उनकी वीतरागता और सर्वज्ञता की झलक मिल जाती है। क्योकि उन्होने सब एजेन्सियो को नकार कर एक मानव को ही नही, प्राणी मात्र को अपने आप की एजेन्सी बताया और कहा कि "जो अप्पा सो परमप्पा" जो आत्मा है, वही परमात्मा है। वस्तु मे दोनो मे कोई भेद नही है।

भगवान महावीर का दर्शन कोई उलझन म डालने वाली शाब्दिक लकीर या प्रश्न नही है। यह तो सहज अनुभव का स्वारस्य है जो अखण्ड चिदानन्द चैतन्य तत्व का दर्शन कराता है और जिसके उपलब्ध हो जाने पर अन्य कोई उपलब्धि अवशिष्ट नही रहती। यद्यपि वस्तु को खरीदते समय मन मे अनेक विकल्प उठते है, किन्तु खरीद कर उपयोग करते समय कोई विकल्प नही रह जाता। इसी प्रकार तत्व के अन्वेषण के समय मे अनेकानेक विकल्प उत्पन्न होते हैं, किन्तु तत्त्व-निर्णयपूर्वक आत्मा मे तन्मय हो जाने पर कोई विकल्प नही रह जाता, इसलिये आत्मानुभव-काल मे वह अनुभव परोक्ष न होकर प्रत्यक्ष ही होता है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार दोनो दृष्टियो को लेकर अनेकान्त सिद्धान्त को प्रस्तुत किया और बताया कि जैनधर्म अनेकान्तमयी है। वस्तु मे अनेक धर्म होते है। उन धर्मों का उद्योतन करने वाला अनेकान्त सिद्धात है। किन्तु यह सिद्धात वस्तु के सत्य को प्रकट करने वाला है, जो वस्तु नही है, उसे अनेकान्त सिद्धान्त मे वर्णित नही किया जा सकता। सक्षेप मे, अनेक युक्तियो, तर्क और प्रमाण के आधार पर जैनधर्म का जो विवेचन

किया गया है, सचमुच अद्भुत है, आश्चर्य है। ऐसा कथन केवल सर्वज्ञ ही कर सकते हैं, यह विश्वास अपने आप ही पैदा हो जाता है और यही इस धर्म की सब से बडी महत्ता है।

स्वाधीनता का उपाय

जैनदर्शन व अध्यात्म का उद्देश्य है–सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र स्वाधीन होना। स्वाधीनता कहीं से लाने की आवश्यकता नहीं है। स्वतन्त्रता कही बाहर से नही मिल सकती है। पर पदार्थों के सयोग से मिलने वाली स्वतन्त्रता अस्थायी होती है। क्योंकि उस स्वतन्त्रता का सम्बन्ध पर पदार्थों के टिकने तक रहता है और पर-पदार्थों का सयोग सम्बन्ध कभी शाश्वत नहीं होता। इसलिये उन से मिलने वाली स्वतन्त्रता भी नित्य नहीं होती है। हा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता ही वास्तविक है। इस प्रकार की सम्पूर्ण स्वाधीनता निर्वाण की स्थिति मे उपलब्ध होती है। निर्वाण किसी स्थान या भाव विशेष का नाम नही है। यह तो वस्तु की वह स्वाभाविक स्थिति है, जिसकी शुद्धता व स्वतन्त्रता के कारण उसका अपना अस्तित्व है और अन्य वस्तुओ से उसे पृथक कर देखा जा सकता है। इस स्वाधीनता को पाने के लिए वस्तु स्वभाव तक पहुचना होता है। वस्तु-स्वभाव तक पहुंचने के लिए वस्तु की द्रव्य-दृष्टि अपनानी होती है। द्रव्य की शुद्ध दृष्टि के बिना द्रव्य को नही समझा जा सकता है। हालाकि द्रव्य को समझना जितना आवश्यक है, उससे कहीं अधिक आवश्यक पर्याय को समझना है। स्वभाव-विभाव पर्यायो का बोध हुए बिना हमारी दृष्टि बाहरी धरातल पर ही भटकी रहती है। किन्तु पर्याय की निर्मलता को जानकर द्रव्य की शुद्ध दशा से एकत्व करने के लिए उसे त्याग देना पडता है। क्योंकि जिनकी दृष्टि व्यवहार मे ही मोहित हो रही है, वे पुरुष सच में परमार्थ को नही जानते हैं। जो धान के छिलको पर ही मोहित हो जाते हैं, वे वास्तविक चावलो को नही जान पाते हैं। किन्तु जो पुरुष किसी भी प्रकार से मोह के दूर होने पर शुद्ध चैतन्य मात्र ज्ञान-चेतना का आश्रय ले कर साधकपने को प्राप्त होते हैं, वे निर्वाण को प्राप्त कर सिद्ध हो जाते हैं। परन्तु जो मोही, अज्ञानी, विपरीत श्रद्धानी मिथ्यादृष्टि हैं, वे इस भूमिका को प्राप्त न कर ससार में ही परिभ्रमण करते रहते हैं।

निश्चय ही भगवान् महावीर ने ज्ञाननय के द्वारा परमतत्व को पहचान कर स्वसवेदनमयी परम स्थिति को प्राप्त किया था जिसे योगी जन "निर्विकल्प समाधि' कहते हैं, जो परमानन्दमयी स्थिति है, जिसे एक बार उपलब्ध हो जाने पर फिर से सासारिक सुख-दुःख की बाधा नही पडती है अपने ही अक्षय, अविनाशी, परम सुख मे सदा आत्मा लीन रहती है और उस परमानन्द का ही सतत भोग करती रहती है। यही निर्वाण की स्थिति कही जाती है, जिसमे आत्मा सब प्रकार के कर्म-मलो से मुक्त हो अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति के प्रकट हो जाने पर सच्चे सुख को उपलब्ध हो जाती है।

मुक्तक

तेता आरम्भ ठानिए, जेता तन मे जोर।
तेता पांव पसारिये, जेती लांबी सोर॥

जैनधर्मानुसार कोई भी मानव तदनुरूप आचार द्वारा कर्म बन्धन से मुक्त हो सिद्ध बन सकता है। यह आत्मा की सर्वोच्च शुद्ध अवस्था है। किन्तु प्रत्येक मोक्षगामी तीर्थंकर नहीं हो सकता 148 कर्मप्रकृतियों में तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर्मभूमि के मनुष्य के केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में होता है। संसार के उद्धार तथा दुःखी जीवों को सन्मार्ग बता कर उनके कल्याण करने की उत्कट भावना ही अतिशय पुण्यशाली तीर्थंकर प्रकृति के बंध का कारण है। सेवक ही स्वामी बन सकता है। दर्शन विशुद्ध आदि सोलह भावनाओं के चिन्तवन करने तथा अपायविचय नामक धर्मध्यान होने पर महान् पुण्यशाली तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव होकर बंध होता है। अतः अपना कल्याण चाहने वाले में पर कल्याण की तीव्र भावना होना आवश्यक है।

प्र० सम्पादक

जैन धर्म और कर्म सिद्धांत : तीर्थंकर की प्रकृति का महत्व

❀ परमपूज्य आर्यिकारत्नश्री ज्ञानमती माताजी

शरीरी प्रत्येक भवति भुवि वेधा स्वकृतितः।
विधत्ते नानाभूपवनजलवन्हिद्रुमतनुम्।
त्रसो भूत्वा भूत्वा कथमपि विधायात्र कुशलम्।
स्वयं स्वस्मिन्नास्ते भवति कृतकृत्यः शिवमयः॥

इस संसार में प्रत्येक शरीरधारी प्राणी स्वयं ही ब्रह्मा है क्योंकि प्रत्येक जीव अपने-अपने शुभ-अशुभ कार्यों के द्वारा स्वयं अपनी-अपनी सृष्टि का निर्माण करता रहता है। कभी यह जीव अनेक प्रकार की पृथ्वी के शरीर-माणिक्य, हीरा, मरकत वैडूर्य आदि रत्नरूप को धारण कर लेता है कभी यह जीव पवन के शरीर को, कभी जल के शरीर को, कभी अग्नि के शरीर को और कभी नाना-प्रकार के फल पुष्प, लता, वृक्षादि रूप वनस्पति के शरीर को धारण करता रहता है। यही जीव कभी त्रस होकर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय अथवा पंचेंद्रिय पर्याय को धारण करता है। कदाचित् बड़ी मुश्किल से कभी यह कुशल पुण्य कर्म को उपार्जित करता है तब यह सम्यक्त्व रूपी विधि को भेदाभेद रूप रत्नत्रय को प्राप्त करके स्वयं ही स्वयं में स्थित हो जाता है तभी कृतकृत्यपूर्ण स्वस्थ होता हुआ शिवमय हो जाता है।

जैन सिद्धांत के अनुसार विश्व के नेता परम तीर्थंकर बनने के उपायों को समझने वाला और तदनुरूप प्रवृत्ति करने वाला कोई भी व्यक्ति अपने आप को उस महान् पद का अधिकारी बना सकता है। जो भव्यजीव सच्ची करुणामयी भावना से जगत् के उद्धार की चिंता करते हैं सचमुच में वे ही महापुरुष अनंत प्राणियों के उद्धार में समर्थ ऐसे तीर्थंकर बन जाते हैं।

श्रेयोमार्गानभिज्ञानिह भवगहने जाज्वलद्दुःखदाव-
स्कंधे चक्रम्यमाणानतिचकितमिमानुद्धरेयं वराकान्।
इत्यारोहत्परानुग्रहरसविलसद्भावनोपात्तपुण्य-
प्रक्रांतैरेव वाक्यैः शिवपथमुचितान् शास्ति योऽर्हन्
स नोऽव्यात्॥[1]

जहा पर दु ख रूपी दावानल अग्नि अतिशय रूप प्रज्वलित हो रही है-धधक रही है ऐसे इस ससाररूपी गहन वन मे बेचारे ससारी प्राणी जो कि मोक्षमार्ग से अनभिज्ञ है वे अतिशय रूप से घबराये हुये है और इस दु खरूपी अग्नि में भुलस रहे हैं, मैं 'इन बेचारो का उद्धार करू' इस प्रकार से पर के ऊपर अनुग्रह करने की उत्कट भावना से उत्पन्न हुआ जो पुण्य है उस पुण्य के महात्म्य से ही कालातर मे अपने वचनो के द्वारा जो भव्य जीवो को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं वे अर्हंत भगवान् हमारी रक्षा करें।

यहा तीर्थंकर प्रकृति के लिये कारणभूत अपायविचय धर्म्यध्यान का बडा ही सुन्दर विवेचन किया है। वास्तव मे जिनके हृदय मे सच्ची करुणा उमडती है वे ही भव्य जीवो के अपाय अर्थात् कष्ट को दूर करने की भावना कर सकते हैं अन्य नही। विश्व मे ऐसे भी प्राणी हैं जो सतत् परोपकार ही करना चाहते हैं किंतु सत्यमार्ग की या अपने हित की जिन्हे कुछ जानकारी ही नही है। ऐसे लोग इस अपायविचय धर्मध्यान के अधिकारी नही हो सकते हैं।

धर्म के सच्चे नेता बनने के लिये सोलह कारण भावनायें बतलाई गई हैं। उनके नाम और लक्षण सक्षेप मे इस प्रकार हैं—

1 **दर्शनविशुद्धि**—शका, काक्षा विचिकित्सा, मूढदृष्टित्व, अनुपगूहन, अस्थितीकरण अवात्सल्य, अप्रभावना ये आठदोष, ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, ऐश्वर्य, रूप, बल और तपश्चर्या इन आठो के आश्रय से आठ प्रकार का मद, कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु तथा इनके सेवक ऐसे छह अनायतन और देवमूढता गुरुमूढता तथा लोकमूढता ये तीन मूढतायें ऐसे 8 + 8 + 6 + 3 = 25 दोष सम्यक्त्व के माने गये हैं। इन मलदोषो से रहित निशकित आदि आठ अगसहित और प्रशम, सवेग आदि आठ गुणो सहित विशुद्ध सम्यग्दर्शन को धारण करना ही दर्शन विशुद्धि भावना है।

2 **विनयसम्पन्नता**—ज्ञान, दर्शन चारित्र और तप तथा इनके धारको मे सतत् विनय करना विनय सम्पन्नता भावना है।

3 **शीलव्रतेष्वनतिचार**—पाच महाव्रत या अणुव्रतो मे तथा इनके रक्षक गुणव्रत आदि शीलो मे अतीचार नहीं लगना।

4 **अभीक्ष्णज्ञानोपयोग**—हमेशा जिनेंद्र भगवान के वचन रूप परम रसायन का पान करते रहना।

5 **सवेग** ससार, शरीर और भोगो को दु खदायी जानकर इनसे विरक्त होना।

6 **शक्तितस्त्याग**—अपकी शक्ति के अनुसार आहार, औषधि अभय और ज्ञान का दान देना।

7 **शक्तितस्तप**—शक्ति के अनुसार बारह प्रकार के तपो का अनुष्ठान करना।

8 **साधु समाधि**—रोग या श्रम आदि के निमित्त से असमाधि को प्राप्त हुये साधुओ के अनुकूल प्रवृत्ति, सेवा उपदेश आदि के द्वारा उनके चारित्र की रक्षा करना।

9 **वैयावृत्यकरण**—आचार्य उपाध्याय, तपस्वी, रुग्ण आदि साधुओ की प्रासुक औषधि आदि से सेवा शुश्रूषा करना।

10 **अर्हंत भक्ति**—छयालीस गुण विशिष्ट अर्हंत देव की स्तुति, वदना आदि के द्वारा भक्ति करना।

11. **आचार्य भक्ति**—सघ के अधिपति दिगम्बर आचार्यों की भक्ति करना।

12 **बहुश्रुतभक्ति**—बहुश्रुतवत मुनियो की भक्ति करना।

13 **प्रवचन भक्ति**—जिनवाणी की भक्ति, पूजा आदि करना।

14 **आवश्यक अपरिहारिण**—सामयिक, स्तुति, बदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक क्रियाओं को यथासमय और यथाविधि करना ।

15 **मार्ग प्रभावना**—ज्ञान, पूजा, तप आदि के महात्म्य से सदैव जैन शासन की प्रभावना करते रहना ।

16 **प्रवचनवत्सलत्व**—जिनेंद्र देव के प्रवचन के आधारभूत चतुर्विध सघ मे गोवत्स के समान अकृत्रिम स्नेह रखना ।

इन भावनाओं मे प्रथम दर्शन विशुद्धि भावना प्रधान है उसके बिना अन्य भावनायें तीर्थंकर प्रकृति के लिये कारण नही हो सकती हैं और उस एक भावना के होने पर अन्य भावनायें स्वय ही आ जाती है । अथवा दर्शन विशुद्धि सहित कतिपय भावनाये भी तीर्थंकर प्रकृति के बध कराने मे समर्थ हैं । तीर्थंकर प्रकृति ऐसी अतिशयशाली प्रकृति है जिसके सत्ता मे ही रहने पर तीनो लोको म क्षोभ करने वाला महान् चमत्कार प्रकट होने लगता है ।

गर्भ मे आने के छह महीने पहले से ही माता के आगन मे रत्नो की वर्षा, देवो द्वारा गर्भ महोत्सव और जन्म महोत्सव तथा दीक्षा महोत्सव का किया जाना आदि कार्य होने हैं । तीर्थंकर प्रकृति का उदय तो तेरहवे गुणास्थान मे अर्हंत अवस्था होने पर होता है । पुन ही तीर्थंकर प्रकृति के उदय आने पर वे भगवान् अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा सात सौ अठारह भाषाओं मे अथवा सख्यातो भाषाओं मे भव्यजीवो को हित का उपदेश देते है । ये भगवान् ही मोक्षमार्ग के सच्चे नेता कहलाते हैं । ये अखिल तत्व के ज्ञाता होते हैं और कर्मरूपी पर्वत को चूर्ण करने वाले होते हुए भी परम वीतरागी होते हैं ।

इसीलिये ये तीन विशेषणो के द्वारा नमस्कार किये जाते हैं—

मोक्षमार्गस्य नेतार, भेत्तार कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातार विश्वतत्त्वाना वदे तद्गुणलब्धये ॥

जो मोक्षमार्ग के नेता हैं, कर्मरूपी पर्वत के भेदन करने वाले हैं और विश्वतत्त्व के ज्ञाता है मैं उनके गुणो की प्राप्ति के लिये उनकी वदना करता हू ।

छत्रपुर के महाराजा नद एक समय प्रोष्ठिल मुनिराज की वदना के लिये गये । उनके धर्मोपदेश श्रवण कर जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करली पुन घोराघोर तपश्चरण करत हुये इन सोलहकारण भावनाओं को भाके तीर्थंकर प्रकृति का बध कर लिया । ये ग्यारह अग ज्ञान के धारक थे अत मे प्रायोपगमन सन्यास से मरण करके सोलहवें अच्युत-स्वर्ग मे देवो से पूजित अच्युतेन्द्र हो गये । वहा की बाईससागर प्रमाण आयु को पूर्ण कर इस भरत क्षेत्र के विदेह नामक देश के अतर्गत कुडपुर ग्राम के अधिपति महाराजा सिद्धार्थ की महारानी प्रियकारिणी के गर्भ से तीर्थंकर के अवतार मे अवतरित हुये और अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर कहलाय । इस प्रकार से इस कर्म सिद्धात पर विश्वास करने वाला कोई भी व्यक्ति अपने को उत्तम से भी उत्तम ऐसे सर्वोत्तम तीर्थंकर के रूप में बना सकता है ।

युगों युगों तक अमर रहेगा महावीर संदेश तुम्हारा

❀ पं० अनूपचन्द न्यायतीर्थ, जयपुर

तुमने जग की अस्थिरता को
देखा, उस पर ध्यान दिया।
झांक झांक अपने अन्तर में
उसका गहरा मनन किया है ॥
फिर वाणी में हुई प्रस्फुटित वह चिंतन की अनुपम धारा ॥
कौन किसी का करने वाला
हरने वाला कभी बना है
कर्त्ता हर्त्ता स्वयं आप ही
स्वामी स्वयं आप अपना है ॥
पूर्ण स्वतन्त्रता, पराश्रित होकर क्यों फिरता है मारा मारा ॥
माता पिता और जन परिजन
बान्धव मित्र सुता सुत नारी
इनके लिये पाप क्या करता
नहीं किसी के संगे अनारी
कर्मों का फल तुम्हें अकेले अरे ! भोगना होगा सारा ॥
हिंसादिक पापों से बचकर
सत्य अहिंसा को अपनाओ
स्याद्वाद और अनेकांत का
कितना बड़ा महत्व, समझाओ
सर्वधर्म समभाव समन्वय, सीखो यह उन्नति का नारा ॥
आग्रह और परिग्रह दोनों
जीवन को अति दुखी बनाते
घृणा ईर्षा द्वेष कलुषता
मानवता का पतन कराते
इनसे बचो बचाओ सबको, इस ही में ही उत्थान तुम्हारा
युगों युगों तक अमर रहेगा
महावीर संदेश तुम्हारा ॥

महावीर जयन्ती समारोह 1976

(महिला सम्मेलन)

मुख्य अतिथि श्रीमती कमला राज्य मन्त्री जन-सम्पर्क राजस्थान, सभा के अध्यक्ष श्री राजकुमार काला के साथ समारोह स्थल की ओर जाते हुए

रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत [illegible]
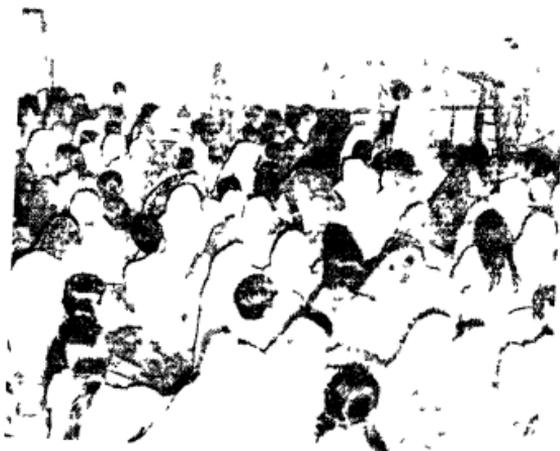
जो स्वयं इस संसार सागर के दुःखों से छुटकारा पा परमानन्द अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं जो अन्यों को भी उस मार्ग का पथिक बनाने में समर्थ हैं अर्थात् जो स्वय तर गए हैं और दूसरों को तारने में सक्षम हैं वे तीर्थंकर कहलाते हैं। भगवान् महावीर इस शृंखला मे अन्तिम थे अत आज का समय उनका तीर्थकाल कहलाता है। अनगिनत मानव उनके उपदेश को जीवन में उतार सफल हुए हैं और आज भी मानव उन उपदेशों पर आचरण कर अपना जीवन सफल का सकता है और भविष्य मे भी कर सकेगा। त्रैकालिक सत्य धर्म की यही विशेषता है जो जैनधर्म में है।

प्र० सम्पादक

मानव जीवन और भगवान् महावीर

❀ महंत पर्वतपुरी गोस्वामी, उज्जैन

मानव जीवन मे तीर्थ के अर्थ का अत्यन्त ही महत्व माना गया है। अनादि काल से ही भारत की धार्मिक प्रवृति एवम् आस्था का समावेश भारतीय संस्कृति मे अवलोकित है।

तीर्थ के अर्थ का अगर विश्लेषण कर एक सत्य खोजे तो मूलत यही स्पष्ट होता है कि मानव अपना उद्धार इस क्षणभगुर ससार से, जो कि एक पानी के बुलबुले के समान है, एक द्वन्द्व है, संघर्ष और तनाव है, से पार उतर कर अपने मोक्ष के लिए ईश्वर की भक्ति की ओर मुडता है और इस भक्ति के लिए वह अपने जीवन मे सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन, सम्यक्चरित्र, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि को उतारने का प्रयास कर भक्ति की सार्थकता प्राप्त करता है।

जो मनुष्य उपरोक्त तथ्यो को अपने जीवन में पूर्णत उतार कर तीर्थ सार्थकता की प्रवृति को मानव कल्याण हेतु मानव जीवन मे उस प्रवृति को सचरित कर अग्रसर करता है, उसे तीर्थंकर माना जाता है।

महावीर स्वामी ने भी अपने सम्पूर्ण राज-पाट के भव्य विपुल आनन्द, ऐश्वर्य, सम्पदा को धूलिकण समझकर तथा ससार को एक मुसाफिरखाना, क्षणभगुर समझा। उनके चित्त मे विषय-वासना का रस सूख गया था। शनै शनै ज्ञान और वैराग्य शक्ति का उदय होने लगा था। उनके लिए ससार में केवल सयम और तप ही सारवान रह गये थे। धन, कन, कचन राज-सुख और यहा तक कि अप्सराओ को भी लज्जित करने वाली अनिंद्य सुन्दर कुमारिया भी उनसे पाणि-ग्रहण करने को लालायित थी, पर महावीर स्वामी अपने व्रत मे स्थिर चित्त थे।

महावीर स्वामी ने वैराग्य धारण कर परमार्थ जीवन की स्थापना की और तात्कालीन राजा

महाराजा जो मनमाना अत्याचार, अन्याय, हिंसा और बलियां आदि किया करते थे उनके असामाजिक आचरण मे परिवर्तन लाकर उनकी प्रजा के कल्याण के लिए प्रेरित किया। भगवान महावीर स्वामी ने समस्त प्राणियो को अपने उपदेश दिये और उन उपदेशो पर कर्त्तव्यपरायणता के साथ चलने व पालन करने को उत्प्रेरित किया। भगवान महावीर स्वामी मनीषी होकर भी तीर्थंकर बन गये। उन्होने अपने सम्पूर्ण जीवन मे अच्छा खाना, अच्छा पहनना, अच्छा निवास सभी कुछ हमेशा हमेशा के लिए त्याग दिया और राज के मोह को छोडकर सारी धन दौलत का तिरस्कार कर दिया। उन्होने सुख नाम की चीज को भुला दिया तब कही आज विश्व के समक्ष वे तीर्थंकर के रूप मे प्रतिष्ठित हुए। तीर्थंकर बनना कोई सरल काम नही है। महावीर स्वामी अपने राज भवन के सकुल और अलक्ष्य रास्ते से निकल कर धरती की पगडडियो की ओर बढे और धरती की पगडडी पर जनसाधारण के बीच मानव-मात्र के जीवन को मोक्ष गति प्राप्ति के लिए मनुष्यो के हृदय मे प्रेम जल बिन्दु गिराई, स्नेहसिक्त वाणी का रस बरसाया। महावीर स्वामी परमार्थ साधन के लिए आकुल नही थे व प्राणी और उनके मोक्ष, कल्याण के लिए तडफडा रहे थे उनके हृदय मे एक टीस थी, वेदना थी, उत्पीडन था और इन सबका हल खोज निकालने के लिए उन्होने अपना एकान्त जीवन अपनाया, कठिन तपस्या की। कई दिनो तक कठिन तपस्या करने के पश्चात् भी उनके दिव्य ललाट विशाल नेत्र, मुख की काति और आभा मण्डल मे मलीनता दृष्टिगोचर नही हुई। उनके शरीर के अवयवो मे थकान का आभास तक नही हुआ। उनके दैनिक जीवन मे किसी प्रकार का व्यवधान भी उपस्थित नही हुआ। उपरोक्त विशेषताओ के कारण उनकी ध्यान और समत्व योग की साधना निरन्तर निमग्न और पवित्र होती चली गई।

महावीर स्वामी ने अपने उपदेशो मे "अहिंसा परमो धर्म" को श्रेष्ठ माना है और जैन धर्म में अहिंसा की अत्यन्त ही बारीकी से व्याख्या की गई है—

यथा--

> "मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स
> णिच्छिदा हिंसा"—प्रवचन, 3 18

किसी जीव का मरना या जीना हिंसा, अहिंसा नही है, किन्तु अयत्नाचार का नाम हिंसा और यत्नाचार का नाम अहिसा है।

> "रागादीणमणुप्पा अहिंमकत्त त्ति देसिय समए।
> तेसि च उप्पत्ति हिंसेति जिणेहि णिद्दिट्ठा।42।
> —जयधवला टीका

राग द्वेष आदि का उत्पन्न नही होना अहिंसा कहा गया है। रागादिक की उत्पत्ति होना हिंसा है, ऐसा जिनदेव ने निर्देश किया है।

> पादोसिय अधिकरणिय कायिय परिदावणादिवादाए।
> एदे पचपओगा किरियाओ होंति हिंसाओ॥
> —भगवती आराधना, 807

द्वेष करना हिंसा के उपकरणो को ग्रहण करना, दुष्ट भाव से शरीर की क्रिया करना, दु ख देने के लिए क्रिया करना, प्राणो (आयु, इन्द्रिय, बल श्वास) का घात करना, इन पाच प्रकार के प्रयोगो को हिंसा की क्रिया कहते हैं।

हिंसा मानव जीवन के कल्याण मे एक समस्या है। जब तक शाति प्राप्त नही होती तब तक कल्याण होना असम्भव है और शाति तब तक ही मिलती है जब तक कि हिंसा रूपी द्वन्द्व आत्मा से न निकल जाय।

महावीर स्वामी ने समस्त प्राणियो को अभय वरदान दिया व कहा कि पृथ्वी के समस्त प्राणियो को अपना जीवन यापन करने का अधिकार है,

किंतु वे सही आचरण, सम्यग्दर्शन और अहिंसा का पालन करते हुए जीवन व्यतीत करे।

अहिंसा के अन्तर्गत महावीर स्वामी ने स्पष्ट किया है कि अगर कोई व्यक्ति किसी प्राणी को भी सताता है तो वह हिंसा का कार्य करता है, क्योंकि जिस प्रकार हमारे जीव को घातक प्रहार से या किसी चोट से तो दु ख का अनुभव होता है वही दु ख उस प्राणी को भी अनुभव होता है, जिस प्रकार हमे होता है।

यथा—

"सव्वेसिं जीविय प्रिय"

—आचाराग सूत्र, 2,2,3

सभी को अपना जीवन प्रिय लगता है।

"आय तुले पयासु"

—सूत्रकृताग सूत्र 1,11,3

सभी प्राणियो को अपने समान समझो।

"तत्थिम पढम ठाण, महावीरेण देसिय ।।

अहिंसा निउण दिट्ठा, सव्वभूएसु सजमो ।।

दशवै कालिक सूत्र 6,8

तीर्थ कर महावीर ने सभी धमस्थानो मे प्रथम अहिंसा का उपदेश दिया। सब जीवो पर सयम रखना अहिंसा है।

उपनिषद्कालीन लोगो की यह मान्यता थी कि धम का वास्तविक सूक्ष्म तत्व, यज्ञवाद अथवा पशु हिंसा से प्राप्त नही हो सकता। सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्म से व्याप्त है और "जड" तथा "चेतन" सभी के भीतर एक ही सत्ता निवास करती है। इस धारणा के प्रचार प्रसार से सामान्य लोगो में हिंसा" की भावना कम होने लगी और वे यह स्वीकार करन लगे कि मनुष्य की भाति ही पशु-पक्षी और पेड पौधे भी हिंसा नही "अहिंसा" प्रेम और आदर के अधिकारी है।

अहिंसा के सम्बन्ध मे कुछ विद्वानो की मान्यता इस प्रकार है —

मैं आप लोगो से विश्वासपूर्वक कहता हू कि महावीर स्वामी का नाम इस समय यदि किसी सिद्धान्त के लिये पूजा जाता है तो वह अहिंसा ही है। प्रत्येक धर्म की उच्चता इसी बात मे है कि उस धम मे अहिंसा तत्व की प्रधानता हो। अहिंसा तत्व को यदि किसी ने अधिक विकसित किया है, तो वे महावीर स्वामी थे।

—महात्मागाधी (तीर्थङ्कर महावीर)

अहिंसा जैन धर्म का मुख्य सिद्धान्त है। भगवान श्री महावीर के अमर सन्देश को प्रचारित करने की आवश्यकता है—विशेष रूप से ऐसे समय मे जब समस्याओ का समाधान हिंसा से किया जाता हो।

—के०के० शाह, राज्यपाल तमिलनाडु
(तीर्थङ्कर महावीर)

भगवान महावीर महाविजेता थे। उन्होने सिखाया कि अपने से लडो दूसरो से नही, अपने अन्तस् को टटोलो, दूसरो का नही आत्मविजय प्राप्त करो, द्वेष से नही दोस्ती से, हिंसा से नही, अहिंसा से, दूसरे भी उतने ही सत्य है, जितना कि अपना। भगवान महावीर ने हमे यह सिखाया है, और भारतीय सभ्यता की हमेशा से यही सबसे बडी देन रही है—सहना यानि सहिष्णुता।

—श्रीमती इन्दिरा गाधी
(तीर्थङ्कर महावीर)

इस प्रकार तीर्थङ्कर बनना मामूली बात नही है। भगवान महावीर ने अपने जीवन मे अहिंसा को उतारा था इसलिए जगत के लोग उनसे अत्यन्त प्रभावित हुए—और उनके उपदेशो के प्रभाव से उनके आह्वान पर एकत्रित हुए।

यदि मानव अपना मोक्ष व कल्याण चाहता है और इस लोक व परलोक मे सुख से जीवन यापन करता है तो प्राणी मात्र को अपने समान समझें, अपने स्वार्थलोलुपता मे किसी अन्य प्राणी के

लिए घातक बनना एक पाप व अधर्म माना गया है।

इस सम्बन्ध मे यहा यह उल्लेखनीय है --
जइ मज्झ कारणा एए, हम्मति सुबहूजिया।
न मे एय तु निस्सेस परलोगे भविस्सई॥

--उत्तराध्ययन सूत्र 22, 19

यदि मेरे कारण से जीवो का घात होता है, तो यह इस लोक और परलोक के लिए किंचित् श्रेयस्कर नही है।

न हु पाणवह अणुजाणे,
मुच्चेज्ज कयाई सव्वदुक्खाण।

--उत्तराध्ययन सूत्र 8, 8

प्राणियो के वध का अनुमोदन करने वाला मनुष्य कभी भी सब तरह के दु खो से नहीं छूट सकता।

जैन धर्म की प्रमुख विशेषता अहिंसा ही मानी गई है। यही अहिंसा विश्व मे शाति स्थापित करती है। यही अहिंसा विश्व में मैत्रिक सम्बन्ध स्थापित करती है। जीव मात्र के प्रति सतत सहयोग की प्रेरणा देती है। इसी के आधार पर जीव अपने अच्छे बुरे कर्मों के अनुसार ही सुख व दु ख को भोगता रहता है। अहिंसा के आधार पर मानव स्वावलम्बी बनता है। स्वतन्त्रता का अनुभव करता है, और उसे अहिंसा के माध्यम से ही आत्मिक शाति प्राप्त होती है।

उपनिषदो के अनुसार भी कर्म-फलवाद सिद्धात यही है। मनुष्य जिस प्रकार का कर्म करता है उसे उसके अनुसार परिणाम भुगतना ही पडते हैं। अत मनुष्य से यह अपेक्षा की गई है कि वह अपने कर्मों को सुधारे ताकि उसका अगला जन्म अच्छा हो। जब दूसरे जन्म मे वह अच्छे कर्म करेगा तो उसका अगला तीसरा जन्म और भी अच्छा होगा। इस प्रकार जन्म-जन्मातर तक साधना करते करते उसको मोक्ष प्राप्त हो जायगा।

मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है क्योकि मोक्ष मिलने पर ही मनुष्य जन्म और मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो सकता है। मनुष्य का प्रयत्न यह होना चाहिये कि उसे पुन जन्म धारण नही करना पडे क्योकि बार-बार जन्म धारण करने से मनुष्य अनेकानेक कष्टो का भागी होता है।

उपनिषदो के अनुसार मोक्ष का सिद्धात निरूपित करने मे बार बार जीवन के दु खमय होने की बात कही गयी है, इसलिये तात्कालीन समाज में एक प्रकार के निराशावाद की भावना का प्रसार होने लगा और लोग जीवन मे उस उत्साह को खोने लगे जो वेदकालीन लोगो की प्रमुख विशेषता थी। उपनिषदो ने सन्यास और वैराग्य की भावना को प्रेरित किया। अतएव पहले जहा लोग सासारिक सुखो के योग के लिये डट कर परिश्रम करने मे आनन्द मनाते थे कहा अब गृहस्थाश्रम को छोड कर असमय ही वैराग्य और सन्यास धारण करने लगे।

परिग्रह से मानव जीवन का निर्वाह गतिशील रहता है, इसके अभाव मे मानव जीवन की दैनिकोपयोगी वस्तुए जुटाना एक समस्या बन जाती है। परिग्रह प्रत्येक मनुष्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है चाहे व गरीब हो या अमीर, किन्तु आवश्यकता से अधिक परिग्रह एक ही स्थान पर स्थिर रह जाता है तो उससे एक और हिंसा का जन्म धीरे-धीरे होने लगता है, और वही दूसरी ओर सामान्य जन-साधारण के लिये एक समस्या उत्पन्न हो जाती है।

इस सम्बन्ध मे यहा यह उल्लिखित है--

"अपरिग्गहो अणिच्छे"--समयसार, 212

इच्छा रहित होना अपरिग्रह है।

"अप्पाणमप्पणो परिग्गहे"--समयसार, 207

वास्तव मे आत्मा ही अपना परिग्रह है।

"बहुपि लध्दुं जन निहे"

—आचारांग 0,1,2,5

अधिक मिलने पर भी संग्रह न करें।

"वियाणियादु क्खबिवड्ढण धण"

—उत्तराध्ययन सूत्र 19,98

धन दु ख बढाने वाला है।

"जेण सिया तेण णो सिया"

—आचारांग सूत्र—1, 2, 4,

तुम जिन वस्तुओ से सुख की अभिलाषा करते हो, वास्तव मे वे सुखदायक नही है।

परिग्रह का चक्र समाज और देश मे समान रूप से घूमता रहना चाहिये। तब तक यह चक्र लोगो के बीच समानता का रूप लेकर दौडता रहता है, तब तक सभी मनुष्यो की आवश्यकताओ की पूर्ति बराबर नियमित रूप से होती चली जाती है किन्तु स्थिति इसके एक दम विपरीत हो गई तो अन्य लोगो को कठिनाई का अनुभव होगा और अपरिग्रह का निर्माण हो जावेगा।

ऐसी स्थिति को दृष्टिगत रखते हुए मानव को परिग्रह की एक सुनिश्चित सीमा निर्धारित कर लना च हिये, जब तब तक सीमा निर्धारित होगी, तब तक सतोष, शाति का प्राप्त होना दुलभ है। अहिंसा का तात्पय मानव कल्याण, अन्य प्राणियो को सुख शाति देना है। सम त अहिंसा के उपासको के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे परिग्रह की सीमा निर्धारित करें।

अपरिग्रह के सिद्धान्त समाजवाद से भी आगे है। जहा समाजवाद की सीमा है उस मे आगे अपरिग्रह है। समाजवाद अपरिग्रह मे ही निहित है। अपरिग्रह का लक्ष्य भगवान व मनुष्य को एक बनाना है। धर्म क्या है ? धम एक है। मानव धर्म है कि मनुष्य मनुष्य का शोषण न करे, समाज मे ऊँच नीच का भेद न हो। आर्थिक असमानताए कम हो। मनुष्य समाजवाद मे समान होता है। इस प्रकार अपरिग्रह और समाजवाद का अटूट सम्बन्ध है।

—मोरारजी देसाई (तीर्थंकर महावीर)

आज जितने भी वाद जैसे समाजवाद, साम्यवाद निरतिवाद और स्वतन्त्रवाद आदि का जो प्रभाव दिखाई पडता है इन सब वादो के जन्म की आधारशिला महावीर स्वामी द्वारा दिये गये उपदेश ही है। जिनमे अहिंसा, अपरिग्रह सत्य ब्रह्मचर्य आदि जितने भी उपदेश महावीर स्वामी ने दिये हैं। उन सभी को मानव जीवन मे उतारने की परम आवश्यकता है, तभी इन उपदेशो की सार्थकता सिद्ध हो सकती है, जिन मनुष्यो ने इनको अपने जीवन मे उतार लिया है, उन्हे अनन्त आनन्द, सुख, सन्तोष और शान्ति की विपुल उपलब्धि हुई है।

जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रत्येक मनुष्य को जीवन मे भगवान महावीर स्वामी द्वारा दिये गये उपदेशो को सही सही पालन कर उतारना आवश्यक हैं।

भगवान महावीर स्वामी का 2500 वां निर्वाण महोत्सव सम्पूर्ण भारत के सर्वत्र कोने-कोने मे अत्यन्त उल्लास के साथ मनाया गया जिसमे हर मनुष्य की सहयोगात्मक भावना दिखाई देती है। भगवान महावीर स्वामी तीर्थंकरो की श्रेणी मे इस युग के 24 वे तीर्थंकर के पद पर पदासीन हुए थे। उनके जन्म के समय सम्पूर्ण भारत अलग अलग राज्यो मे विभाजित हुआ था जिनमे अनेक राजा महाराजा अपने राज्यो का सचालन करते और मनमाना अत्याचार, बलिदान और व्यभिचार किया करते थे। भगवान महावीर स्वामी ने इनके चरित्र व इस कुकृत्य को अधर्म बता कर जनता को समझाया और उपदेश दिए।

आज उन्ही के दिये हुए उपदेशों को सही रूप मे समस्त मनुष्य मान कर अपने जीवन मे उतारें, तथा उसका उचित पालन भी करें। इसी पुण्यवेला मे हम मानव जगत् के प्राणियो के लिए सुवर्ण अवसर प्राप्त हुआ जिससे हम आत्मा को परखे, आत्म निरीक्षण करे और यह अनुमान लगाये कि अभी तक वास्तव में सही रूप मे भगवान महावीर स्वामी के उपदेशो, सिद्धान्तो का समावेश हमारे जीवन मे हो पाया है अथवा नही, या उनसे हट कर भ्रष्ट तो नही हो गये है और ऐसा कर सिद्धात के कितने परे गर्त मे हैं। इस तथ्य का निरूपण आत्म ज्योति प्रज्ज्वलित कर अवलोकन करते हैं और एक अनुमान आकते हैं कि अभी तक कितनी स्वस्थता, सिद्धान्तो और उपदेशो के आधार पर प्राप्त की है। जीवन के कितने विकारो हिसा को त्याग दिया है।

इस प्रकार भगवान महावीर स्वामी के सिद्धातो व उपदेशो से मानव जीवन और समाज तथा देश मे स्वस्थता का निर्माण हो तो, एक स्वस्थ समानता देश मे स्थिर होगी जिससे असामाजिकता का जन्म नही हो सकेगा और समाजवाद का निर्माण आसान हो सकेगा।

तीर्थंकर महावीर के उपदेश केवल भारतवर्ष मे ही नही अपितु देश-देशान्तरो में भी अलख ज्योति प्रकाशित कर रहे थे। 580 ई० मे उत्पन्न यूनानी दार्शनिक विद्वान पेथागोरस ने भगवान महावीर के सिद्धान्तो से प्रभावित होकर अपने देशवासियो को पुनर्जन्म एव कर्म सिद्धान्त की शिक्षा दी थी और उन्हे बताया था कि वनस्पति मे भी जीव होते हैं, इसलिये हिसा और मांसाहार से दूर रहना चाहिये। स्वय पेथागोरस जैनो की भांति अहिसा धर्म का पालन करता था और कई अभक्ष्य शाक-सब्जियो का भोजन नही करता था।[1] यूनान के राजा डेमेट्रियस तीर्थंकर महावीर स्वामी के अनन्य भक्त थे। उन्होने आत्मध्यान की साधना के लिये अपने यहा भगवान महावीर की मूर्ति की स्थापना की थी। फिलिस्तीन के महात्मा मूसा के जीवन पर भी तीर्थंकर महावीर की शिक्षाओ का प्रभाव बताया जाता है। उनका अहिंसा का सन्देश ईरान से आगे फिलिस्तीन, मिस्र और यूनान तक पहुच गया था। फिलिस्तीन एस्सेन लोग कट्टर अहिंसावादी थे। मिस्र मे शाकाहार का प्रचलन था। 81 ई० मे भृगुकच्छ के श्रमणाचार्य ने एथेन्स मे पहुच कर अहिंसा धर्म का प्रचार किया था।[2] कहा जाता है कि 892–999 ई० तक अफगानिस्तान के राज्य सिंहासन पर समनीडेस नामक राजा ने शासन किया था, जो जैन धर्मावलम्बी था। भगवान् महावीर के युग मे पारस देश का भारतवर्ष से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध था। ईरान के इतिहास प्रसिद्ध सम्राट कुरूष का पुत्र राजकुमार आर्द्रक (उद्देइज्ज) तीर्थंकर महावीर का अनुयायी था। उसने भगवान महावीर के पास आकर प्रव्रज्या धारण की थी। उस युग मे ईरान में अहिंसा और अपरिग्रह का व्यापक प्रचार था।

---

1 एच० जी० रॉलिन्सन इण्डिया इन युरोपियन लिटरेचर एण्ड थाट्स, पृ० 5

2 डा० कामताप्रसाद जैन तीर्थंकर भगवान महावीर और आधुनिक युग मे उनकी शिक्षा का महत्व पृ० 12

वाणी में स्याद्वाद और विचारों में अनेकान्तता जैन दर्शन की अपनी एक विशेषता है। विद्वान् लेखक ने आधुनिक त्रिमूल्यात्मक तर्कशास्त्र की अनिश्चितता, सम्भाव्यता असम्भाव्यता की तुलना जैन दर्शन की त्रयी-प्रमाण, नय तथा दुर्नय से करते हुए उनके साम्य और वैषम्य को विशदतापूर्वक स्पष्ट किया है। निबन्ध परिश्रमपूर्वक लिखा गया है तथा स्याद्वाद और अनेकान्त के सम्बन्ध में कई नई उद्भावनाएं करता है।

प्र० सम्पादक

सप्तभंगी, प्रतीकात्मक और त्रिमूल्यात्मक, तर्कशास्त्र के सन्दर्भ में

❀ डा० सागरमल जैन, भोपाल (म०प्र०)

अनेकान्त, स्याद्वाद, नयवाद और सप्तभंग एक दूसरे से इतने घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं कि उन्हें प्राय समानार्थक मान लिया जाता है जबकि उनमें आधारभूत भिन्नताएं हैं जिनकी अवहेलना करने पर अनेक भ्रान्तियों का जन्म होता है। अनेकान्त वस्तुतत्व की अनन्त धर्मात्मकता का सूचक है तो स्याद्वाद ज्ञान की सापेक्षिकता एवं उसके विविध आयामों का। अनेकान्त का सम्बन्ध तत्व मीमांसा है, तो स्याद्वाद का सम्बन्ध ज्ञान मीमांसा। जहां तक सप्तभंगी और नयवाद का प्रश्न है, सप्तभंगी अनेकान्तिक वस्तु तत्व के सापेक्षिक ज्ञान की निर्दोष भाषायी अभिव्यक्ति का ढंग है, तो नयवाद कथन को अपने यथोचित सन्दर्भ में समझने या समझाने की एक दृष्टि है। प्रस्तुत निबन्ध में हमारा उद्देश्य केवल प्रतीकात्मक और त्रिमूल्यात्मक तर्कशास्त्र के सन्दर्भ में सप्तभंगी की समीक्षा तक सीमित है अत इन सब प्रश्नों पर विस्तृत विवेचना यहां सम्भव नहीं है। सप्तभंगी स्याद्वाद की भाषायी अभिव्यक्ति के सामान्य विकल्पों को प्रस्तुत करती है। हमारी भाषा विधि-निषेध की सीमाओं से घिरी हुई है "है" और "नहीं है" हमारे कथनों के दो प्रारूप हैं किन्तु कभी कभी हम अपनी बात को स्पष्टतया "है" (विधि) और "नहीं है" (निषेध) की भाषा में प्रस्तुत करने में असमर्थ होते हैं अर्थात् सीमित शब्दावली की यह भाषा हमारी अनुभूति को प्रकट करने में असमर्थ होती है ऐसी स्थिति में हम तीसरे विकल्प अवाच्य या अवक्तव्य का सहारा लेते हैं अर्थात् शब्दों के माध्यम से "है" और "नहीं है" की भाषायी सीमा में बांधकर उसे कहा नहीं जा सकता है। इस प्रकार विधि, निषेध और अवक्तव्य सम्बन्धी भाषायी अभिव्यक्ति के तीन मूलभूत प्रारूपों और गणित शास्त्र के संयोग नियम (Law of Combination) से बनने वाले उनके सम्भावित संयोगों के आधार पर सप्तभंगी के स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति आदि भंगों का निर्माण किया गया है किन्तु उसका प्राण तो स्यात् शब्द की योजना में ही है। अतः सप्तभंगी सम्यक् अर्थ को समझने के लिए सबसे पहले स्यात् शब्द के

वास्तविक अर्थ और उद्देश्य का निश्चय करना होगा।

स्यात् शब्द का अर्थ विश्लेषण

सप्तभगी के प्रत्येक भग के प्रारम्भ मे प्रयुक्त होने वाले स्यात् शब्द के अर्थ के सन्दर्भ में जितनी भ्रान्ति दार्शनिको मे रही है, सम्भवत उतनी अन्य किसी शब्द के सम्बन्ध मे नही है। सस्कृत भाषा मे स्यात् शब्द का प्रयोग अनेक रूपो मे मिलता है। कही विधि लिंग की क्रिया के रूप मे तो कही प्रश्न के रूप मे और कही उसका प्रयोग कथन की अनिश्चयात्मकता की अभिव्यक्ति करने के लिए भी होता है। इन्ही आधारो पर विद्वानो ने स्यात् शब्द के हिन्दी भाषा मे "शायद", 'सम्भवत ", "कदाचित्" और अग्रेजी भाषा मे Some, how, May be, Probable आदि अनिश्चयात्मक एव सशय परक अर्थ किये है। यद्यपि यह सही है कि किन्ही सन्दर्भों मे स्यात् शब्द का अर्थ कदाचित् शायद, सम्भवतया आदि होना है किन्तु मूल प्रश्न यह है कि क्या जैन विचारको ने उसका इस अर्थ मे प्रयोग किया है ? सव प्रथम तो हमे यह जान लेना चाहिए कि जैन परम्परा मे अनेक शब्दो का प्रयोग उनके प्रचलित अर्थ मे न होकर विशिष्ट पारिभाषिक अर्थों मे हुआ है, उदाहरण के लिए धर्म शब्द का धम द्रव्य के रूप में प्रयोग। यदि विद्वानो ने जैन परम्परा के मूल ग्रन्थो को देखने का प्रयास किया होता तो उन्हे यह स्पष्ट हो जाता कि जैन परम्परा मे 'स्यात्' शब्द का क्या अर्थ है। समतभद्र, अमृतचन्द्र, मल्लिषेण आदि सभी जैन दार्शनिको ने स्यात् शब्द को अनेकान्तता का द्योतक, विवक्षा या अपेक्षा का सूचक तथा कथचित् अर्थ का प्रतिपादक माना है। इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैन दार्शनिकों ने स्यात् शब्द का सशय परक एव अनिश्चयात्मक अर्थ मे प्रयोग नही किया है। मात्र इतना ही नही वे इस सम्बन्ध मे भी सजग थे कि स्यात् शब्द का सशयपरक अर्थ ग्रहण किया जा सकता है अत' कथन को अधिक निश्चयात्मकता प्रदान करने के लिए सप्तभगी मे स्यात् के साथ "एव" शब्द के प्रयोग की योजना भी की। जैसे–स्यादस्त्येव घट। यद्यपि "एव" शब्द का यह प्रयोग अनेकान्तिक सामान्य वाक्य को सम्यक् ऐकान्तिक विशेष वाक्य के रूप मे परिणत कर देता है। फिर भी इतना तो सुनिश्चित है कि जैन तर्कशास्त्र मे स्यात् शब्द का प्रयोग अनिश्चयात्मक या सशयपरक अर्थ में न होकर विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ मे ही हुआ है। किन्तु यह विशिष्ट अर्थ क्या है ? सर्वप्रथम जैसा कि सभी प्राचीन जैन आचार्यों ने बताया है कि स्यात् यह "निपात" शब्द वाक्य मे अनेकान्तता का द्योतक है। (वाक्येष्वनेकान्तद्योती'–आप्त मीमासा 103)। फिर भी हमे यह स्पष्ट करना होगा कि वाक्य के उद्देश्य, विधेय आदि विभिन्न अगो के सम्बन्ध मे उसके अनेकान्तद्योती होने का क्या तात्पर्य है ? मेरी दृष्टि मे स्यात् शब्द के एक होने हुए भी वह वाक्य के उद्देश्य विधेय और क्रिया (सयोजक) के सन्दर्भ मे अलग-अलग तीन अर्थ देता है। जिनका स्पष्टीकरण आवश्यक है। यदि हम स्यात् शब्द के बाद के कथन को कोष्टक मे रख दें, तो यह बात अधिक स्पष्ट हो जायगी जैसे 'स्यात् (आत्मा नित्य है)। क्योकि सप्तभगी के कथनो का पूर्ण बल तो स्यात् शब्द की योजना मे है।" अब कोष्टक हटाने पर इसका रूप होगा स्यात् आत्मा स्यात् नित्य स्यात् है (अस्ति)। अब हम देखे कि स्यात् आत्मा, स्यात् नित्य और स्यात् अस्ति मे प्रत्येक के साथ लगा हुआ स्यात् क्या अर्थ देता है।

स्यात् शब्द क्रिया या सयोजक के सन्दर्भ मे अनेकान्तिकता का सूचक नही है क्योकि अनेकान्तिक क्रिया तो अनिश्चय या सशय को ही व्यक्त करेगी। स्यात् को 'होना' क्रिया का रूप अथवा अनिश्चय सूचक क्रिया विश्लेषण मानने के कारण ही स्याद्वाद को अनिश्चयवाद, सशयवाद या आत्मविरोधी

सिद्धान्त समझने की भूल की जाती रही है। वस्तुत क्रिया के सम्बन्ध मे उसका अर्थ इतना ही है कि विधान या निषेध निरपेक्ष रूप से नही हुआ है अर्थात् अन्य अनुक्त एव अव्यक्त धर्मों का निषेध नहीं हुआ है। यहाँ उसका अर्थ है अविरोध पूर्वक कथन। जिसे हम हिन्दी भाषा मे भी शब्द से लक्षित कर सकते हैं। अत क्रिया के सम्बन्ध से स्यात् का अर्थ है अविरोधी और सापेक्ष कथन। विधेय पद के सम्बन्ध मे स्यात् शब्द का अर्थ होगा 'अनेक मे एक' अर्थात् कथित विधेय उद्देश्य के अनेक सम्भावित विधेयो मे एक है। जब हम यह कहते है कि स्यात् घडा शिशिर ऋतु का बना हुआ है, तो हमारा आशय यह होता है कि घडे के सम्बन्ध मे जिस अनेक विधेयों का विधान या निषेध किया जा सकता है उसमे यहा एक विधेय शिशिर ऋतु का बना हुआ है इसका विधान किया गया है। एक तक वाक्य मे एक ही विधेय का विधान या निषेध होता है। यदि हम एकाधिक विधेयो का विधान या निषेध करते हे तो ऐसी अवस्था मे वह एक तर्क वाक्य न होकर, जितने विधेय होते है, उतने ही तर्क वाक्य होता है। उद्देश्यपद अर्थात् वह वस्तुत्व, जिसके सन्दर्भ मे विधेय का विधान या निषेध किया जा रहा है के सम्बन्ध मे स्यात् शब्द अनन्त धर्मात्मकता का सूचक है। इस प्रकार स्यात् शब्द उद्देश्य की अनन्त धर्मात्मकता का, विधेय के अनेक मे एक होने का तथा क्रिया के अविरोधी और कथन के सापक्षिक होने का सूचक है। इस प्रकार प्रत्येक सन्दर्भ मे उसके अलग अलग कार्य हैं। वह उद्देश्य के सामान्यत्व (व्यापकता) विधेय के विशेषत्व और क्रिया के सापेक्षत्व का सूचक है। यद्यपि आचार्य समन्तभद्र ने वाक्येषु शब्द का जो प्रयोग किया है उसके आधार पर कोई यह कह सकता है कि स्यात् शब्द को कथन की अनेकान्तता का द्योतक क्यो नही माना जाता। मेरा विनम्र निवेदन यह है कि प्रथम तो ऐसी स्थिति मे "वाक्येषु" के स्थान पर "वाक्यस्य" ऐसा प्रयोग होना था। दूसरे यह कि वाक्य या कथन अनेकान्तिक नहीं होता अपितु वस्तुतत्व एव उसका ज्ञान अनेकान्तिक होता है। कोई भी कथन नय या विवक्षा से रहित नहीं होता। अत प्रत्येक कथन ऐकान्तिक होता है। वह सम्यक् एकान्त होता है। कथन केवल अविरोधी एव सापेक्षक होते हैं अनेकान्तिक नहीं।

यदि हम स्यात् को कथन की अनेकान्तता का सूचक भी माने तो यहा कथन की अनेकान्तता से हमारा तात्पर्य मात्र इतना ही होगा कि 'वह (स्यात्) वस्तुत्व (उद्देश्यपद) की अनन्तधर्मात्मकता को दृष्टि मे रखकर उसके अनुक्त एवं अव्यक्त धर्मों का निषेध नहीं करते हुए निश्चयात्मक ढग से किसी एक विधेय का सापेक्षित रूप मे किया गया विधान या निषेध है।' किन्तु यदि कथन की अनेकान्तता से हमारा आशय यह हो कि वह उद्देश्य पद के सन्दर्भ मे एक ही साथ एकाधिक परस्पर विरोधी विधेयो का विधान या निषेध है अथवा किसी एक विधेय का एक ही साथ विधान और निषेध दोनो ही है तो यह धारणा भ्रान्त है और जैन दार्शनिको को स्वीकार्य नही है। इस प्रकार स्यात् शब्द की योजना के तीन कार्य है, एक कथन या तर्क वाक्य के उद्देश्य पद की अनन्त धर्मात्मकता को सूचित करना, दूसरा विधेय को सीमित या विशेष करना और तीसरे कथन का सोपाधिक (Conditional) एव सापेक्ष (Relative) बनाना है। यद्यपि जैन तार्किको ने स्यात् शब्द के इन अर्थों को इगित अवश्य किया है तथापि इसमे अपेक्षित स्पष्टता नही आ पायी क्योकि दोनो के लिए एक ही शब्द प्रतीक स्यात् का प्रयोग किया गया था। स्यात् को अनेकान्तता के द्योतक के साथ-साथ विवक्षित अर्थ का विशेषण (गम्य प्रति विशेषण–आप्त मीमासा 103) एव कथचित् अर्थ का प्रतिपादक (कथचिदर्थे स्यात् शब्दो निपात –पचास्तिकाय टीका) भी माना गया है। अत उपरोक्त विवेचना अप्रामाणिक एव प्राचीन ग्रन्थो के आधार

से रहित नहीं है। साथ ही वह कथन की सोपाधिकता एवं सापेक्षता का भी सूचक है। अनेकान्त का द्योतक होना एवं कथंचित् अर्थ का प्रतिपादक होना यह दो भिन्न-भिन्न बातें हैं। अनेकान्त का द्योतक होना यह कथन के उद्देश्य को सामान्य रूप से उसके पूर्ण परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करने का सूचक है जबकि कथंचित् अर्थ का प्रतिपादक होना यह कथन के विधेय को सीमित विशेष या आंशिक रूप से ग्रहण करने का सूचक है। स्यात् शब्द उद्देश्य को तो व्यापक परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करता है किन्तु जब कि स्यात् के साथ 'अस्ति' तथा 'एव' शब्द की जो योजना की जाती है तो वह विधेय को आंशिक रूप से ही ग्रहण कर पाती है (स्याच्छब्दादप्यनेकान्त सामान्यस्य विबोधते शब्दान्तर प्रयोगोऽत्र विशेष प्रतिपत्तये—श्लोकवार्तिक 55)। स्यात् शब्द के इन भिन्न भिन्न अर्थों की स्पष्टता पर मैं इसलिए बल देना चाहता हूं ताकि इन अलग अर्थों के आधार पर खड़ी हुई प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी की भिन्नता को ठीक से समझा जा सके। प्रमाण सप्तभंगी उद्देश्य की अनन्त धर्मात्मकता पर बल देती हैं जबकि नय सप्तभंगी विधेय की सीमितता एवं कथन की सापेक्षता पर बल देती है। इस पर हम आगे विचार करेंगे।

क्या स्यात् सम्भाव्यता (Possibility) का सूचक है?

आधुनिक त्रिमूल्यात्मक तर्क शास्त्र के प्रभाव के कारण यह प्रश्न उठा है कि स्यात् शब्द को सम्भाव्यता के अर्थ में ग्रहण किया जा सकता है यद्यपि आधुनिक विचार सम्भाव्यता को उस अनिश्चयात्मक एवं संशयपरक अर्थ में नहीं लेते हैं जैसा कि प्राय पहले उसे लिया जाता था। पूना विश्वविद्यालय के डा० बारलिंगे एवं डा० मराठे ऐसा सोचते हैं कि स्यात्-सम्भाव्यता का सूचक है। डा० मराठे ने तो इस सम्बन्ध में एक निबन्ध पूना विश्वविद्यालय की जैनदर्शन सम्बन्धी संगोष्ठी (सन् 1976 में प्रस्तुत किया था। मैं भी यहां इस प्रश्न पर गम्भीर विचार तो प्रस्तुत नहीं करूंगा केवल मात्र निर्देशात्मक रूप में कुछ बातें कहना चाहूंगा।

वस्तुतः कथन में स्यात् शब्द की योजना का स्पष्ट प्रयोजन यह है कि हमारा कथन वस्तु के अनुक्त और अव्यक्त धर्मों का निषेधक न बने। यहां पर अनुक्त और अव्यक्त इन दोनों के अर्थों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। अनुक्त धर्म वे हैं, जो व्यक्त तो हैं किन्तु जिनका कथन नहीं किया जा रहा है, जबकि अव्यक्त धर्म में वे है जो सत्ता में तो है किन्तु अभिव्यक्त नहीं हो पाये हैं जैसे बीज में वृक्ष की सम्भाव्यता का धर्म। जैन परम्परा की भाषा में इन्हें वस्तु की भावी पर्यायें भी कहा जा सकता है। भगवतीसूत्र में निश्चय और व्यवहार नयों की चर्चा के प्रसंग में महावीर ने यह स्पष्ट किया है कि वस्तु में प्रकट एवं दृश्यमान धर्मों के साथ अव्यक्त एवं गौण धर्मों की सत्ता भी होती है। यदि स्यात् शब्द की योजना का उद्देश्य केवल कथन में अनुक्त धर्मों का निषेध न हो, इतना ही होता तब तो उसे सम्भाव्यता के अर्थ में ग्रहण करना आवश्यक नहीं था किन्तु यदि स्यात् शब्द के कथन में अव्यक्त धर्मों को सत्ता का भी सूचक है तो उसे सम्भाव्यता के अर्थ में गृहीत किया जा सकता है। किन्तु हमें यह स्पष्ट रूप से ध्यान रखना चाहिए कि आकस्मिकता एवं अकारणता सम्बन्धी सम्भावनाएं जैन दर्शन में स्वीकार्य नहीं है क्योंकि वह इस असत् से सत् की सम्भावना को स्वीकार नहीं करता है। यदि सम्भावना का अर्थ 'जो असत् या उसका सत्ता में आना है तो ऐसी सम्भाव्यता को व्यक्त करना स्यात् शब्द का प्रयोजन नहीं है। जैन दर्शन जिन सम्भाव्यताओं को स्वीकार करता है वे हैं ज्ञान सम्बन्धी सम्भावनाएं जैसे वस्तु का जो गुण आज हमें ज्ञात नहीं है वह कल ज्ञात हो सकता है, क्षमता सम्बन्धी सम्भावनाएं जैसे जीव में पूर्ण क्षमता है और अभिव्यक्ति या भावी पर्याय

सम्बन्धी सम्भावनाए जैसे मनुष्य पशु बन सकता है। सप्तभगी मे स्यात् शब्द की योजना का उद्देश्य यही है कि वस्तुतत्व के जिन धर्मों को हम नही जान पाये अथवा वस्तुतत्व के धर्म सत्ता मे तो हैं किन्तु प्रकट नही हैं अथवा वस्तुत्व की जो जो भावी पर्यायें अभी अस्तित्व मे न आपायी हैं, हमारा कथन उनका निषेधक न हो।

स्यात् एक प्रतीक के रूप मे

वस्तुत जैन आचार्यों ने स्यात् का प्रयोग एक ऐसे प्रतीक के रूप मे किया है जो कथन को अभ्रांत और सत्य बना सके। कहा भी है – स्यात्कार, सत्यलांछन – अर्थात् स्यात् सत्य का प्रतीक है। यहा लाछन शब्द उसकी प्रतीकात्मकता को स्पष्ट कर देता है, किन्तु दुर्भाग्य यह है कि उसकी इस प्रतीकात्मकता को न समझ कर तथा उसके शाब्दिक अर्थ को लेकर मुख्यत उसके आलोचको ने अनेक भ्रातिया खडी की हैं। आधुनिक युग मे प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र ने हमे जो दृष्टि दी है उसके आधार पर यदि सप्तभगी की प्रतीकात्मकता को स्पष्ट किया जा सके तो उसके सम्बन्ध से उठने वाले अनेक विरोधाभासो को दूर कर उसे अधिक सुसगत रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है।

सप्तभगी का प्रत्येक भग एक सापेक्षिक निर्णय प्रस्तुत करता है। सप्तभगी मे 'स्यात् अस्ति' आदि जो सात भग है, वे कथन के तार्किक आकार (Logical forms) मात्र हैं। उनमे स्यात् शब्द कथन की सापेक्षिकता का सूचक है और अस्ति एव नास्ति कथन के विधानात्मक (Affirmative) और निषेधात्मक (Negative) होने के सूचक हैं। कुछ जैन विद्वान् अस्ति को सत्ता की भावात्मकता का और नास्ति को अभावात्मकता का सूचक मानते हैं किन्तु यह दृष्टिकोण जैन दर्शन को मान्य नही हो सकता। उदाहरण के लिए जैन दर्शन मे आत्मा भाव रूप है वह अभाव रूप नही हो सकता है। अत हमे यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति अपने आप मे कोई कथन नही है। अपितु कथन के तार्किक आकार हैं व कथन के प्रारूप हैं। उन प्रारूपो के लिए अपेक्षा तथा उद्देश्य और विधेय पदो का उल्लेख आवश्यक है। जैसे स्याद् अस्ति भग का ठोस उदाहरण होगा - द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा नित्य है। यदि हम इसमे अपेक्षा (द्रव्यता) और विधेय (नित्यता) का उल्लेख नही करे और कहे कि स्याद् आत्मा अस्ति तो ऐसे कथन अनेक भ्रान्तियो को जन्म देगे। जिसका विशेष विवेचन हमने द्वितीय भग की चर्चा के प्रसग मे किया है। आधुनिक तर्कशास्त्र की दृष्टि मे सप्तभगी का प्रत्येक भग एक सापेक्षिक कथन है, जिसे एक हेतुफलाश्रित वाक्य के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है और सप्तभगी के प्रसग में उत्पन्न भ्रान्तियो से बचने के लिए उसे सांकेतिक रूप मे व्यक्त किया जा सकता है।

सप्तभगी के इस साकेतिक प्रारूप के निर्माण मे हमने चिह्नों का प्रयोग उनके सामने दर्शित अर्थों मे किया है -

चिह्न	अर्थ
⊃	यदि – तो (हेतुफलाश्रित कथन) अथवा अन्तर्भूतता (Implication)
अ	अपेक्षा (दृष्टिकोण)
०	सयोजन (और)
य	युगपद् भाव (एक साथ)
∞	अनन्तत्व
⌐	व्याघातक (विरुद्ध), निषेधक
उ	उद्देश्य
वि	विधेय

भंगों के आगमिक रूप	भंगों के सांकेतिक रूप	ठोस उदाहरण
स्यात् अस्ति	अ$_1 \supset$ उ$_1$ वि$_1$ है।	यदि द्रव्य की अपेक्षा से विचार करते है तो आत्मा नित्य है।
स्यात् नास्ति	अ$_2 \supset$ उ$_1$ वि$_1$ नही है।	यदि पर्याय की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य नहीं है।
स्यात् अस्ति नास्ति च	अ$_1 \supset$ उ$_2$ वि$_2$ है। अ$_2 \supset$ उ$_1$ वि$_1$ नही है।	यदि द्रव्य की अपेक्षा से विचार करते है तो आत्मा नित्य है और यदि पर्याय की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य नहीं है।
स्यात् अवक्तव्य	(अ$_1 \circ$ अ$_2$) य $\supset$ उ अवक्तव्य है। अथवा (अ$^{\infty}$ य $\supset$ उ अवक्तव्य है।	यदि द्रव्य और पर्याय दोनो ही अपेक्षा से या अनन्त अपेक्षाओ से एक साथ विचार करते हैं तो आत्मा अवक्तव्य है (क्योंकि दो भिन्न-भिन्न अपेक्षाओ स दो अलग २ कथन हो सकते है किन्तु एक कथन नही हो सकता)।
स्यात् अस्ति च अवक्तव्य च।	अ$_1 \supset$ उ$_1$वि$_1$है$\circ$(अ$_1 \circ$अ$_2$)य $\supset$ उ$_1$ य वक्तव्य है। या अ$_1 \supset$ उ$_1$वि$_1$ है$\circ$ (अ$^{\infty}$)य $\supset$ उ$_1$ अवक्तव्य है।	यदि द्रव्य की अपेक्षा से विचार करते है तो आत्मा नित्य है किन्तु यदि आत्मा की द्रव्य पर्याय दोनो या अनन्त अपेक्षाओ की दृष्टि से एक साथ विचार करते हैं तो आत्मा अवक्तव्य है।
स्यात् नास्ति च अवक्तव्य	अ$_2 \supset$ उ$_1$वि$_1$नहीं है$\circ$(अ$_1$ अ$_2$)$^{य} \supset$ उ$_1$ अवक्तव्य है। या अ$_2 \supset$ उ$_1$वि$_1$नहीं है$\circ$(अ ∞)$^{य} \supset$ उ$_1$ अवक्तव्य है।	यदि पर्याय की अपेक्षा से विचार करते है तो आत्मा नित्य नही है किन्तु यदि अनन्त अपेक्षा की दृष्टि से विचार करते है तो आत्मा अवक्तव्य है।
स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्य च	अ$_1 \supset$ उ$_1$वि$_1$है$\circ$अ$_2 \supset$ उ$_1$वि$_1$ नही है$\circ$(अ$_1$ अ$_2$)य $\supset$ उ$_1$ अवक्तव्य है। या अ$_1 \supset$ उ$_1$वि$_1$है$\circ$अ$_2 \supset$ उ$_1$वि$_1$ नहीं है$\circ$(अ ∞)$^{य} \supset$ उ$_1$ अवक्तव्य है।	यदि द्रव्य दृष्टि से विचार करते है तो आत्मा नित्य है और यदि पर्याय दृष्टि से विचार करने है तो आत्मा नित्य नहीं है किन्तु यदि आत्मा अनन्त अपेक्षाओ की दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा अवक्तव्य है।

सप्तभगी के प्रस्तुत साकेतिक रूप मे हमने केवल दो अपेक्षाओ का उल्लेख किया है किन्तु जैन विचारको ने द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव ऐसी चार अपेक्षाए मानी है। उनमे भी भाव अपेक्षा व्यापक है, उसमे वस्तु की अवस्थाओ (पर्यायो) एव गुणो दोनो पर विचार किया जाता है। किन्तु यदि हम प्रत्येक अपेक्षा की सम्भावनाओ पर विचार करें तो ये अपेक्षाए भी अनन्त होगी क्योकि वस्तुत्व अनन्त धर्मात्मक है। अपेक्षाओ की इन विविध सम्भावनाओ पर विस्तार से विचार किया जा सकता है किन्तु इस छोटे से लेख मे यह सम्भव हैं।

इस सप्तभगी का प्रथम भग 'स्यात् अस्ति'' है। यह स्वचतुष्टय की अपेक्षा से वस्तु के भावात्मक धर्म या धर्मों का विधान करता है। जैसे अपने द्रव्य की अपेक्षा म यह घडा मिट्टी का है, क्षेत्र की अपेक्षा मे इन्दौर नगर म बना हुआ है, काल की अपेक्षा से शिशिर ऋतु का बना हुआ है, भाव अर्थात् वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से लाल रग का है या घटाकार है आदि। इस प्रकार वस्तु के स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भाव की अपेक्षा से उसके भावात्मक गुणो का विधान करना यह प्रथम ''अस्ति' नामक भग का कार्य है। दूसरा 'स्यात् नास्ति' नामक भग वस्तुतत्व के अभावात्मक धर्म या वस्तु मे कुछ धर्मों की अनुपस्थिति या नास्तित्व की सूचना देता है। वह यह बताता है कि वस्तु मे स्व से भिन्न पर चतुष्टय का अभाव है। जैसे यह घडा ताम्बे का नही है, भोपाल नगर मे बना हुआ नही है, ग्रीष्म ऋतु का बना हुआ नही है, कृष्ण वर्ण का नही है आदि। मात्र इतना ही नही यह भग इस बात को भी स्पष्ट करता है कि घडा-पुस्तक, टेबल कमल, मनुष्य आदि नही है। जहा प्रथम भग यह कहता है कि घडा-घडा ही है वहा दूसरा भग यह बताता है कि घडा घट है इतर अन्य कुछ नही है। कहा गया है कि सवमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च' अर्थात् सभी वस्तुओ की सत्ता स्व रूप से है पर रूप से नही। यदि वस्तु मे अन्य वस्तुओ के गुण धर्मों की सत्ता भी मान ली जावेगी तो फिर वस्तुओ का पारस्परिक भेद ही समाप्त हो जावेगा और वस्तु का स्व स्वरूप ही नही रह जावेगा, अत वस्तु मे पर चतुष्टय का निषेध करना द्वितीय भग है। प्रथम भग बताता है कि वस्तु क्या है, जबकि दूसरा भग यह बताता है कि वस्तु क्या नही है। सामान्यतया इस द्वितीय भग को 'स्यात् नास्ति घट' अर्थात् किसी अपेक्षा से घडा नही है, इस रूप मे प्रस्तुत किया जाता है, किन्तु इसके प्रस्तुतीकरण का यह ढग थोडा भ्रान्तिजनक अवश्य है, स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि प्रथम भग मे घट के अस्तित्व का जो विधान किया गया था, उसी का द्वितीय भग मे निषेध कर दिया गया है और ऐसी स्थिति मे स्याद्वाद को सन्देहवाद या आत्म विरोधी कथन करने वाला सिद्धान्त समझ लेने की भ्रान्ति हो जाना स्वाभाविक है। शकर, प्रभृति विद्वानो ने स्याद्वाद की जो आलोचना की थी, उसका मुख्य आधार यही भ्रान्ति है। स्यात् अस्ति घट और स्यात् नास्ति घट मे जब स्यात् शब्द को दृष्टि से ओझल कर या उसे सम्भावना के अर्थ मे ग्रहण कर 'अस्ति' और 'नास्ति' पर बल दिया जाता है तो आत्म विरोध का आभास होने लगता है। जहा तक मैं समझ पाया हू स्याद्वाद का प्रतिपादन करने वाले किसी भी आचार्य की दृष्टि से द्वितीय भग का कार्य प्रथम भग मे स्थापित किये गये गुणधर्म का उसी अपेक्षा से निषेध करना नही है, अपितु या तो प्रथम भग मे अस्ति रूप माने गये गुणधर्म से इतर गुण धर्मों का निषेध करना है अथवा फिर अपेक्षा को बदल कर उसी गुण धम का निषेध करना होता है और इस प्रकार द्वितीय भग प्रथम भग के कथन को पुष्ट करता है, खण्डित नही।

यदि द्वितीय भग के कथन को उसी अपेक्षा से प्रथम भग का निषेधक या विरोधी मान लिया जावेगा तो निश्चय यह सिद्धान्त सशयवाद या आत्मविरोध के दोषो से ग्रस्त हो जावेगा, किन्तु ऐसा नही है। यदि प्रथम भग मे स्यादस्त्येव घट

का अर्थ किसी अपेक्षा से घडा है और द्वितीय भग मे "स्यान्नास्त्येव घट" का अर्थ किसी अपेक्षा से घडा नही है ऐसा करेंगे तो आभासी रूप म ऐसा लगेगा कि दोनो कथन विरोधी हैं। क्योकि इन कथनो के भाषायी स्वरूप से ऐसा आभास होता है कि इन कथनो मे घट के अस्तित्व और नास्तित्व को ही सूचित किया गया है। जबकि जैन आचार्यों की दृष्टि मे इन कथनो का बल उनमे प्रयुक्त 'स्यात्" शब्द मे ही है, वे यह नही मानते हैं कि द्वितीय भग प्रथम भग मे स्थापित सत्य का प्रतिषेध करता है। दोनो भगो मे घट के सम्बन्ध मे जिनका विधान या निषेध किया गया है वे अपेक्षाश्रित धर्म है न कि घट का स्वय का अस्तित्व या नास्तित्व। पुन दोनो भगो के 'अपेक्षाश्रित धर्म' एक नही हैं, भिन्न-भिन्न हैं। प्रथम भग मे जिन अपेक्षाश्रित धर्मों का विधान है, व अन्य अर्थात् स्वचतुष्टय के हैं और द्वितीय भग मे जिन अपेक्षाश्रित धर्मों का निषेध हुआ है व दूसरे अर्थात् पर चतुष्टय के हैं। अत प्रथम भग के विधान और द्वितीय भग के निषेध म कोई आत्म विरोध नही है। मेरी दृष्टि मे इस भ्रान्ति का मूल कारण प्रस्तुत वाक्य में उस विधेय पद (Predicate) के स्पष्ट उल्लेख का अभाव है, जिसका कि विधान या निषेध किया जाता है। यदि 'नास्ति' पद को विधेय स्थानीय माना जाता है तो पुन यहा यह भी प्रश्न उठ सकता है कि जो घट अस्ति रूप है, वह नास्ति रूप कैसे हो सकता है ? यदि यह कहा जावे कि पर द्रव्यादि की अपेक्षा से घट नही है किन्तु पर द्रव्यादि घट के अस्तित्व के निषेधक कैसे बन सकते हैं ?

यद्यपि यहा पूर्वाचार्यो का मन्तव्य स्पष्ट है कि वे घट का नही अपितु घट मे पर द्रव्यादि का ही निषेध करना चाहते है। वे कहना यह चाहते हैं कि घट पट नही है या घटमे पट आदि के धर्म नही हैं, किन्तु स्मरण रखना होगा कि इस कथन मे प्रथम और द्वितीय भग मे अपेक्षा नही बदली है। यदि प्रथम भग में यह कहा जावे कि घडा मट्टी का है और दूसरे भग मे यह कहा जावे कि घडा पीतल का नही है तो दोनो मे अपेक्षा एक ही है अर्थात् दोनो कथन द्रव्य की या उपादान की अपेक्षा से हैं। अब दूसरा उदाहरण ले। किसी अपेक्षा से घडा नित्य है किसी अपेक्षा से घडा नित्य नही है, यहाँ दोनो भगो मे अपेक्षा बदल जाती है। यहा प्रथम भग मे द्रव्य की अपेक्षा से घडे को नित्य कहा गया है और दूसरे भग मे पर्याय की अपेक्षा से घडे का नित्य नही कहा गया है। द्वितीय भग के प्रतिपादन के ये दोनो रूप भिन्न-भिन्न हैं। दूसरे यह कहना कि परचतुष्टय की अपेक्षा मे घट नही है या पट की अपेक्षा घट नही है भाषा की दृष्टि से थोडा भ्रान्तिजनक अवश्य है क्योकि पर चतुष्टय वस्तु की सत्ता निषेधक नही हो सकता है। वस्तु मे परचतुष्टय अर्थात् स्व भिन्न पर द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव का अभाव तो होता है किन्तु उनकी अपेक्षा वस्तु का अभाव नहीं होता है। क्या यह कहना कि कुर्सी की अपेक्षा टबल नही है या पीतल की अपेक्षा यह घडा नही है भाषा के अभ्रान्त प्रयोग है ? इस कथन मे जैनाचार्यो का आशय तो यही है कि टेबल कुर्सी नही है या घडा पीतल का नही है। अत परचतुष्टय की अपेक्षा स वस्तु नही है, यह कहने की अपेक्षा यह कहना कि वस्तु मे परच-तुष्टय का अभाव है, भाषा का सम्यक् प्रयोग होगा। विद्वानो से मेरी विनती है कि वे सप्तभगी के विशेष रूप से द्वितीय एव तृतीय भग के भाषा के स्वरूप पर और स्वय उनके आकारिक स्वरूप परपुर्नविचार करे और आधुनिक तर्कशास्त्र के सन्दर्भ में उसे पुनर्गठित करे तो जैन न्याय के क्षेत्र मे एक बडी उपलब्धि होगी क्योकि द्वितीय एव तृतीय भगो की कथन विधि के विविध रूप परिलक्षित होते हैं। अत यहा द्वितीय भग के विविध स्वरूपो पर थोडा विचार करना अप्रासगिक नही होगा। मेरी दृष्टि मे द्वितीय भग के निम्न चार रूप हो सकते हे—

सांकेतिक रूप

(१) प्रथम भग–अ$_1$ $\supset$ उ$_1$वि$_1$ है
द्वितीय भग–अ$_2$ $\supset$ उ$_1$वि$_1$ नही है

उदाहरण

(१) प्रथम भग मे जिस धर्म (विधेय) का विधान किया गया है, अपक्षा बदल कर द्वितीय भग मे उसी धर्म (विधेय) का निषेध कर देना। जैसे – द्रव्य दृष्टि से घडा नित्य है पर्याय दृष्टि से घडा नित्य नही है।

(२) प्रथम भग–अ$_1$ $\supset$ उ$_1$वि$_1$ है।
द्वितीय भग–अ$_2$ $\supset$ उ$_1$$\smile$वि$_1$ है।
$\smile$ यह चिन्ह प्रथम भग के विधेय के विरुद्ध-विधेय का सूचक है जैसे नित्य के स्थान पर अनित्य।

उदाहरण
प्रथम भग मे जिस धर्म का विधान किया गया है, अपेक्षा बदलकर द्वितीय भग मे उसके विरुद्ध धर्म (विधेय) का प्रतिपादन कर देना है। जैसे द्रव्य दृष्टि से घडा नित्य है। पर्याय दृष्टि से घडा अनित्य है।

(३) प्रथम भग—अ$_1$ $\supset$ उ$_1$वि$_1$ है।
द्वितीय भग–अ$_1$ $\supset$ उ$_1$ – वि$_1$ नही है।

उदाहरण
प्रथम भग मे प्रतिपादित धर्म को पुष्ट करने हेतु उसी अपेक्षा से द्वितीय भग मे उसके विरुद्ध धर्म या भिन्न धर्म का वस्तु मे निषेध कर देना। जैसे– रग की दृष्टि से यह कमीज नीला है। रग की दृष्टि से यह कमीज पीला नही है।

अथवा

अपने स्वरूप की दृष्टि से आत्मा मे चेतन है। अपने स्वरूप की दृष्टि से आत्मा अचेतन नही है।

अथवा

उपदान की दृष्टि से यह घडा मिट्टी का है। उपदान की दृष्टि से यह घडा स्वर्ण का नही है।

(4) प्रथम भग – अ$_1$ $\supset$ उ$_1$ है।
द्वितीय भग अ$_2$ $\supset$ उ$_1$ नही है।

उदाहरण
जब प्रतिपादित कथन देश या काल या दोनो के सम्बन्ध मे हो तब देश काल आदि की अपेक्षा को बदलकर प्रथम भग मे प्रतिपादित कथन का निषेध कर देना। जैसे–15 अगस्त 1947 के पश्चात से पाकिस्तान का अस्तित्व है। 15 अगस्त 1947 के पूर्व मे पाकिस्तान का अस्तित्व नही था।

द्वितीय भग के उपरोक्त चारो रूपो मे प्रथम और द्वितीय रूप मे बहुत अधिक मौलिक भेद नही है। अन्तर इतना ही है कि जहा प्रथम रूप मे एक ही धर्म का (विधेय) का प्रथम भग मे विधान और दूसरे भग मे निषेध होता है, वहा दूसरे रूप मे दोनो भगो मे अलग अलग रूप मे दो विरुद्ध धर्मो (विधेयो) का विधान होता है। प्रथम रूप की आवश्यकता तब होती है जब वस्तु मे एक ही गुण अपेक्षा भेद से कभी उपस्थित रहे और कभी उपस्थित नही रहे। इस रूप के लिए वस्तु मे दो विरुद्ध धर्मो के युगल का होना जरुरी नही है, जबकि दूसरे रूप का प्रस्तुतीकरण केवल उसी स्थिति मे सभव होता है, जबकि वस्तु मे धर्म विरुद्ध युगल हो। तीसरा रूप तब बनता है, जबकि उस वस्तु मे प्रतिपादित धर्म के विरुद्ध धर्म की उपस्थिति ही न हो। चतुर्थ रूप की आवश्यकता तब होती है, जबकि हमारे प्रतिपादन मे विधेय का स्पष्ट रूप से उल्लेख न हो। द्वितीय भग के पूर्वोक्त रूपो मे प्रथम रूप मे अपक्षा बदलती है, धर्म (विधेय) वही रहता है और क्रिया पद निषेधात्मक होता है। द्वितीय रूप मे अपक्षा

बदलती है, धर्म (विधेय) के स्थान पर उसका विरुद्ध धम (विधेय का व्याघातक पद) होता है और क्रियापद विधानात्मक होता । तृतीय रूप मे अपेक्षा वही रहती हैं, धर्म (विधेय) के स्थान पर उसका विरुद्ध या विपरीत पद रखा जाता है और क्रिया पद निषेधात्मक होता हैं तथा अन्तिम चतुर्थ रूप मे अपेक्षा बदलती हैं और प्रतिपादित कथन का निषेध कर दिया जाता है ।

सप्तभंगी का तीसरा मौलिक भग अवक्तव्य है अत यह विचारणीय है कि इस भग की योजना का उद्देश्य क्या है ? सामान्यतया यह माना जाता है कि वस्तु मे एक ही समय मे रहे हुए सत् असत्, नित्य-अनित्य आदि विरुद्ध धर्मों का युगपत् अर्थात् एक साथ प्रतिपादित करने वाला ऐसा कोई शब्द नही है । अत विरुद्ध धर्मों की एक साथ अभिव्यक्ति की शाब्दिक असमर्थता के कारण अवक्तव्य भग की योजना की गई है, किन्तु अवक्तव्य का यह अर्थ उसका एकमात्र अर्थ नही है । यदि हम अवक्तव्य शब्द पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते हैं तो उसके अर्थ मे एक विकास देखा जाता है । डा० पद्मराज ने अवक्तव्य के अर्थ के विकास की दृष्टि से चार अवस्थाओं का निदश किया है

(1) पहला वेदकालीन निषेधात्मक दृष्टिकोण जिसमे विश्व कारण की खोज करते हुए ऋषि उस कारण तत्व को न सत् और न असत् कहकर विवेचित करता है, यहा दोनो पक्षो का निषेध है ।

(2) दूसरा औपनिषदिक विधानात्मक दृष्टिकोण जिसमे सत् असत् आदि विरोधी तत्वो म समन्वय देखा जाता है। जैसे 'तदजति तनेजति' अणोरणीयान् महतो महीयान्, सदसद्वरेण्यम् आदि। यहा दानो पक्षो की स्वीकृति है ।

(3) तीसरा दृष्टिकोण जिसमे तत्व को स्वरूपत अव्यपदेशीय या अनिर्वचनीय माना गया है, यह दृष्टिकोण भी उपनिषदो मे ही मिलता है। जैसे–'यतो वाचो निवर्तन्ते', यद्वाचाम्युदित्य, नैव वाचा न मनसा प्राप्तु शक्य आदि। बुद्ध के अव्याकृतवाद एव शून्यवाद की चतुष्टकोटि विनिर्मुक्त तत्व की धारणा मे भी बहुत कुछ इसी दृष्टिकोण का प्रभाव देखा जा सकता है।

(4) चौथा दृष्टिकोण जैन न्याय मे सापेक्षिक अवक्तव्यता या सापेक्षिक अनिर्वचनीयता के रूप मे विकसित हुआ है ।

सामान्यतया अवक्तव्य के निम्न अर्थ हो सकते है

(1) सत् व असत् दोनो का निषेध करना ।

(2) सत्, असत् और सदसत् तीनो का निषेध करना ।

(3) सत, असत्, सत्-असत् (उभय) और न सत् न असत् (अनुभय) चारो का निषेध करना ।

(4) वस्तुतत्व को स्वभाव से ही अवक्तव्य मानना । अर्थात् यह कि वस्तुतत्व अनुभव मे तो आ सकता है किन्तु कहा नही जा सकता ।

(5) सत् और असत् दोनो को युगपत् रूप मे स्वीकार करना किन्तु उसके कथन के लिए कोई शब्द न होने के कारण अवक्तव्य कहना ।

(6) वस्तुत्व अनन्त धर्मात्मक है अर्थात् वस्तुतत्व के धर्मों की सख्या अनन्त है किन्तु शब्दो की सख्या सीमित है और इसलिए उसमे जितन धम हैं, उतने वाचक शब्द नही है । अत वाचक शब्दो के अभाव के कारण उसे अशत वाच्य और अशत अवाच्य मानना ।

यहा यह प्रश्न विचारणीय हो सकता है कि जैन परम्परा मे इस अवक्तव्यता के कौन से अर्थ

मान्य रहे है । सामान्यतया जैन परम्परा मे अवक्तव्यता के प्रथम तीनो निषेधात्मक अर्थ मान्य नही रहे हैं । उसका मान्य अर्थ यही है कि सत् और असत् दोनो का युगपत् विवेचन नही किया जा सकता है इसलिए वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है किन्तु यदि हम प्राचीन जैन आगमो को देखें तो अवक्तव्यता का यह अर्थ अन्तिम नही कहा सकता है । आचाराग सूत्र मे आत्मा के स्वरूप को जिस रूप में वचनागोचर कहा गया है वह विचारणीय है । वहा कहा गया है कि आत्मा ध्वन्यात्मक किसी भी शब्द की प्रवृत्ति का विषय नही है । वाणी उसका निर्वचन करने मे कथमपि समर्थ नही है, वहा वाणी मूक हो जाती है, तर्क की वहा तक पहुच नही है, बुद्धि (मति) उसे ग्रहण करने मे असमर्थ है अर्थात् वह वाणी, विचार और बुद्धि का विषय नही है किसी उपमा के द्वारा भी उसे नही समझाया जा सकता है क्योकि उसे कोई उपमा नही दी जा सकती, वह अनुपम है, अरूपी सत्तावान है । उस अपद का कोई पद नही है अर्थात् ऐसा कोई शब्द नही है जिसके द्वारा उसका निरूपण किया जा सके ।[2] इसे देखते हुए यह मानना पडेगा कि वस्तुस्वरूप ही कुछ ऐसा है कि उसे वाणी का माध्यम नहीं बनाया जा सकता है । पुन वस्तुतत्व की अनन्तधर्मात्मकता और शब्द सख्या की सीमितता के आधार पर भी वस्तुतत्व को अवक्तव्य माना गया है, आचार्य नेमीचन्द्र ने गोमट्टसार मे अनभिलाप्य भाव का उल्लेख किया है । वे लिखते हैं कि अनुभव मे आये वक्तव्य भावो का अनतवा भाग ही कथन किया जाने योग्य है । अत यह मान लेना उचित नही है कि जैन परम्परा मे अवक्तव्यता का केवल एक ही अर्थ मान्य है ।

इस प्रकार जैन दर्शन मे अवक्तव्यता के चौथे, पाचवे और छठे अर्थ मान्य रहे हैं । फिर भी हमे यह ध्यान रखना चाहिए कि सापेक्ष और अवक्तव्यता और निरपेक्ष अवक्तव्यता मे जैन दृष्टि सापेक्ष अवक्तव्यता को स्वीकार करती है, निरपेक्ष को नही । अर्थात् वह यह मानती है कि वस्तुतत्व पूर्णतया वक्तव्य तो नही है किन्तु वह पूर्णतया अवक्तव्य भी नही है । यदि हम वस्तुतत्व को पूर्णतया अवक्तव्य अर्थात् अनिर्वचनीय मान लेंगे तो फिर भाषा एव विचारो के आदान प्रदान का कोई अर्थ ही नही रह जावेगा । अत जैन दृष्टिकोण वस्तुतत्व की अनिर्वचनीयता को स्वीकार करते हुए भी यह मानता है कि सापेक्ष रूप से वह अनिर्वचनीय है । सत्ता अशत निर्वचनीय है और अशतः अनिवचनीय । क्योकि यही बात उसके सापेक्षवादी दृष्टिकोण और स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुकूल है । इस प्रकार पूर्व निर्दिष्ट पाच अर्थों मे से पहले दो को छोडकर अन्तिम तीनो को मानने मे उसे कोई बाधा नही आती है । मेरी दृष्टि मे अवक्तव्य भग का भी एक ही रूप नही है, प्रथम तो 'है' और 'नही हैं' ऐसे विधि प्रतिषेध का युगपद् (एक ही साथ) प्रतिपादन सम्भव नही है अत अवक्तव्य भग की योजना है । दूसरे निरपेक्ष रूप से वस्तुतत्व का कथन सम्भव नही है । अत वस्तुतत्व अवक्तव्य है । तीसरे अपेक्षाए अनन्त हो सकती है किन्तु अनन्त अपेक्षाओ के युगपद् रूप मे वस्तुतत्व का प्रतिपादन सम्भव नही है इसलिए भी उसे अवक्तव्य मानना होगा । इसके निम्न तीन रूप है ·

(1) $(\text{अ}_1\text{-अ}_2)^{\text{य}} \supset \text{उ}_1$ अवक्तव्य है ।
(2) $\neg\text{अ} \supset \text{उ}_1$ अवक्तव्य है ।
(3) $(\text{अ}^{\infty})\text{य} \supset \text{उ}_1$ अवक्तव्य है ।

सप्तभगी के शेष चारो भग सयोगिक हैं । विचार की स्पष्ट अभिव्यक्ति की दृष्टि से इनका महत्व तो अवश्य है किन्तु इनका अपना कोई स्वतन्त्र दृष्टिकोण नही है, वे अपने सयोगी मूल भगो की अपेक्षा को दृष्टिगत रखते हुए ही वस्तु स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हैं । अत. इन पर विस्तृत विचार अपेक्षित नही है ।

प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी

जैन तर्कशास्त्र मे वाक्य दो प्रकार के माने गये है—सकलादेश और विकलादेश। इनमें प्रमाण वाक्य सकलादेश अर्थात् पूर्ण वस्तु स्वरूप के ग्राहक और नय वाक्य विकलादेश अर्थात् वस्तु के आंशिक स्वरूप के ग्राहक माने जाते हैं। प्रमाण वाक्यो को पूर्ण व्यापी और नय वाक्यो को अशव्यापी कहा जा सकता है। नय वाक्य या अशव्यापी वाक्य की सत्यता प्रमाण वाक्य या पूर्ण व्यापी वाक्य पर निर्भर होती है अत वे सापेक्ष सत्य है जबकि प्रमाण वाक्य स्वत सत्य है उनकी सत्यता स्वय वस्तु स्वरूप पर निर्भर है। तर्कशास्त्र की भाषा मे प्रमाण वाक्य को सामान्य वाक्य (Universal Proposition) और नय वाक्य का विशेष वाक्य (Particular Proposition) माना जा सकता है। सिद्धसेन अभयदेव और शांति सूरि ने सप्तभगी के सप्तभगो मे स केवल तीन मूल भगो (सत्, असत् और अवक्तव्य) का सकलादेशी और शेष को विकलादेशी माना है जबकि भट्ट अकलक और यशोविजयजी ने सातो ही भगो को विवक्षा भेद से सकलादेश और विकलादेश दोनो ही माना है। मेरी दृष्टि से यह दूसरा दृष्टिकोण अधिक समुचित है। इसी आधार पर प्रमाण सप्तभगी और नय सप्तभगी ऐसा विभाजन भी हुआ है। प्रथम प्रश्न तो यह है कि प्रमाण सप्तभगी और नय सप्तभगी के अन्तर का आधार क्या है? यदि हम यह माने कि प्रमाण सप्तभगी मे अभेद दृष्टि से या व्यापक परिप्रेक्ष्य मे वस्तु को देखा जाता है और नय सप्तभगी मे भेद दृष्टि या आशिक परिप्रेक्ष्य मे वस्तु को देखा जाता है तो समस्या यह है कि एक ही प्रकार की वाक्य योजना मे दोनो को कैसे अभिव्यक्त किया जा सकता है। इसलिए जैन आचार्यों ने नयसप्तभगी मे 'एव' शब्द की योजना की है और प्रमाण सप्तभगी मे नही की है। किन्तु एव शब्द कथन की निश्चयात्मकता का सूचक है। आधुनिक पाश्चात्य तर्कविदो ने भी सामान्य वाक्यो को अनिश्चित परिमाण वाले और विशेष वाक्यो को निश्चित परिमाण वाले वाक्य माना है। अत दोनो की सगति बैठ सकती है। परम्परागत पाश्चात्य तर्कशास्त्र मे तो सामान्य तर्क वाक्य के लिए 'सब' और विशेष तर्क वाक्य के लिए 'कुछ' शब्दो की योजना की जाती है किन्तु सप्तभगी के वाक्यो मे ऐसा कुछ भी नही है। मेरी दृष्टि मे तो स्यात् शब्द के ही दो भिन्न अर्थों के आधार पर ही प्रमाण सप्तभगी की योजना की गई है। भट्ट अकलक ने यह माना है कि स्यात् शब्द सम्यक अनेकान्त और सम्यक् एकान्त दोनो का सूचक है। अत: जब हम उसे सम्यक् अनेकान्त के रूप मे लेते है तो वह प्रमाण सप्तभगी का और जब सम्यक एकान्त के रूप मे लेते हैं तो वह नये सप्तभगी का प्रतीक होता है किन्तु एक ही शब्द का दोहरे अर्थों मे प्रयोग भ्रान्ति को जन्म देता है—दूसरे यदि हम 'एव' शब्द का प्रयोग उसके भाषायी अर्थ से अलग हटकर कथन को विशेष या सीमित करने के वाले परिमाणक के अर्थ मे करते हैं तो भी भ्रान्ति की सम्भावना रहती है। उस युग मे जब प्रतीको का विकास नही हुआ था तब यह विवशता थी कि अपने वाछित अर्थ के निकटतम अर्थ देने वाले शब्दो को प्रतीक बनाया जावे किन्तु उससे जो भ्रान्तिया उत्पन्न हुई है उन्हे हम जानते है। यह आवश्यक है कि हम प्रमाण वाक्य और नय वाक्य को अलग अलग प्रतीकात्मक स्वरूप निर्धारित कर प्रमाण सप्तभगी और नय सप्तभगी की रचना करे। दोनो मे मौलिक अन्तर यह है कि प्रमाण सप्तभगी मे कथन का सम्पूर्ण बल वस्तु तत्व की अनन्त धर्मात्मकता पर होता है जबकि नय सप्तभगी मे कथन की अपेक्षा पर बल दिया जाता है प्रमाण सप्तभगी का वाक्य सकलादेशी या पूर्ण व्यापी होता है जबकि नय सप्तभगी का विकलादेशी या अशव्यापी होता है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र मे पूर्ण व्यापी वाक्यो के उद्देश्य को व्याप्त और अशव्यापी वाक्यो के उद्देश्य को अव्याप्त माना जाता है जैन परम्परा ने भी इन्हे क्रमश सकला-

देशी और विकलादेशी कहकर इस पद – व्याप्ति को स्वीकार किया है। केवल अन्तर यह है कि पारम्परिक तर्क शास्त्र मे जहा निषेधित विधेय सदैव ही पूर्ण व्यापी माना जाता है वहाँ जैन परम्परा मे विधेय का विधान और निषेध दोनो ही अशव्यापी होगे। क्योकि स्याद्वादी दृष्टि से विधेय निषेध भी निरपेक्ष नही होगा। आधुनिक प्रतोकात्मक तर्कशास्त्र की दृष्टि से प्रमाण वाक्य और नय वाक्य का स्वरूप निम्न होगा।

प्रतीक

ध$^{\infty}$ —अनन्तधर्मात्मकता या अनतधर्मी

अ$^{\infty}$ —अपेक्षाओ की अनतता

$\exists$—कम से कम एक

$\supset$—अतर्भूतता

प्रमाणवाक्य का प्रतीकात्मकस्वरूप

ध$^{\infty}$ $\supset$ अ$^{\infty}$ $\supset$ $\exists$अ$_1$ $\supset$ ध$^{\infty}$ उ$_1$वि$_1$ है।

व्याख्या

अनन्तधर्मात्मकता मे अनत अपेक्षाए अन्तर्भूत हैं, उनमें कम से कम एक अपेक्षा ऐसी है कि अनत धर्मी उद्देश्य 'क' विधेय 'ख' है।

उदाहरण

अनन्तधर्मी आत्मा मे अनन्त अपेक्षाए अन्तर्भूत हैं उसमे से कम से कम एक द्रव्य अपक्षा ऐसी है कि आत्मा नित्य है।

नय वाक्य

प्रतीकात्मक रूप $\exists$ अ$_1$ $\supset$ उ$_1$ वि$_1$ है।

व्याख्या

कम से कम एक अपेक्षा ऐसी है कि उ 'क' वि 'ख' है।

उदाहरण

कम से कम एक द्रव्य अपेक्षा है कि उसके अनुसार आत्मा नित्य है।

इस प्रतीकीकरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सकलादेशी प्रमाण वाक्यो मे बल वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता (सम्भावित मूल्य) पर होता है जबकि विकलादेशी वाक्यो में बल उस अपेक्षा पर होता है जिससे कथन किया जाता है। इन्ही वाक्यो के आधार पर प्रमाण सप्तभगी और नय सप्तभगी की रचना की जा सकती है। विस्तार भय से हम उसमे नही जाना चाहते हैं।

सप्तभगी और त्रिमूल्यात्मक तर्क शास्त्र

वर्तमान युग मे पाश्चात्य तर्कशास्त्र के विचारको मे ल्यूकसाइविक ने एक नयी दृष्टि दी है, उसके अनुसार तार्किक निर्णयों मे केवल सत्य, असत्य ऐसे दो मूल्य ही नही होते अपितु सत्य, असत्य और सम्भावित सत्य ऐसे तीन मूल्य होते है। इसी सन्दर्भ मे डा० एस एस बारलिंग पाडे तथा मगनलाल पाण्डे ने जैन न्याय को त्रिमूल्यात्मक सिद्ध करने के प्रयास क्रमश जयपुर एव पूना की एक गोष्ठी मे किये थे। यद्यपि जहा तक जैन न्याय या स्याद्वाद के सिद्धान्त का प्रश्न है उसे त्रिमूल्यात्मक माना जा सकता है क्योकि जैन दार्शनिको ने प्रमाण नय और दुनय ऐसे तीन रूप माने है, उनमे प्रमाण सत्य का, नय आशिक सत्य का और दुनय असत्य के परिचायक हैं। पुन जैन दार्शनिको ने प्रमाण वाक्य और नय वाक्य ऐसे दो प्रकार के वाक्य मानकर प्रमाण वाक्य को सकलादेश(सुनिश्चित सत्य या पूण सत्य) और नय वाक्य को विकलादेश (सम्भावित सत्य या आशिक सत्य) कहा है। वाक्य को न सत्य कहा जा सकता है और न असत्य। अत सत्य और असत्य के मध्य एक तीसरी कोटि आशिक सत्य या सम्भावित सत्य मानी जा सकती है। वस्तुतत्व की अनन्त धर्मात्कता एव स्याद्वाद सिद्धात भी सम्भावित सत्यता के समर्थक है क्योकि वस्तुतत्व अनन्त धर्मात्मकता अन्य सम्भावनाओ को निरस्त नही करती है और स्याद्वाद उन कथित सत्यता के अतिरिक्त अन्य सम्भावित सत्यताओं को स्वीकार करता है।

इस प्रकार जैन दर्शन की वस्तुतत्व की अनन्त धर्मात्मकता तथा प्रमाण, नय और दुर्नय की धारणाओं के आधार पर स्याद्वाद सिद्धात त्रिमूल्यात्मक तर्क शास्त्र (Three Valued Logic) या बहुमूल्यात्मक शास्त्र का समर्थक माना जा सकता है किन्तु जहा तक सप्तभगी का प्रश्न है उसे त्रिमूल्यात्मक नही कहा जा सकता क्योकि उसमे नास्ति नामक भग एव अवक्तव्य नाम भग क्रमश असत्य एव अनियतता (Flase & Indeterminate) के सूचक नही है। सप्तभगी का प्रत्येक भग सत्य मूल्य सूचक है यद्यपि जैन विचारको ने प्रमाण सप्तभगी और नय सप्तभगी के रूप मे सप्तभग के जो दो रूप माने हैं, उसके आधार पर यहा कहा जा सकता है कि प्रमाण सप्तभगी के सभी भग सुनिश्चत सत्यता और नय सप्तभगी के सभी भग सम्भावित या आशिक सत्यता का प्रतिपादन करते हैं। असत्य का सूचक तो केवल दुर्नय ही है। अत सप्तभगी त्रिमूल्यात्मक नही है। सक्षेप मे स्याद्वाद सिद्धात की तुलना त्रिमूल्यात्मक तर्कशास्त्र से निम्न रूप मे की जा सकती है।

त्रिमूल्यात्मक तर्कशास्त्र की त्रयी—	1. निश्चितता	2 सम्भाव्यता	3 असम्भाव्यता
	↓	↓	↓
	सत्य मूल्य	आंशिक सत्यमूल्य	असत्यमूल्य
जैन दर्शन की त्रयी—	1 प्रमाण	2 नय	3 दुर्नय
	↓	↓	↓
	सत्य मूल्य	आशिक सत्य मूल्य	असत्य मूल्य

अत स्याद्वाद त्रिमूल्यात्मक है किन्तु सप्तभगी द्विमूल्यात्मक है उसमे असत्य मूल्य नहीं है। उसमे भी प्रमाण सप्तभगी निश्चित सत्यता की सूचक है और नय सप्तभगी आशिक सत्यता की।

---

1 प्राच्य विद्या सम्मेलन कर्नाटक विश्वविद्यालय धारवाड मे सन् 1976 मे पठित।

2 सध्वे सरा नियट्टति, तक्का जत्थन विज्जइ
मई तत्त्त न गहिया उपमा न विज्जई
अपयस्स पय नत्थि।

आचाराग 1–5–6–171

3 पण्णवणिज्वा भावा अणतभागो दु अणभिलप्पान।
पण्णवणिज्जाणपुण अणतभागो सुदनिवद्धो ।।

गोमट्टसार, जीव 334

हम प्रतिदिन शास्त्र पढ़ते और सुनते हैं किन्तु उसका कोई प्रभाव हमारे जीवन मे नही होता। इसका कारण यह है कि हम शास्त्र मे बताए सत्य को केवल पढ़ने या श्रवण करते है उन पर हमारी प्रतीति नहीं होती। यदि प्रतीति हो जाय तो निश्चित रूप से हम उस मार्ग पर चलने लगें। सत्मार्ग पर अग्रसर होने की पहली शर्त है उस पर प्रतीति। इसी को तोते के एक उदाहरण द्वारा विद्वान् लेखक ने, जो कि अपने विशेष ढग से चिन्तन के लिए विख्यात है, स्पष्ट किया है। काश ! हम इस सत्य को समझ सकते। प्र० सम्पादक

शाब्दिक सत्य उसका स्थूल संस्करण होता है

❀ विद्यावारिधि डा० महेन्द्रसागर प्रचण्डिया, अलीगढ़

परा प्रतीति की वस्तु है। वह पश्यन्ति मध्यमा से होती हुई बैखरी का रूप ग्रहण करती है। ध्वनि का धर्म वस्तुत बिखरना है। शब्द एक विशेष ध्वनि है जो कण्ठ मे निकलकर कर्ण विवर मे सुनाई पड़ती है।

शब्द मे जो अर्थ–अभिप्राय होता है वह अत्यन्त सूक्ष्म होता है। उसमे रूप धारण करने की शक्ति-सामर्थ्य नही होती। अर्थ का सीधा सम्बन्ध अनुभूतिजन्य है। इस प्रकार शाब्दिक सत्य विनिमय साध्य होता है जबकि अनुभूतिजन्य सत्य (परानुभूतिमात्र) प्रतीति की वस्तु है।

यही कारण है कि शाब्दिक सत्य व्यवस्था की बात करता है उसमे आस्था के लिए कोई बल विवेक नही होता। इसीलिए शास्त्र अनुभूति के अभाव मे निरे निरर्थक प्रमाणित होते है।

एक वृत्त का स्मरण हुआ है, यहाँ मै उसी के माध्यम से अपनी बात को स्पष्ट करू गा।

मन्दिर का पुजारी द्वार पर बनी एक कोठरी मे निवास करता है। उसके बाहर एक सकरा-सा छज्जा है। उसी छज्जे मे अनेक छीके टगे हुये है। एक पिजरा उन्ही के बीच मे टगा है जिसमे पानी-पाथेय के साथ एक तोता बैठा है। किसी आगत की आहट पाकर वह बोलता है— उसके बोल–'हरे राम, मुक्ति-मुक्ति' किसी को भी स्पष्ट ध्वनि मे सुनाई पड सकते है।

सयोग से एक परदेशी हरिभक्त का मध्यह्न मे आना हुआ। उन्हे मन्दिर बन्द मिला। वे पुजारी बाबा के निकट सोद्देश्य पधारे। उन्हें पुजारी से पहिले तोता के दर्शन हुए। उनके आगमन पर तोता ने 'हरे राम-मुक्ति-मुक्ति' के बोल सुनाये। आगत ने तोते की बात ध्यानपूर्वक सुनी। उन्होने उसे मुक्त करने के लिए पिजडे के द्वार खोल दिये। पिजडा खोला या तोता के मुक्त होने के लिए किन्तु उन्हे तब भारी आश्चर्य हुआ जब खुले पिजडे मे तोता का मुक्त होना नही

हुआ। मुक्त तो वह तब होता जब उसे मुक्ति का अर्थ– अभिप्राय ज्ञात होता। उसने तो मात्र शाब्दिक सत्य को सीखा है और उसी का गाना दुहराना वह आवश्यक समझता है।

क्या हमारे जीवन मे नित्य व्यवहृत शाब्दिक सत्य इसी प्रकार से निरर्थक सिद्ध नही होते। इस प्रकार का किया गया सारा श्रम-परिश्रम व्यर्थ चला जाता है। हमे परा-प्रदेश की प्रतीति को उत्पन्न करना होगा। प्रभु बन करके प्रभु की उपासना सर्वथा कल्याणकारी होती है।

---

(1)

ब्रह्म कहो तो मैं नही, क्षत्री हूँ पुनि नाहि।
वैश्य शूद्र दाऊ नही, चिदानन्द हूँ माहि।।

(2)

मधुर वचन बोलो सदा, करो न मन अभिमान।
क्षमा दया भूलो नहि, जो चाहो कल्याण।।

(3)

लोभ पाप को बाप है, क्रोध क्रूर जमराज।
माया विष की वेलरी, मान विषम गिरिराज।।

(4)

—डा० गोपाल राठौड

जिसने पाया प्रेम जगत मे वह सच्चा धनवान है,
जिसने प्रेम दिया जग भर को वह सच्चा इन्सान है।
सच्चा धर्म वही जो चलता लेकर दीपक प्रेम का,
प्रेम पथिक के चरणो पर झुकता आया भगवान है।
रुदन सदा को खो जाता है, मुसकानो के गाव मे,
जितनी पावन धार गग की, उतना पावन प्यार है।

तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध तो इस क्षेत्र में पूर्वजन्म मे केवली या श्रुत केवली के पादमूल मे परोपकार की उत्कट भावना उत्पन्न होने पर दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं के भाने से होता है मगर उसका उदय केवलज्ञान होने पर ही होता है इससे पूर्व नहीं। तीर्थंकरो के पंचकल्याणक इस प्रकृति के सत्ता मे होने से सातिशय पुण्योदय के कारण होते हैं। वैदिक सम्प्रदाय मे मान्य अवतारवाद की तरह तीर्थंकरों का आविर्भाव इस धरा पर नहीं होता।

प्र० सम्पादक

तीर्थंकर कौन है ?

❀ श्री व्योहार राजेन्द्रसिंह, जबलपुर

धर्म-सूर्य

सूर्योदय होते ही अन्धकार का क्षय होता है, उसी प्रकार तीर्थंकर रूपी धर्म सूर्य के उदय होते ही जगत् मे प्रवर्धमान मिथ्यात्व का अन्धकार भी अन्तःकरण से दूर होकर प्राणी मे निजस्वरूप का अवबोध होने लगता है—

किन्ही की मान्यता है कि धर्म की ग्लानि होने पर धर्म की प्रतिष्ठा स्थापन हेतु शुद्ध अवस्था प्राप्त परमात्मा मानवादि पर्यायो मे अवतार धारण करता है। जिस प्रकार बीज के दग्ध होने पर वृक्ष उत्पन्न नही होता उसी प्रकार राग-द्वेष, मोह आदि विकारो के बीज आत्म समाधि रूप अग्नि से नष्ट होने पर परम पद को प्राप्त आत्मा का राग द्वेष पूर्ण दुनिया मे आकर विविध प्रकार की लीला दिखाना युक्ति, सद्विचार तथा गम्भीर चिंतन के विरुद्ध है। सर्वदोष मुक्त जीव द्वारा मोहमयी प्रदर्शन उचित नही कहा जायगा।

उदय काल

इस स्थिति में आचार्य रविषेण एक मार्मिक तथा सुयुक्ति समर्थित बात कहते हैं कि जब जगत् में धर्म-ग्लानि बढ जाती है सत्पुरुषो को कष्ट उठाना पड़ता है तथा पाप बुद्धि वालो के पास विभूति का उदय होता है तब तीर्थंकर रूप महान् आत्मा उत्पन्न होकर सच्चे आत्म धर्म की प्रतिष्ठा बढाकर जीवो को पाप से विमुख बनाते हैं। उमने पद्मपुराण में कहा है।

आचाराणा विघातेन कुदृष्टीना च संपदा।
धर्म ग्लानि परिप्राप्त मुच्छ्रयन्ते जिनोत्तमा ॥

(जब उत्तम आचार का विघात होता है, मिथ्याधर्मियो के समीप श्री की वृद्धि होती है, सत्य धर्म के प्रति घृणा निरादर का भाव उत्पन्न होने लगता है, तब तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं और सत्य धर्म का उद्धार करते हैं।)

तीर्थ का स्वरूप

इस तीर्थंकर शब्द के स्वरूप पर विचार करना उचित है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने लिखा है, तीर्थ-

मागम तदाधार सघरच' अर्थात् जिनेन्द्र कथित आगम तथा आगम का आधार साधुवर्ग तीर्थ है। तीर्थ शब्द का अर्थ घाट भी होता है। अतएव "तीर्थं करोतीति तीर्थंकर" का भाव यह होगा, कि जिनकी वाणी के द्वारा ससार सिधु से जीव तिर जाते हैं वे तीर्थ के कर्त्ता तीर्थंकर कहे जाते हैं। सरोवर मे घाट बने रहते हैं, उस घाट से मनुष्य सरोवर के बाहर सरलतापूर्वक आ जाता है। इसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् के द्वारा प्रदर्शित पथ का अवलम्बन लेने वाला जीव ससार—सिन्धु में न डूब कर चिन्तामुक्त हो जाता हैं। भगवान् मे कहा है मीर्मी कुर्वन्ति तीर्थानि।

जिनेन्द्र भगवान को भाव तीर्थ कहा है—

दसरग-णाण चरित्ते णिजुत्ता,
जिणवरा दु सव्वेपि ।
तिहि कारणेहि जुत्ता,
तम्हा ते भावदो तित्थ ।।

सभी जिनेन्द्र भगवान् सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र सयुक्त है। इन तीन कारणो से युक्त हैं, इससे जिन भगवान् भाव तीर्थ है।

जिनेन्द्र वाणी के द्वारा जीव अपनी आत्मा को परम उज्ज्वल बनाता है। ऐसी रत्न-त्रय भूषित आत्मा को भाव तीर्थ कहा है। जिनेन्द्र रूप भाव तीर्थंकर बनता है। रत्न त्रय भूषित जिनेन्द्र रूप भाव तीर्थ के द्वारा अपवित्र आत्मा भी पवित्रता को प्राप्त कर जगत के सन्ताप को दूर करने मे समर्थ होती है। इन जिनदेव रूप भाव तीर्थ के द्वारा प्रवर्धमान आत्मा तीर्थंकर बनती है और पश्चात् श्रुत रूप तीर्थ की रचना मे निमित्त होती है।

धर्म-तीर्थंकर

जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति होती है इससे उनको धर्म तीर्थंकर कहते हैं। मूलाचार के एक अत्यन्त भाव पूर्ण स्तुति-पद्य मे भगवान् को धर्म तीर्थंकर कहा है।

"लोगुज्जोयरा धम्मतित्थयरे जिणवरे य अरहते।
कित्तण केवलिमेव य उत्तमबोहि ममदिसतु ।।"

(जगत् को सम्यक्ज्ञान रूप प्रकाश दने वाले धम तीर्थ के कर्ता, उत्तम जिनेन्द्र अर्हन्त केवली मुझे विशुद्ध बोधि प्रदान करें अर्थात् उनके प्रसाद से रत्न त्रय धर्म की प्राप्ति हो)

तीथकर शब्द का प्रयोग

तीर्थंकर शब्द का प्रयोग भगवान् महावीर के समय मे अन्य सम्प्रदायो मे भी होता था, यद्यपि प्रचार तथा रूढिवश तीर्थंकर शब्द का प्रयोग श्रेयाँस राजा के साथ करते हुए उनको दान तीर्थंकर कहा है। अतएव तीर्थंकर शब्द के पूर्व मे धर्म शब्द को लगा कर धम तीर्थंकर रूप मे जिनेन्द्र का स्मरण करने की प्रणाली प्राचीन है।

प्रकृति के बन्धक

सम्यक्त्व होने पर ही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। इस प्रकृति का बन्ध क्रियान्वित गति का छोडकर तीन गतियो मे होना है। किन्ही आचार्यो का कथन है कि नरक की प्रथम पृथ्वी मे तीर्थंकर का बध पर्याप्त तथा अपर्याप्त अवस्था मे होता है। दूसरी तथा तीसरी पृथ्वी मे पर्याप्त अवस्था मे ही इसकाबन्ध होता है आगे के नरको मे इस प्रकृति का बन्धनही होता।

दर्शन विशुद्धि आदि तीर्थंकर नाम कम के कारण है। दर्शन विशुद्धि आदि भावनाएँ पृथक् रूप मे तथा समुदायरूप मे तीर्थंकर पद प्राप्ति के के कारण है।

तीर्थंकर धर्म

सुख रूप फलो से युक्त होते हैं । दर्शन विशुद्धि मे आगत दर्शन शब्द सम्यक् दर्शन का ही वाचक है । दर्शन के होने पर प्राप्त विशुद्धि रूप यह भावना है । विशुद्धि का अर्थ है पुण्यप्रद उज्ज्वल भाव ।

विश्व कल्याण की प्रबल भावना के द्वारा सम्यक्त्व प्राप्त जीव तीर्थंकर प्रकृति का बध करता है । विनयशीलता अर्हन्त और आचार्य भक्ति प्रवचन पटुता आदि अनेक भावनायें सम्यक् व के होने पर सहज ही इसके अ गरूप में प्राप्त होती हैं ।

सम्यक्-दर्शन और दर्शन विशुद्धि

सम्यक्-दर्शन और दर्शन विशुद्धि भावना मे भेद है । सम्यक-दर्शन आत्मा मे एक विशेष परिणाम है । उसके सद्भाव मे लोक-कल्याण की भावना उत्पन्न होती है । उसे दर्शन विशुद्धि भावना कहते है ।

तीर्थंकर प्रकृति के सद्भाव का प्रभाव

तीर्थंकर प्रकृति का उदय केवली अवस्था मे होता है । यह नियम होते हुए भी तीर्थकर के गर्भ, जन्म, तथा तप कल्याणक तीनो तीर्थंकर के प्रकृति सद्भाव मात्र से होते हैं । पचकल्याणक वाले तीर्थंकर मनुष्य पर्याय से परिणाम से नही आते । वे नरक या देवगति से आते हैं । भरत क्षेत्र सम्बन्धी वतमान तीर्थंकर स्वग सुख भोगकर भरत क्षेत्र मे उत्पन्न हुए थे । इनमे नरक से कोई नही आए । नरक से निकलकर न आने वाली आत्मा तत्वज्ञो को रुचिकर लगता है किन्तु भक्तो को इससे मनोव्यथा होती है । इसका क्या समाधान है ?

स्वर्ग या नरक का कारण

जीव विशुद्ध भावो से पुण्य को सचय कर स्वर्ग जाता है तथा संक्लेश परिणामों के कारण पाप का सग्रह कर नरक जाता है । पुण्य कर्म की उदयावलि द्वारा क्षय करने के लिए जैसे होनहार तीर्थंकर स्वर्ग गमन करता है उसी प्रकार सचित गुण राशि को उपभोग द्वारा क्षय करने के लिए नरक मे जाता है मोक्ष प्राप्ति के लिए दोनो आवश्यक हैं । सम्यक्त्व की दृष्टि से स्वर्ग और नरक दोनो ही अस्थाई है । आचार्य अमितगति के शब्दो मे वह सोचता है, कि 'मेरी आत्मा अधुरी है उसका विनाश नही मिलता । वह मलिनता रहित है । ज्ञानस्वरूप है समस्त पदार्थ मेरी आत्मा से अलग हैं कर्मो के फलस्वरूप अवस्था मे मेरी नही है ।'' इस दृष्टि से इसीलिए दुख और सुख दोनो अस्थाई है अत तीर्थंकर चाहे नरक से अथवा स्वर्ग से आकर मनपर्यय, मानव देह धारण करे उसस तीर्थंकरत्व को कोई क्षति नही पहुचती ।

गुण अन्य विशेषता

तीर्थंकर की विशेषता उसके गुणो को दृष्टि मे रखकर की जाती है । तीर्थंकर भक्ति का अन्तिम चरण बडा प्रेरक है ''मेरे दुखो का क्षय से कर्मों का क्षय हो । रत्न त्रय का लाभ हो । सुगति मे गमन हो समाधि पूर्वक मरण हो । जैनेन्द्र की सम्पत्ति प्राप्त हो ।'' ससार इन पाच प्रकार के क्लेश और अकल्याणो का आश्रय माना गया है उनको द्रव्य क्षेत्र काल भव तथा भावरूप पच परावर्तन कहते हैं । मोक्ष का स्वरूप चितवन करने वाले सत्पुरुष को उक्त पच परावर्तन रूप ससार मे परिभ्रमण का कष्ट नही उठाना पडता है । उनके पुण्य जीवन के प्रसाद से पच प्रकार के अकल्याण छूट जाते हैं तथा यह जीव मोक्षरूप पचमगति को प्राप्त करता है । पच अकल्याणो की प्रतिपक्ष रूप तीर्थंकर के जीवन की गर्भ जन्मादि पच अवस्थाओ की पच कल्याण का पचकल्याणक नाम से प्रसिद्ध है ।

ये जीवन एक रैन का सपना

❀ श्री भगवान् स्वरूप जैन 'जिज्ञासु', आगरा

ये जीवन एक रैन का सपना।

कोई नही यहा अपना, बन्दे, कोई नही यहा अपना ।। ये० ।।

जान नही पाया तू अब तक झूठी जग की थपना।

भूल गया इस मोह मे फसकर, जिनवर नाम का जपना ।। ये० ।।

पल-पल मे पर्याय बदलती, ज्यो पल-पल दृग झपना।

नस जाते जब जीवन क्षण मे, कैसा यहाँ पनपना ।। ये० ।।

काप रहे भव-जीव कि जैसे कृश काया का कपना।

मिथ्या दर्शन-ज्ञान चरित से भव-भव माहि तडपना ।। ये० ।।

सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चरित्र है हरते जीव-कलपना।

शाश्वत सुख-दातार अनूठा सम्यक् तप का तपना ।। ये० ।।

अशुभ त्याग कर शुभ मे आना, शुद्ध माहि शुभ खपना।

धर्म्य-शुक्ल शुभ ध्यान सहारे, मुक्ति-महल पद चपना ।। ये० ।।
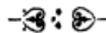
-:ः:-

जैन दर्शन में भौतिक पदार्थों के सग्रह को परिग्रह नहीं कहते अपितु मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं और मोह के उदय से उत्पन्न हुआ ममत्व परिणाम मूर्च्छा कहलाता है। इसलिये धन धान्य आदि बाह्य परिग्रहो के बिना भी ममत्व परिणाम रखने वाला परिग्रही कहलाता है। धन धान्य आदि तो मूर्च्छा भाव के उत्पन्न होने के कारण होने से कारण मे कार्य का उपचार करने से परिग्रह कहलाते हैं। परिग्रह के अन्तरग और बाह्य ऐसे दो भेद हैं और ये हिंसा की ही पर्यायें होने से पाप रूप हैं। मिथ्यात्व और अनान्तानुबधी चार कषायो के सद्भाव मे कभी भी सम्यग्दर्शन नही हो सकता जो कि शास्त्रों मे मोक्ष महल की पहली सीढ़ी कहा गया है। परिग्रह का उल्टा अपरिग्रह है। इस व्रत का विस्तृत विवेचन विद्वान् लेखक ने इन पक्तियो मे किया है। प्र० सम्पादक

महावीर द्वारा प्रतिपादित अपरिग्रह व्रत-

डा कन्छेदीलाल जैन, शहडोल

अहिंसा को परमधर्म माना गया है। अहिंसा के साथ सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचय और अपरिग्रह को मिलाने से पाच व्रत हो जाते हैं। 23वे तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथ का धर्म चातुर्याम कहलाता था क्योकि उसमे ब्रह्मचर्य व्रत अपरिग्रह मे सम्मिलित था। भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य को अलग महत्त्व देकर पाच व्रतो का व्याख्यान किया। मूल व्रत अहिंसा ही है। सत्य, अचौय अपरिग्रह आदि सभी व्रत अहिंसा के ही रक्षक है। चोरी करने से जिस व्यक्ति का धन चला जाता है, उसे दु ख पहुचता है। असत्य भाषण से भी लोगो को कष्ट होता है उसी प्रकार एक व्यक्ति के पास सम्पत्ति का सग्रह हो जाने से दूसरे निर्धन लागो को पीडा होती है। इसलिए अपरिग्रह व्रत भी अहिंसा की रक्षा के लिए है।

एक बार महावीर वैशाली के पास वाणिज ग्राम गए, वहा एक आनन्द नामक सेठ रहता था, उसके खजाने मे 4 करोड मुद्राए रिजर्व थीं, इतनी ही मुद्राए ब्याज पर दिए था और इतनी ही राशि व्यापार मे लगाए था। चार गोकुलों मे दस-दस हजार गौए थी, पाँच सौ हलो का खेती थी, बहुत लोगो को महावीर के दर्शनार्थ जाते देखकर वह भी महावीर के पास पहुचा। आनन्द ने अणुव्रत पालने की इच्छा व्यक्त की– महावीर ने कहा कि तुम्हारे जैसे सम्पन्न सेठ के रहते हुए, कई लोगो के चूल्हे अन्न के अभाव मे नही जलते हैं जबकि तुम्हारे यहा अन्न का इतनी अधिकता है कि लापरवाही से चूल्हे मे रोटिया जल जाती हैं। तुम्हारा इतना सग्रह लोक शोषक एव लोक पीडक है। पहले प्रत्येक व्यक्ति का पेट भरे इतना ध्यान रखना चाहिए, पेटी भरते रहना उचित नही है।

आनन्द ने महावीर से पूछा– अपरिग्रह अणुव्रत किस प्रकार पाला जा सकता है। महावीर ने बताया कि सबसे महान् व्रत तो यह है कि समस्त

परिग्रह त्यागकर दिगम्बर रूप धारण कर महाव्रती बना जाय। परन्तु गृहस्थ लोगो का उत्तम अणुव्रत यह है कि जितने की आवश्यकता, उपयोग के लिए हो उतना धन रखकर शेष का त्याग किया जाय। मध्यम रूप यह है कि अभी जितनी सम्पत्ति है उससे अधिक का सग्रह न करने का नियम लिया जाय। यदि अधिक आय हो तो उसका त्याग किया जाय। तीसरा जघन्य रूप यह है कि जितनी सम्पत्ति वर्तमान मे है उससे दुगुने तक की सम्पत्ति का नियम ले लिया जाय और कभी उससे अधिक नही बढने दी जाय। उसने मध्यम मार्ग का अनुकरण किया और नियम लिया कि इस समय मेरे पास जितनी सम्पत्ति है उससे अधिक का सग्रह नही करूगा। अब तक जिन गायो का दूध बेचा जाता था उसने अभावग्रस्त लोगो मे दूध बाटना शुरू कर दिया बगीचो के फलफूल बेचना बन्द करके लोगो मे बाटना शुरू कर दिया तथा जो दूसरो की ओर कर्ज था वह भी वापिस लेना अस्वीकार कर दिया। आज सग्रह के लिए इतनी होड लगी है कि दूने की तो बात दूर रही सैकडो गुना धन बढ जाने पर भी बढाते रहने की लालसा बनी हुई है। सरकार ने ऋण माफी के कानून बनाए है अन्यथा साहूकार मूलधन से कई गुना ब्याज ही वसूल कर लेते थे।

अपरिग्रह के चिन्तन मे एक बात और समाहित है कि देश के विकास के लिए अधिक से अधिक उत्पादन एव सम्पत्ति की समृद्धि होना अच्छी बात है। व्यक्ति के लिए अपरिग्रह का व्रत है। व्यक्ति जो भी कमाए ईमानदारी से कमाए, परन्तु उसका सग्रह न करके व्यय करता जाय, क्योकि विषमता अधिक उत्पादन से नही, बल्कि सग्रह की प्रवृत्ति से बढती है। महावीर ने धन के अस्तित्व को परिग्रह नही कहा उनकी परिभाषा मे सूक्ष्म दृष्टि प्रतीत होती है। उन्होने मूर्च्छा को परिग्रह कहा है। अर्थात् धन, सम्पत्ति के प्रति ममत्व भाव या आसक्ति को परिग्रह बताया है। जिस प्रकार बैंक का कैशियर अथवा किसी सेठ का लेखाकार लाखो रुपयो का लेन देन करता है परन्तु उन रुपयो के प्रति उनका ममत्व भाव नही होता है। व्यक्ति का धन सम्पत्ति के प्रति मात्र ज्ञाता द्रष्टा का भाव होना चाहिए जैसे दर्पण के समक्ष उपस्थित वस्तु का प्रतिबिम्ब दर्पण में झलकता है परन्तु वस्तु के हटते ही प्रतिबिम्ब मिट जाता है। कैमरे की स्थिति दर्पण से भिन्न होती है, कैमरे के समक्ष उपस्थित वस्तु का प्रतिबिम्ब निगेटिव मे जम जाता है, किसी व्यक्ति का वस्तु के प्रति इस प्रकार का लगाव नही होना चाहिए।

इस प्रकार देश मे सम्पत्ति का उत्पादन खूब होना चाहिए परन्तु उस सम्पत्ति पर आसक्ति किसी व्यक्ति की नही होनी चाहिए। ऐसी सम्पत्ति देश तथा समाज के कल्याण के लिए होती है। इस व्यवस्था मे किसी व्यक्ति को दूसरो के प्रति ईर्ष्या जलन की प्रवृत्ति नही उत्पन्न होती है।

जिस प्रकार मछली की जल के प्रति तीव्र आसक्ति होने से वह जल के बाहर होते ही बेचैन हो जाती है। परन्तु मेढक जल मे रहकर भी उससे उतना आसक्त नही है अत जल के बाहर रहने पर भी बेचैनी अनुभव नही करता। किसी वस्तु के प्रति व्यक्ति का तीव्र रागात्मक सम्बन्ध हो और ऐसी वस्तु का विछोह हो जाय तो व्यक्ति को वेदना होती है, वस्तु नही है परन्तु अपने मन की भावना ही हमे सुखी या दुखी बनाती है। जिस प्रकार कन्या का विवाह होने पर अपने बचपन के घर को पराया और वर पक्ष के पराए घर को अपना समझने लगती है इसी प्रकार यदि व्यक्ति की दृष्टि बदल जाय और व्यक्ति को सम्पत्ति के प्रति आसक्ति न रहे तो यही अपरिग्रह होगा।

जिस प्रकार कच्चे नारियल का खोपरे वाला भाग नरेरी से चिपका रहता है और नरेरी के

फोडने पर खोपरा भी साथ मे चोट खाकर फूटता है, परन्तु सूखे नारियल का खोपरा नरियल से चिपका नही रहता है इसलिए नरेरी के फोड देने पर भी खोपरा नही फूटता है। इसी तरह वस्तुओ के प्रति ग्रासक्ति होने पर वस्तुओ के विछोह मे दु ख का अनुभव होता है परन्तु आसक्ति न होने पर दु.ख नही होता है।

आसक्ति एव सग्रह की भावना रखने के कारण निर्धन भिखारी भी परिग्रही हो सकता है, आसक्ति न रहने पर सम्पन्न आदमी भी अपरिग्रही हो सकता है। राजा जनक को लोग अनासक्त योगी कहते थे। श्रीराम जो राज्य छोडकर वन को गए तो उन्हे जरा भी दु ख नही हुआ क्योकि उन्हे राज्य के प्रति आसक्ति नही थी। सस्कृत के एक कवि ने इसी भाव को इस प्रकार है —

न विरक्ता धर्नैस्त्यक्ता ।
न विरक्ता दिगम्बरा ॥
विशेषरक्ता स्वपदे ।
त विरक्ता मता मम ॥

धन सग्रह तथा परिग्रह की तीव्र आकाक्षा के कारण मनुष्य सभी तरह के पाप एव दुष्कर्म करके भी धन सग्रह की चेष्टा करता है। डाकू लोग धन के लिए दूसरो की हत्या करके हिसादि पाप के भागी बनते है। सग्रह के लिए तस्करी टैक्सो की चोरी आदि करके भी लोग झूठ हिसाब रखते हैं तथा असत्य व्यवहार का पाप करते हैं। न्याय लयो मे झूठी शपथ लेते है। धन सग्रह तीव्र लालसा के कारण कई ललनाए वेश्या जैसा अब्रह्म का पेशा अपना लेती है। इस प्रकार सग्रह की लालसा अनेक कुकर्मो की जड है। राजनैतिक पद की तीव्र आकाक्षा दूसरे नेताओ की हत्या करा देती है। साम्राज्य की आकाक्षा दूसरे देशो पर आक्रमण कराती है तथा युद्ध जैसे नर सहारक कार्यो का कारण बनती है। यही परिग्रह की आकांक्षा भाई-भाई तथा पुत्र पिता के बीच वैर करा देती है।

जीवन को चार भागो मे विभाजित किया गया था, उनमे गृहस्थ आश्रम मे ही व्यक्ति परिग्रह सचय मे कार्य करता था, उसमे भी गृहस्थ को आसक्ति नही रहती थी, इसलिए धन का परहित मे दान किया जाता था। इस समय बाल अवस्था से ही मनुष्यो मे विभिन्न प्रकार के सग्रह की प्रवृति पाई जाती है वानप्रस्थ और सन्यास जैसे आश्रम तो अब लुप्त ही हो गए हैं। जन्म से मृत्यु पर्यन्त मनुष्य अब सग्रह में ही लगा रहता है। सगृहीत वस्तुओ के लेखे जोखे मे मनुष्य व्यस्त रहता है। मनुष्य आत्म कल्याण सम्बन्धी सत्कर्मों का लेखा जोखा करना भूल गया है।

यह भ्रान्त कल्पना, कि सुख बाहिरी वस्तुओ मे है मनुष्य को परिग्रह के पजे मे जकडे रहती है परन्तु बाहिरी वस्तुओ के सग्रह मे वास्तविक सुख नही है मनुष्य का आकाक्षा जिस वस्तु के सग्रह की हाता है, उसके पाने के लिए बेचैनी रहती है, तरह तरह की चिन्ताओ के बाद कष्ट सहकर उस वस्तु का पा भी लेता है, तो उसके तत्काल बाद उससे भिन्न अन्य वस्तु को पाने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है इस प्रकार इच्छाओ का क्रम चलता रहता है। सुख और सन्तोष का समय कभी प्राप्त नही होता है। अर्थशास्त्र की सिद्धान्त है कि एक इच्छा दूसरी इच्छा को जन्म देती है रेडियो की इच्छा पूरी होन पर टेलीविजन का, और मोटर साईकिल की इच्छा पूरी होने पर कार लाने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। आशागर्त प्रतिप्राणी यत्र विश्वमणू पमम्' प्रत्यक प्राणी की आशा (इच्छा) का गड्ढा इतना बडा होता है कि उसको भरने के लिए सारे ससार के समस्त पदार्थ भी थोडे है।

सच्चे सुख का स्रोत आत्मा के भीतर है, परन्तु

जब स्रोत बाहरि वस्तुग्रो की इच्छा रूपी कीचड, पत्थरो मे बन्द हो जाता है तो ग्रात्मा की हौज जैसी स्थिति हो जाती है। जैसे हौज मे बाहर का पानी लाकर भरना पडता है तथा उसमे रोज बदल बदल कर नया पानी भरना पडता है इसी प्रकार ग्रात्मा के ग्रन्तरग सुख का स्रोत बन्द हो जाने पर मनुष्य बीडी, सिगरेट, शराब, सिनेमा, रेडियो ग्रौर सेवस ग्रादि मे सुख खोजता है परन्तु लगातार इनके सेवन से भी सुख नही मिलता है। गर्मी मे कूलर मे सुख प्रतीत होता है तो शीत ऋतु मे हीटर मे। यदि मनुष्य ग्रात्मा रूपी कुए मे सुख रूपी स्रोत के बन्द कर देने वाले विकार, दुर्व्यसन, बाहरी पदार्थो की चाह रूपी कीचड, पत्थरो को ग्रलग करदे तो सदैव ऐसा सुख मिलता रहेगा जिसमे बाहरी सुख रूपी जल की जरूरत नही है। एक कवि ने बहुत ग्रच्छी बात कही है —

गो धन गज धन वाजि धन, सर्व रतन धन खान।
जब ग्रावे सन्तोष धन, सब धन धूलि समान॥

जिस मनुष्य के पास सन्तोष रूपी धन विद्यमान है वही सुखी है। इसलिए इच्छाग्रो के बढाने मे नही, बल्कि इच्छाग्रो के कम करने मे सुख है। एक व्यक्ति जिसे बीडी, शराब, तम्बाकू, सिगरेट, चाय की इच्छा बनी रहती है उसे इन वस्तुग्रो के सेवन करने पर सुख प्रतीत होता है। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जिसे बीडी, शराब, गाजा, भाग की इच्छा नही होती है वही सुखी है क्योंकि उसे उन चीजो के बिना बेचैनी का ग्रनुभव नही होता है।

शेक्सपियर ने बहुत ग्रच्छी बात कही है कि सोना एक बुरा विष है। The greatest humbing in the world is the idea that money can make a man happy Gold is worst Poision for man's soul, doing more murders in this loath Same is the world than any mortal drug

एक बार दुर्योधन ने ग्रपने मामा शकुनि से कहा था कि मैंने युधिष्ठिर के यहाँ यज्ञ में यह ग्रनुभव किया कि सोना ग्रग्नि के समान चमकदार तो होता है परन्तु ग्रग्नि से भी ग्रधिक जलन पैदा करता है, क्योंकि ग्रग्नि तो छूने पर ही जलती है जबकि युधिष्ठिर के पास भेंट मे प्राप्त सोने को देखकर मुझे जलन पैदा हो गई थी।

समाज मे दान की प्रवृत्ति ग्रासक्ति भाव को कम करने के लिए चालू हुई है जैसे किसी बाध मे छोटा सा छिद्र कर देने से उसके द्वारा पानी निकलता रहता है ग्रौर पूरे बाध को फूटने से बचा लेता है। दान की प्रवृत्ति से परिग्रह के दुर्गुण कम हो जाते हैं। जितने द्रव्य का दान किया जाता है उतने के प्रति ग्रासक्ति कम हो जाती है। सम्पन्न होकर भी जो लोग दान के द्वारा समाज या देश का कल्याण करते है वे मरकर भी ग्रमर रहते है। राजा श्रेयास, महाराजा भोज तथा भामाशाह दान की प्रवृत्ति के कारण ग्रमर हैं।

लोग परिग्रह केवल ग्रपने लिए नही बल्कि ग्रागे ग्राने वाली पीढियो के लिए सचय करते हैं। एक विचारक ने बहुत ग्रच्छी बात कही है।

पूत सपूत तो क्यो धन सचय।
पूत कपूत तो क्यो धन सचय॥

यदि पुत्र सुपुत्र होगा तो पूर्वजो की कम सम्पत्ति होने पर भी स्वय कमाकर सम्पन्न हो जावेगा, यदि पुत्र कुपुत्र निकल जावेगा तो पूर्वजो की जोडी हुई सम्पत्ति को भी नष्ट कर देगा। इस लिए उसके निमित्त बहुत ग्रधिक सग्रह करना व्यर्थ है।

महावीर ने राग द्वेष ग्रादि विकारी भावो को भी परिग्रह की श्रेणी मे गिना है। केवल रुपया पैसा ही नही, दासी, दास, बर्तन भाडे जमीन, मकान, धान्य (ग्रनाज) सोना चादी ग्रादि वस्तुग्रो के सग्रह की भावना को भी परिग्रह माना है। इस प्रकार ग्रन्तरग तथा बहिरग दोनो प्रकार के परिग्रह का सीमित करना ही गृहस्थो के लिए ग्रपरिग्रह का व्रत है। ❀

हमें याद है प्रसिद्ध विद्वान् और पत्रकार श्री सत्यदेवजी विद्यालकार ने एक बार अपने एक निबंध में लिखा था कि जैनधर्म और वैदिक धर्म सतत् प्रवाहशील नदी के आमने-सामने के दो किनारे हैं जो कभी नहीं मिलते। एक तीन है तो दूसरा छह। शब्द दूसरे हो सकते हैं मगर उनका अभिप्राय यह ही था। जैनधर्म और वैदिक धर्मों में किन बातों में वैषम्य है और किन में साम्य। इन बातों का तुलनात्मक संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया है विद्वान् लेखक ने अपनी इस रचना में।

प्र० सम्पादक

जैनधर्म बनाम वैदिक धर्म

❋ प्रो० श्रीरंजनसूरिदेव, पटना

जैनधर्म, भारत के अतिप्रचलित धर्मों में बौद्धधर्म और वैदिक धर्म या हिन्दू धर्म से सघनता के साथ सम्बद्ध है। भारतीय होने के साथ ही तीनों धर्म समगति रहकर विकसित-वर्द्धित होते रहे हैं। प्रत्येक ने एक दूसरे के उतार-चढ़ाव को देखा है, परस्पर एक ने दूसरे पर प्रहार किया और झेला है। यही कारण है कि एक का दूसरे पर प्रभाव स्पर्श अङ्कित हो गया है।

वैदिक धर्म या हिन्दू-धर्म अब सनातन-धर्म के नाम से रूढ हो गया है। हिन्दू-धर्म की यदि व्यापक व्याख्या की जायगी, तो जैनधर्म भी हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत माना जायगा। किन्तु रूढ अर्थ के सामने यौगिक अर्थ की मान्यता मद्धिम पड़ जाती है। हिन्दू शब्द की व्याख्याओं में जैनधर्म को हिन्दू-धर्म के विद्रोही के रूप में स्वीकार करने का भाव आभासित होता है। फिर भी निष्पक्षता की बात तो यह है कि जैनधर्म भारत का स्वतन्त्र धर्म है। इसका निर्णय दोनों धर्मों के शास्त्रों के अन्तस्साक्ष्य से हो जाता है।

वेदचतुष्टय हिन्दू-धर्म का प्राचीन ग्रन्थ है। पौराणिक कहते हैं कि वेदव्यास ने वेदों का सकलन यज्ञ की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर किया। वेद के तीन विभाग हैं मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद्। मन्त्रसमुदाय संहिता है, तो ब्राह्मण यज्ञ-याग आदि से सम्बद्ध वेदमन्त्रों की व्याख्या करता है। ब्राह्मणग्रन्थ के ही अन्तिम भाग आरण्यक और उपनिषद् हैं, जिनमें दार्शनिक तत्वों की विशद पर्यालोचना की गई है। उपनिषदों को ही वेदान्त कहा गया है।

विषय की दृष्टि से वेद को कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड के रूप में वर्गीकृत किया गया है। संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक कर्मकाण्ड का विषय है और उपनिषद् ज्ञानकाण्ड का।

वेदों का प्रधान विषय है देवता की स्तुति

श्रौर प्रार्थना। वे देवता हैं इन्द्र एव अग्नि, सूर्य, नदी, पर्वत आदि प्रकृति की अनन्त विभूतिया। देवताओ की सख्याओ में ह्रास–विकास भी होता रहा है। इन्ही देवताओ के अनुग्रह से जगत् चालित है, यही रहा है वैदिक आर्यों का विश्वास। इसीलिए, वे सदा देव–स्तुति मे सलीन है। कहते हैं जब वे वैदिक आर्य, अवैदिक काल मे भारत आये, तब अपने साथ देवस्तुतियो को भी साथ लाये। प्रसिद्ध जैन विद्वान् प० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक जैनधर्म' (पृ० 336) में कहा है कि आर्य जब इस नये देश भारत मे अन्य देवपूजको के परिचय मे आये तब उन्हे अपने स्तुतिगीतो के सकलन का उत्साह हुआ। डॉ० राधाकृष्णन् की इण्डियन फिलास्फी' का हवाला देते हुए शास्त्रीजी ने ऋग्वेद को उन्ही स्तुतियो का सग्रह कहा है।

ब्राह्मण–साहित्य मे ईश्वरीय ज्ञान की मान्यता की बात मिलती है। अत. वेदज्ञान की प्राप्ति को पारम्परिक उत्तराधिकार के रूप मे प्रथित माना गया है। वैदिक धर्मेतर जैनधर्म के मनीषियो का तर्क है कि वैदिक काल मे मनुष्य का देवताओ के साथ केवल मात्रिक सम्बन्ध था, क्योकि वैदिक ऋचाओ मे, प्रार्थना करने का मूल्य साथ–साथ चुका देने की बात उट्टकित हुई है।

आरण्यको और उपनिषदो की स्थिति वेदो के अनुकूल नही है। भाषा की दृष्टि से भी उपनिषदो की भाषा वैदिक प्रक्रिया की बिलष्टता से ऊबकर सरल सस्कृत की ओर मुडी। उपनिषद् वेदो की मौलिकता को स्वीकार करके भी वैदिक ज्ञान को मुक्तिदान में असमर्थ मानती हैं। इसी सन्दर्भ मे माण्डूक्य उपनिषद् की नीची और ऊँची विद्याओ की बात स्मरण रखनी चाहिए। वेद प्राप्त विद्या निकृष्ट है, परन्तु शाश्वती प्रतिष्ठा देनेवाली उपनिषद् विद्या उत्कृष्ट है।

यह भी एक विसवादी तथ्य है कि वैदिक आर्य जब भारतवर्ष मे आये तब यहाँ उनका सघर्ष आदिवासियों से हुआ। ऋग्वेद मे सकेतित गौरवर्ण आर्यों और श्यामवर्ण दस्युओ का विरोध इसी बात को सम्पुष्ट करता है। उपनिषद् के पूर्ववर्ती काल मे वैदिक धर्म के विरोध का बीजारोपण हो गया था। चूँकि, आर्य बाहर से आये थे, इसलिए उनमे यहाँ के आदिवासियो को जगली और अज्ञानी कहकर आर्यत्व के प्रभाव से दलित बनाये रखने की सहज प्रवृत्ति सम्भव है। वैदिक आर्य और बाद मे उनके परम्परागत उत्तराधिकारी वैदिक धर्म के समक्ष अन्य धर्मों की स्वतन्त्र मान्यता स्वीकार करना नही चाहते थे। इसलिए, वैदिक धर्मवादियो ने घोषित किया कि जैनधर्म का उद्गम बौद्धधर्म के साथ–साथ या उससे कुछ पहले उपनिषद्काल के बहुत बाद मे उपनिषदो की शिक्षा के आधार पर हुआ। हालाँकि, जैन परम्परा की धारणा है तेईसवे ऐतिहासिक तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ 800 ई पू मे उत्पन्न हुए थे (पर वे जैनधर्म के सस्थापक नही थे), किन्तु इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि ई० पू० प्रथम शती मे ऋषभदेव की पूजा होती थी और वे (भागवतपुराण के अनुसार भी) जैनधर्म के सस्थापक थे। इससे उपनिषदो की शिक्षा को जैनधर्म का आधार मानना असगत सिद्ध हो जाता है। स्पष्ट यह है कि वैदिक धर्मानुयायी वैदिक धम को ही मूलधर्म मानते हैं और जैन–बौद्धधर्मों को उनकी शाखाए या तत्प्रभावित धर्म के रूप मे स्वीकार करते है। किन्तु, जैनमतावलम्बी जैनधर्म को एक स्वतत्र धर्म की सज्ञा देते है। क्योकि, जैन मनीषी वैदिक धर्म और उपनिषद् के सिद्धान्तो के मिश्रण को तर्क–विरुद्ध बतलाते हुए कहते हैं कि जैनधर्म अनादिकाल से ही अपने अस्तित्व को बनाये हुए है। वैदिक काल की जो रूपरेखा उपस्थित की गई है, उससे यही प्रमाणित होता है कि जब वैदिक क्रियाकाण्ड का

विरोध हुआ और जनरुचि उससे विमुख होने लगी, तब वैदिकों ने अपनी स्थिति बनाये रखने के लिए अपने विरोधी धर्मों की, जिनमे जैनधर्म प्रमुख था, आध्यात्मिक शिक्षाओं के आधार पर उपनिषदों की रचना की। उपनिषद् भी बाते तो अध्यात्म की करती थी, किन्तु समर्थन वैदिक क्रियाकाण्ड को देती थी, जिसके विरोधी बराबर मौजूद थे। फलस्वरूप, विरोध की अभिवृद्धि होती ही चली गई।

इसी विरोधकाल मे भगवान् पार्श्वनाथ हुए। उनके उपदेशो ने अपना प्रभाव प्रदर्शित किया। पार्श्वनाथ के लगभग दो सौ वर्ष बाद ही बिहार मे महावीर और बुद्ध का उदय हुआ। वैदिक धर्म मे विचारशास्त्र उच्चतर विद्वानो की वस्तु बनी हुई थी किन्तु महावीर–युग मे उनके धर्म का प्रचार जनसाधारण मे किया जाने लगा। भगवान् पार्श्वनाथ ने लगभग सत्तर वर्षो तक स्थान स्थान पर विहार करके जनसामान्य मे धर्मोपदेश किया। उसी का अनुसरण महावीर और बुद्ध ने अवान्तर काल मे किया। इन महापुरुषो ने आध्यात्मिक विचारो को व्यावहारिक रूप देने तथा विचारो के अनुरूप जीवन–यापन करने की प्रवृत्ति को अपना प्रमुख लक्ष्य बनाया। वैदिक युग मे इन्द्र, वरुण आदि को ही देवता के रूप मे पूजा जाता था, किन्तु जैन–बौद्धधर्मो ने मनुष्य को सर्वोपरि मानकर उसमे ही देवत्व की प्रतिष्ठा की। इसी समय रामायण और महाभारत की रचना हुई और राम तथा कृष्ण को ईश्वर का अवतार मानकर मनुष्य ने देवत्व की प्रतिष्ठा से आकृष्ट होने वाली जनता को वेदब्रह्म की ओर उन्मुख होने से रोका। जैन–बौद्धधर्म मे स्त्री और शूद्र को भी धर्माचरण का अधिकार था। वेदो का पठन–पाठन दोनो के लिए वर्जित था 'न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयाताम्।' इस बात की पूर्ति महाभारत ने भी की। जनता की रुचि अहिंसा की ओर स्वतः नही, बल्कि वेदविरोधी उक्त धर्मों के कारण बढ रही थी और उन्ही के कारण पशुयज्ञ जनता के लिए आलोचना और घृणा का विषय बन रहा था। महाभारत मे ऐसी भी कथा मिलती है, जिसमे पशुयज्ञ को अधम बतलाकर हविर्यज्ञ को ही श्रेष्ठ कहा गया है। इसी आधार पर पूर्वाग्रह-विहीन विद्वानो का कहना है कि महाभारत श्रमण-सस्कृति से प्रभावित है। यह बात इसलिए भी बहुत हदतक सही है कि विभिन्न धर्मो मे परस्पर आदान प्रदान की प्रथा सनातन काल से चली आई है।

वैदिक धर्म की ईश्वर–भावना तथा पशुयज्ञ के हिंसावाद की प्रतिक्रिया के रूप मे ही जैनधर्म का जन्म हुआ, जिसने मानव श्रेष्ठता की आदर्श-वादिता तथा अहिंसावादिता का उद्घोष किया। इसलिए जैनधर्म को प्रतिक्रियावादी धर्म कहा जाता है। हालांकि यह प्रतिक्रिया दुर्गुण के प्रति सद्गुण की प्रतिक्रिया है।

चौबीस तीर्थंकरो मे तेईसवें पार्श्वनाथ और चौबीसवे महावीर वास्तव मे ऐतिहासिक पुरुष थे। वे वासुदेव कृष्ण के पीछे हुए हैं। इन दोनो महापुरुषो मे पार्श्वनाथ बुद्ध के पूर्ववर्ती है और महावीर तथा बुद्ध समकालीन है। इन दोनो महापुरुषो ने स्पष्ट रूप मे कहा कि हिंसा और शुद्धधर्म का मेल सम्भव नही है तथा धर्म के बहाने पशुवध करना पुण्य नही, पाप है। इस निश्चय को उन्होने अपने शुद्ध चारित्र के द्वारा तथा सघ के प्रभाव से जनसाधारण मे फैलाया। इसका हिन्दू–धर्म पर इतना गम्भीर और व्यापक प्रभाव पड़ा कि हिन्दू जनता भी यज्ञ मे हिंसा का प्रबल विरोध करने लगी। किन्तु, ब्राह्मणधर्म मे इतर धर्मो की विशेषताओ को अपनाने की अद्भुत क्षमता है। उपनिषत्कारो ने उत्तरकालीन उपनिषदो के द्वारा बौद्धो और जैनो के अनेक मन्तव्यो को

इस प्रकार अपने मे सम्मिलित कर लिया, मानो वह उपनिषदो की ही मूलवस्तु हो। अत, उपनिषदो मे जैन आचार-विचार का जो पूर्वरूप पाया जाता है, उससे यह निर्णय लेना सवथा भ्रान्ति है कि जैनधर्म उपनिषदो से आविर्भूत हुआ है।

वैदिक या हिन्दू-धर्म और जैन धर्म के सिद्धातो मे अनेक ऐसे अन्तर मिलते है, जो जैनधर्म को स्वतन्त्र धर्म प्रमाणित करते हैं। जैन वेद को नही मानते, स्मृतिग्रन्थो और ब्राह्मणो के अन्य प्रमाणभूत ग्रन्थो को भी प्रमाण नही मानते। महत्त्वपूर्ण पार्थक्य की बात तो यह है कि जैनधम के धार्मिक तत्व और उनकी सारणि स्पष्ट और निश्चित है, किन्तु हिन्दू-धर्म मे परस्पर-विरोधी अनेक सिद्धान्त हैं 'वेदा विभिन्ना श्रुतियो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वच प्रमाणम्।' इसके अतिरिक्त, वैदिक ईश्वर को जगन्नियामक मानते हैं, किन्तु जैन नही मानते। हिन्दू धर्मवाले युग-युग मे प्रलय और सृष्टि की कल्पना करते हैं, किन्तु जैन जगत् को अनादिप्रवाह मानते हैं।

वैदिक धर्मानुयायी मानते हैं कि सनातन धर्म को ईश्वर की प्रेरणा से ब्रह्मा ने प्रकट किया, किन्तु जैनो के मत से युग-युग मे तीर्थंकर होते हैं और वे अपने जीवनानुभव के आधार पर सत्य-धर्म का उपदेश करते है। वैदिकधम मे मोक्ष को दुर्लभ मानते हैं, किन्तु जैनो की मान्यता है कि मोक्ष केवल मानवीय अधिकार की वस्तु है। एक मानते है कि भगवत्कृपा से सुख मिलता है, किन्तु दूसरे का मत है कि सुख-दुख का भोग मनुष्य के सत्-असत् कर्मों पर निर्भर करता है। जैनधर्म मे धर्मद्रव्य, गुणस्थान, मार्गणा आदि अनेक तत्व ऐसे है, जो हिन्दूधर्म मे नही है। जैनन्याय मे स्याद्वाद, नय, निक्षेप आदि बहुत-से तत्व ऐसे है, जो जैनेतर न्याय मे नही है। किन्तु, इतने भेदो के रहते हुए भी दोनो धर्मों के अनुयायियो मे सास्कृतिक दृष्टि से अद्भुत एकरूपता परिलक्षित होती है।

—⊛—

सच और झूठ

श्री मोतीलाल सुराना, इन्दौर

एक दिन सच और झूठ का आमना सामना हो गया। सच ने मुँह फेर लिया तो झूठ बोला, मैं तुझसे बड़ा हू, मेरी तरफ देख। यह सुन सच आश्चर्य से देखने लगा उसकी ओर। तब झूठ बोला— मै यदि न होऊ तो तेरा अस्तित्व भी खतरे मे पड जाय। तुझे कोई पहचाने नही। झूठ की इस बात पर सच को हँसी आ गयी। सोचने लगा सच! आखिर झूठे ने भी एक बार तो सच का आसरा लिया।

शास्त्रों में मोक्षमार्ग का कथन दो प्रकार से किया गया है एक निश्चय मोक्षमार्ग तथा दूसरा व्यवहार मोक्षमार्ग (व्यवहार मोक्षमार्ग साधन है और निश्चय साध्य) कविवर दौलतरामजी ने छहढ़ाला मे कहा है— जो सत्यारथ रूप सु निश्चय, कारन सो ववहारो'। व्यवहार निश्चय का कारण है तो कार्य के लिए कारण की उपेक्षा कैसे की जा सकती है। प प्रवर आशाधरजी ने अनगारधर्मामृत मे कहा है कि व्यवहार और निश्चय को मत छोड़। इनमे से एक के भी अभाव में धर्मतीर्थ का अभाव हो जायगा। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे भी ऐसा ही कहा है। ४थे गुणस्थान से लेकर अन्तिम गुणस्थान तक की सारी क्रिया व्यवहार है। कलकत्ते जाने वाले को सारा रास्ता पार करना ही पडेगा, (बिना रास्ता पार किए कलकत्ते पहुंच ही नहीं सकता। इसी प्रकार बिना व्यवहार के निश्चय की प्राप्ति नहीं हो सकती। हां व्यवहार को ही लक्ष्य मानने वाला उन्नति नहीं कर सकता, अपने लक्ष्य मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता।

—प्र० सम्पादक

व्यवहार नय की उपयोगिता

● पं. गुलाबचन्दजी जैनदर्शनाचार्य, जयपुर

जैनागम मे वस्तु स्वरूप को जानने के लिये प्रमाण नय और निक्षेप का माध्यम बताया गया है। तत्त्वार्थसूत्र में इसी की पुष्टि मे कहा है 'प्रमाणनयैरधिगम" अर्थात् प्रमाण और नय से सम्यग्दर्शनादि का अधिगम होता है। "नामस्थापना द्रव्यभावतस्तन्न्यास" अर्थात् नामादिक से लोक व्यवहार होता है। प्रमाण वस्तु के पूर्ण स्वरूप को बताता है जबकि नय उसके एक देश का विवेचन करता है। नय के नाना भेदो मे दो भेद प्रमुख हैं एक द्रव्यार्थिक और दूसरा पर्यायार्थिक। अध्यात्म भाषा मे इन्हीं को निश्चय और व्यवहार की सज्ञा से व्यवहृत किया गया है। निश्चय वस्तु के निज स्वरूप को साधता है और व्यवहार भेद करके वस्तु को ग्रहण करता है। शुद्ध द्रव्य की प्राप्ति निश्चय के अवलम्बन से होती है किन्तु जब तक उसकी प्राप्ति न हो व्यवहार का आलम्बन लेना पडता है।

शुद्धज्ञायक तत्त्व आत्मा को दर्शन, ज्ञान और चारित्रमय बताना भी व्यवहार नय का वचन है जबकि निश्चय से शुद्ध ज्ञायक ही आत्मा को माना है —

ववहारेणुवदिस्सद णाणिस्स चरित्तदसण णाणं।
णवि णाण ण चरित्त ण दसण जाणगो सुद्धो॥
(समयसार गाथा 7)

ऐसा कहने के बावजूद भी आचार्य कुंदकुंद व्यवहार नय के कायल होकर लिखते हैं—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभास विणा उ गाहेउँ ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥
(समयसार 8)

(जैसे अनार्य भाषा के बिना किसी भी वस्तु का स्वरूप ग्रहण करने के लिये कोई समर्थ नहीं है उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश देना अशक्य है ।

इससे स्पष्ट है कि जब तक जीव संसार मे रहेगा उसे व्यवहार की शरण लेना पड़ेगा । इस गाथा मे म्लेच्छ शब्द संसारी जीवो के लिये समझना चाहिए क्योंकि जो संसार से ऊपर उठ चुके है वे पवित्र शुद्ध बुद्ध निरंजन एक स्वरूप एवम् टंकोत्कीर्ण हैं और जो संसार मे है वे अशुद्ध, अज्ञानी, विनाशी तथा दीनहीन है अतः म्लेच्छ के समान हैं । इसमे यदि तर्क की कोई गुंजाइश है तो मात्र श्रद्धाविषयक पवित्रता की हो सकती है किन्तु वह भी विरलो के हिस्सो की ही कही जा सकती है शेष तो सब समान से ही है ।

व्यवहार के बिना निश्चय का पत्ता नही हिलता यह कुंदकुंद के वचन हैं किन्तु व्यवहार को सर्वथा हेय कहने मे कुछ विद्वान् नही चूकते । मै कहता हू वे कुंदकुंद को समझे ही नही । आचार्य देव ने श्रुत के माध्यम से आत्मतत्व को जानने वाले सम्पूर्ण श्रुत के वेत्ता को श्रुत केवली कहा है जो कि व्यवहार श्रुत के जरिये ही इस पराकाष्ठा को पहुँचा है फिर उस व्यवहार का अपलाप कैसे किया जा सकता है ?

जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा ॥
जो सुयणाण सव्वं जाणइ सुयकेवली तमाहुजिणा ।
णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुयकेवली तम्हा ॥
समयसार 9, 10

जो विषय ऋषीश्वरो के विचारने का है वह आज साधारण अज्ञानी जन के विचारने का विषय हो गया । ऋषीश्वर संसार से ऊपर उठे हुए हैं दृढ श्रद्धान ज्ञान और आचारण मे रंगे पगे है नीची अवस्था छोड कर ऊंची अवस्था मे विचरने वाले हैं – अशुभ को तो सर्वथा छोड ही चुके हैं शुद्ध मे विशेष टिकाव न होने से ही शुभ मे आते हैं किन्तु वे भी झूले की हिलोरमात्र । वे अवश्य व्यवहार को हेय अभूतार्थ असत्यार्थ कह सकते हैं क्योकि अन्ततोगत्वा उन्हे तो निज पद पाने हेतु पर पद का त्याग करना ही है और वह उन्हे निश्चय की शरण, या यो कहिए एक मात्र अपने आत्म द्रव्य की शरण लेनी ही है फिर वे व्यवहार को उपादेय कैसे कहेगे ? पर आश्चर्य जो अशुभ मे रचे हुए है शुद्ध की तो बात ही क्या शुभ को और भी नजर नही कर सकते व्यवहार को हेय अनादरणीय और अभूतार्थ कहते हैं । जिनके यहा रागद्वेष मोह मात्सर्य असूया तथा परस्पर ईर्ष्या द्वेष के भंडार भरे है उत्तम खाना, उज्ज्वल पहनना जमीन के अधर चलना जिनको प्रिय है उनको व्यवहार हेय नही कहना चाहिये ।

व्यवहार को निंद्य कहने वाले न तीन ओंकार पढ सकते हैं और न पंचपरमेष्ठी की स्तुति ही कर सकते है पूजा अभिषेक दान सम्मान तो उनके लिये और भी परे की चीज है ।

हम लोग व्यवहारी जीव हैं । हमे निश्चय की अकाट्य श्रद्धा रखते हुए उत्तम व्यवहार की भूमिका निभानी चाहिए यदि हम किंचित् भी इस भूमिका से खिसकते हैं तो समझिये हमने जिनागम को स्पर्श ही नही किया ।

व्यवहार का अर्थ —

आगम मे भेद को व्यवहार कहा है और दूसरी भाषा मे कारण मे कार्य के उपचार को भी व्यवहार कहा है। जहाँ वस्तु को यथार्थ रूप से समझना हो वहा निश्चय का सहारा लेना होगा किन्तु उसको समझ कर जीवन मे उतारना होगा वहा व्यवहार का सहारा काम आयेगा। जैसे आत्मतत्व की प्राप्ति हेतु बन्धन मुक्ति निश्चय से श्रद्धान का विषय है किन्तु वह कैसे प्राप्त हो इसके लिये उपाय आवश्यक है। समयसार के मोक्ष द्वार मे कहा है—कि जैसे बधनो से बधा हुआ पुरुष बधो का विचार करने से मुक्ति को प्राप्त नही करता इसी प्रकार जीव भी बन्धो का विचार करने मे मोक्ष को प्राप्त नही होता (गाथा 292)। यदि विचार किया जाय तो निश्चय से आत्मा निर्बंध है व्यवहार से ही बधा है और उपाय करने से ही मुक्त होगा यह बध और उससे छूटने के सारे उपक्रम व्यवहार गर्भित हैं अत इसको नकारा नही जा सकता।

वस्तु प्ररूपणा व्यवहार के माध्यम से होती है उसके सहारे के बिना हो ही नही सकती। इस प्ररूपण के कारण ही द्रव्यलिंग और भावलिंग की चर्चा की जाती है। द्रव्यलिंग मे मुनिलिंग और उसका उपासक गृहीलिंग मोक्षमार्ग कहा गया है किन्तु निश्चय से दोनो लिंग ही मोक्षमार्ग मे नही बतलाये। निश्चय तो मात्र श्रद्धा का विषय रह जाता है व्यवहार ही ज्ञान करने और आचरण करने के लिए शेष रहता है। जब यह जीव बध और बन्ध के कारणो को मानेगा तब उनसे छूटने का उपाय करेगा। जैनागम मे सोपाय मुक्ति को ही माना है निरपाय को नही और यह सब व्यवहार मार्ग का अनुसरण करने पर ही सभव है। तत्व श्रद्धा अथवा भेद विज्ञान के बिना तो जैन दर्शन मे स्थान ही नही दिया जाता उसके होने के पश्चात् आचरण करना, हिंसादि पापो से दूर रहना, क्रोधादि कषाय से छूटना, सयम धारण करना, इन्द्रियो पर विजय पाना, सत्कार्य करना, अपने आप को पाने के उपाय रूप ध्यानाध्ययन करना अणुव्रत महाव्रत अगीकार करना ये सब व्यवहार मोक्ष मार्ग है। इसी के सहारे हम जीवन यापन करते हुए अपने आप को तथा अन्य को लाभान्वित कर सकते हैं हमे इस मार्ग को नही छोडना चाहिए। व्यवहार ही जीवन की सफलता की अद्भुत कु जी है। हमारे लिये निश्चय मात्र श्रद्धान का विषय है। हो सकता है वह हमारी भूमिका से ऊपर की भूमिका के लिए परमपयोगी हो किन्तु हम जैसे गृहस्थो के लिए तो व्यवहार ही उपादेय है।

प० बनारसीदास ने कहा है—

> वस्तु स्वरूप विचारतें शरण आपको आप।
> व्यवहारेपन परम गुरू अवर सकल सताप ॥

❖ जन्म मंगल गीत ❖

—डा० बडकुल डी० एल० जैन 'धवल', बरेली

शचि रम्भा गावें गीत, जन्म की परिभाषा ।।टेक।।

भयो-भयो रे, वीर अवतार, मुदित त्रिसला रानी ।
अति पुलकित नृप सिद्धार्थ, सुनो जब यह बानी ।।

आये चतुर्निकाई देव, हर्ष का था वासा । शचि ।।१।।

भये चमत्कार बहु भांति, चकित देखें प्रानी ।
सम्मोहित रति-अनंग, नृत्य की मन ठानी ।।

नाचें किन्नरि-गंधर्ब, हृदय अति उल्लासा ।। शचि ।।२।।

इन्द्रानी बलि-बलि जाय, रुन-झुन ताली पर ।
बाजें नौबत रमणीक, उत्सव द्वारे — पर ।।

सुधि भूलो सकल जहान, पूर्ण भई मन आसा ।।शचि।।३।।

इक–जादू सी मुस्कान, अधर मोहक राता ।
थी आभा दिव्य महान, भास्कर विसराता ।।

सोहला गावें केई नारि, 'धवल' रोचक भाषा ।।शचि।४।।

तीर्थंकर वर्द्धमान

❀ उपाध्याय मुनिश्री विद्यानन्दजी महाराज

विदेह देश स्थित लिच्छिवि गणतन्त्र भारत का प्राचीनतम गणराज्य था। उसके गणप्रमुख राजा चेटक थे। उनके एक अत्यन्त सौम्य स्वभाव वाली त्रिलोक सुन्दरी त्रिशला नामक कन्या थी। उसके शील एव सौजन्य के कारण उसका नाम प्रियकारिणी भी था। राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला अपने नन्द्यावर्त राजप्रासाद मे वृषभदेव और पारसनाथ आदि तीर्थंकरो की भक्ति-पूजा करते हुए अत्यन्त सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रह थे। ईसा पूर्व ५९९ काल सवत्सर आषाढ शुक्ला ६ (छठ) शुक्रवार को प्रियकारिणी त्रिशला ने रात्रि मे सोलह शुभ स्वप्न देखे। प्रात काल वह अत्यन्त प्रसन्न होकर अपने स्वामी राजा सिद्धार्थ के पास पहुची तथा उनसे अपने स्वप्नो का फल पूछा। राजा सिद्धार्थ ने ज्योतिष गणना एव अवविज्ञान के द्वारा फल बताया—"रानी, तुम्हारे गर्भ से एक महान् पुत्र का जन्म होगा, जो आत्म कल्याण करते हुए विश्व का महान् कल्याण करेगा। वह हिंसा, चौर्य, असयम आदि से सत्रस्त मानव को कल्याण का श्रेयोमार्ग प्रदर्शित करेगा।' रानी का मन प्रफुल्लित हो उठा। सहसा उसके मुख मे हृदय की बात फूट पडी - क्या मैं ऐसे महान् पुत्र की मा बनूगी ? रानी त्रिशला के हृदय कमल की उस प्रफुल्लता का अनुभव कौन कर सकता है ? उसका मन-मन्दिर एक दिव्य आलोक से प्रकाशित हो उठा।

इन्द्र ने गर्भवती माता की सेवा के लिए 56 दिव्य कुमारी देवियां भेजी। धीरे-धीरे वह घडी भी आ पहुची जब विश्व को अहिंसा का परम विशुद्ध मार्ग दिखलाने वाला वर्द्धमान महावीर ईसा पूर्व 598 सिद्धार्थि सवत्सर चैत्र शुक्ला 13 (त्रयोदशी) सोमवार को जननी के गर्भ से अवतरित हुए। इस शुभ घडी पर देवताओ ने नद्यावर्त राजप्रसाद तथा नगर पर रत्नो की वर्षा की। राज्य मे चारो ओर खुशहाली छा गई। शस्य श्यामला वसुन्धरा का अनुपम सौन्दर्य उसकी प्रफुल्लता को व्यक्त कर रहा था। राजप्रासाद मे भी सुख और शान्ति की अभिवृद्धि होने लगी। इसे लक्ष्य करके माता-पिता ने बालक का नाम वर्द्धमान अर्थात्–सतत वृद्धि को बढ़ाने वाला—वर्द्धमान रखा।

तप्तताअतनु भानुसम गात्र
यह पूर्वाचल प्रत्यूष पथिक
दिगम्बर पथ के उन्नायक
कृपया हर ले मिथ्या तिमिर ।।

बालक वर्द्धमान जन्म से ही महान् तेजस्वी था। उसके जीवन की अनेक महत्वपूर्ण घटनाए

है। एक बार वे वटवृक्ष के नीचे आठ राजकुमारो के साथ खेल रहे थे। इतने ही मे सगम नामक देव ने उनकी परीक्षा लेने के विचार से भयकर सर्प उनके पास छोडा। उसे देख कर कुछ राजकुमार तो भाग गए किन्तु वर्द्धमान अविचजिन भाव से डटे रहे। उन्होने उस भयकर सर्प को निडरतापूर्वक पकड कर दूसरी ओर छोड दिया। सगमदेव ने यह सब कुछ देख कर अपनी वास्तविकता को प्रकट कर उनकी स्तुति की और उन्हे सीधे कन्धे पर बैठाकर आनन्दमग्न हो नाचने लगा। वर्द्धमान कुमार बालपन से ही अतिर्वार एव निभय थे। वे देवकुमार और राजकुमारो के साथ वटवृक्ष के नीचे आमली क्रीडा किया करते थे।

कुमार वर्द्धमान अत्यन्त मेधावी थे। एक बार सजयत और विजयत मुनि उनसे कुछ शकाओ का समाधान प्राप्त करने आए। कुमार वर्द्धमान झूले मे झूल रहे थे। दोनो मुनियो की शकाओ का निरसन उन्हे दूर से देखकर ही हो गया। वे मुनि द्वय बहुत प्रसन्न हुए। उन्होने बालक वर्द्धमान का नाम सन्मति रखा। इस प्रकार अभिवृद्धि को प्राप्त होते हुए राजकुमार वर्द्धमान नन्द्यावर्त राजप्रासाद मे प्राय एकान्त मे ध्यानमग्न हो कर आत्मचिन्तन मे लीन दिखाई पडते थे।

जब वे पूर्ण यौवनावस्था को प्राप्त हुए तो उनका सुकोमल धवल शरीर कान्ति से जगमगा उठा। कलिंग के राजा जितशत्रु ने अपनी त्रिलोकसुन्दरी सुपुत्री यशोदा के साथ राजकुमार वर्द्धमान के विवाह का प्रस्ताव रखा। पिता सिद्धार्थ ने सुपुत्र वर्द्धमान को समझाया–राजकुमार अब तुम पूर्ण युवा हो गए हो। राजा जितशत्रु का प्रस्ताव स्वीकार करते हुए राजकुमारी यशोदा से विवाह करो और गृहस्थ जीवन मे प्रवेश करो ताकि हमारी वश-वृक्ष परम्परा निरन्तर गतिमान रहे। राजकुमार वर्द्धमान ने अत्यत शालीनता एव गम्भीरता के साथ पिता के समक्ष निवेदन किया– "पिताश्री इस नश्वर जीवन को अमरत्व की साधना मे लगाना चाहता हू। मैं आत्मकल्याण करके मानव जीवन की सार्थकता सिद्ध करना चाहता हू।" माता-पिता के अनेक विध समझाने पर भी विरक्त मन वाले राजकुमार का मन अनुरक्त न बन सका। कुछ समय बीतने पर राजकुमार के समक्ष लौकान्तिक देव उपस्थित हुए। राजकुमार वर्द्धमान एकान्त मे वीतराग भाव से तत्वचिन्तन कर रहे थे। लौकान्तिक देवो ने उनसे कहा—प्रभु, आप तो ससार के जीवो का उद्धार करने के लिए उत्पन्न हुए है। आप तपश्चर्या के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त करें, कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान के द्वारा मोक्षपद के अधिकारी बने। राजकुमार को अपने जीवन के लक्ष्य की स्मृति आ गई। देवताओ द्वारा लाई गई चद्रप्रभा पालकी मे बैठकर वे ज्ञातृखण्ड वन की ओर चल पडे। उन्होने ईसा पूर्व 569 सवधारी सवत्सर मगशिर कृष्णा 10 (दशमी) सोमवार को दिगम्बर मुनि दीक्षा लेकर निरावरण हो वन के शालवृक्ष के नीचे तपश्चर्या प्रारम्भ की। दो दिन पश्चात् उन्होने प्रथम पारणा (आहार) कूलग्राम राजा बकुल के प्रासाद मे किया।

आपकी छाया भी वनिता साध्वी चदना को।
सम्यक् गुणगण गणनीय वर्द्धमान।।
सहज लिया अनुदिष्ट पिण्ड दान मे।
यह नियम-यम शाश्वत परिपालित थे।।

बारह वर्ष का वह कठिन तपश्चर्या का जीवन, घोर वन और भयकर उपसर्गों के बीच वह क्षीण कषायी तीथ कर महावीर अविचलित बने रहे। वे सच्चे अर्थ मे महावीर थे। उन्होने अपना प्रथम उपदेश (देशना) ईसा पूर्व 557, को विपुलाचल पर्वत पर दिया। उनकी वाणी केवलज्ञान होने के 66 दिन बाद प्रस्फुटित हुई, क्योकि उनकी धर्मसभा

मे गणधर का अभाव था। जब विद्वान् ब्राह्मण गौतम उनके शिष्य बन गए तभी तीर्थंकर महावीर की दिव्य ध्वनि खिरी (प्रस्फुटित हुई)।

विश्रुत अमोघ दर्शन सुपर्व
सर्वातिशयिनी दिव्यध्वनि
मानसपुर मे मानसरोवर
बस गये सुमन में सौरभ-से ।।
आत्म-सुख का अशोक वृक्ष
लिख रहे गौतम ऋषि
कपिलाओ की किरणावलियां
वीर दिनकर परिलक्षित दिव्य ।।

राजा बिम्बसार (श्रेणिक) उनके समवशरण मे प्रधान श्रोता बनकर उपस्थित होता था। इसके उपरान्त तीस वष तक महावीर स्वामी ने लोक कल्याण के हेतु धर्म-प्रभावना की दृष्टि से उत्तर से दक्षिण पूर्व से पश्चिम तक मगल विहार किया। जहा भी उनका समवशरण जाता था, धर्मचक्र आगे आगे चलता था। सब और सुभिक्ष छा जाता था और पृथ्वी शस्य श्यामला बनकर उनका स्वागत करती। प्राणीमात्र के लिए उनका महान् सन्देश था—जीग्रो और जीने दो। किसी जीव को कष्ट मत पहुचाओ क्योकि वह भी तुम्हारी तरह आत्मा से सयुक्त है। सत्याचरण ही मानव-जीवन का उज्ज्वल बनाने वाला है। किसी के धन के प्रति लोलुप बनकर उसकी चोरी नही करनी चाहिए। आवश्यकता से अधिक वस्तु का सग्रह अशान्ति का कारण है। सयम हमारे जीवन को महान् बनाता है।

शान्तिप्रिय लोक विग्रही नाव
सरिता सम प्रवाह अनवरत-
सप्त भग भ्रम जाल निवर्त्तक वीर
अनुकूल प्रजागण सरिता सी ।।

आलोक लोक का रत्नदीप
त्रिरत्नों का दीपक प्रणव
ज्ञान दीप सप्त भग रश्मि
अनन्त पथ अनेकान्त के पु ज ।।

तीर्थ कर महावीर ने सिद्धान्त रूप मे अनेकान्त (स्याद्वाद) का प्रतिपादन किया। क्योकि यह आत्मा अनन्तधर्मवाली है। जब परमाणु अनन्त गुण वाला है तो त्रैलोक्यमूल्य आत्मा का क्या कहना? उसका निरूपण भला एकान्त दृष्टि से कैसे किया जा सकता है? इस प्रकार मानव के कल्याण हेतु धर्म प्रभावना करते हुए भगवान् महावीर ने तीस वष व्यतीत किये और अपने अन्तिम समय मे मल्लो की राजधानी पावा-नगर पहुचे। वहा उन्होने बहत्तर वर्ष की अवस्था मे महामणिशिला तले शुक्ल सभा भवन के उद्यान के एक मण्डप मे 48 घण्टे योगनिरोध करके ईसा पूव 527, कार्तिक कृष्णा 30 अमावस मगलवार 15 अक्तूबर को निर्वाण प्राप्त किया। हस्तिप ल सहित 18 गणराज्यो के गणमुख्यो ने दीपको की पक्ति सजाकर तीर्थ कर महावीर का निर्वाणोत्सव मनाया। इस महान् उत्सव को मनाने के लिए उन्होने पृथ्वी और आकाश को दीपको क प्रकाश से आलोकित किया। उसी दिन से हमारे देश मे प्रति वर्ष अमावस्या कृष्णा 30, कार्तिक को झोपडी से लेकर राजमहल तक दीपावली का महान् पर्व धूम-धाम से मनाया जाता हैं। तीथ कर महावीर स्वामी ज्ञान के पु ज थे। उनकी ज्ञान-ज्योति से समस्त पृथ्वीमण्डल प्रकाशित हो उठा। ज्ञान दीप अस्त हो गया इसका प्रतीक जैन लोग दीपक जलाकर मनाते हैं।

आज भी हम दीपको के प्रकाश मे भगवान महावीर की उसी ज्ञान-ज्योति का प्रतीक दीपक जलाकर निर्वाण पर्व एव दीपावली मनाते हैं।

विश्व के कल्याण

❀ श्री शर्मनलाल जैन "सरस" सकरार

विश्व के कल्याण मेरे, इस कलम की वन्दना लो,
हे अहिंसा प्राण मेरे, इस वतन की वन्दना लो,

[एक]

तिमिर हिंसा का धरा से, गगन तक छाया हुआ था,
बन गया था पशु मानव, स्वर्ग अकुलाया हुआ था,
मौन थी नगी मनुजता, अधम जय पाने लगे थे,
सत्य के शव पर निरन्तर, गीध मडराने लगे थे,
हे विजय अभियान मेरे, उस समय की वन्दना लो,
विश्व के कल्याण मेरे, इस वतन की वन्दना लो,

[दो]

उस समय तुमने सुधाकर, देश को सम्बल दिया था,
देख अति साहस तुम्हारा, नियति को अचरज हुआ था,
जब चले तुम महल तजकर, लाल त्रिशला के दुलारे,
बने हिंसक से अहिंसक, जिंदगी के क्षण तुम्हारे,
हे अमर उत्थान मेरे, आज मन की वदना लो,
विश्व के कल्याण मेरे आज मन की वदना लो,

[तीन]

हे बृहत वैराग्य जब से, आप शिवपुर को पधारे,
हो गया है योग पंगु, भोग ने फिर कर पसारे,
दानवी वृति ने छीना, परम मगल का महूरत,
यह मही महसूस करती, वीर की फिर से जरूरत,
हे जगत जलयान, इस सेवक "सरस" की अर्चना लो,
विश्व के कल्याण मेरे इस वतन की वदना लो,

आत्मा मुक्ति आदि के सम्बन्ध मे प्रश्न किये जाने पर भगवान् बुद्ध ने कहा था कि उनके बारे में कहना सार्थक नहीं क्योंकि न तो वह भिक्षुचर्या के लिए उपयोगी है और न निर्वाण के लिए। यह बौद्ध दर्शन आगे चलकर 1 सौतांत्रिक 2 वैभाषिक 3. योगाचार और 4 माध्यमिक इन चार परस्पर विरोधी दर्शनों में विभक्त हो गया। माध्यमिक शाखा के प्रवर्तक प्रसिद्ध शून्यवादी विद्वान् नागार्जुन थे जो मध्यमकारिका तथा विग्रहव्यावर्तिनी नामक ग्रंथों के कर्ता ईसा की तीसरी शताब्दी के विद्वान् थे। जैन न्याय-शास्त्रियो ने इसी शून्यवाद का खण्डन अपने विभिन्न ग्रंथों मे किया है। उन्हीं को आधार बनाकर विद्वान् लेखक ने यह निबंध प्रस्तुत किया है।

प्र० सम्पादक

शून्यवाद समीक्षा

❀ डा० रमेशचन्द जैन, बिजनौर

माध्यमिक बौद्धो का कहना है कि यह समस्त जगत् शून्य है प्रमाण और प्रमेय का विभाग स्वप्न की तरह है। शून्यता दर्शन से ही मुक्ति होती है, अन्य समस्त क्षणिकत्वादि भावनायें शून्यता के पोषण के लिए ही हैं।[1] भाव, अभाव, भावाभाव तथा अनुभय इन चार कोटियो से विलक्षण तत्त्व ही शून्य है।[2] बुद्धि से विवेचित किए जाने पर पदार्थों के स्वभाव का अवधारण नही होता अत वे अनभिलाप्य और नि स्वभाव हैं। इस ससार मे जो नर, पशु-पक्षी, घट-पट आदि पदार्थों का प्रतिभास होता है वह सब मिथ्या है। भ्रान्ति से ही वैसा प्रतिभासित होता है, जिस प्रकार स्वप्न अथवा इन्द्रजाल मे हाथी आदि का मिथ्या प्रतिभास होता है।[4] सभी गोचर वस्तुयें प्रतिबिम्ब के समान हैं।[5] यह भी निश्चय नही कि इन अलीक पदार्थों का कहा से उद्गम और कहा लय होता है।[6] यथार्थ मे जगत की न कोई उत्पत्ति होती है और न विनाश ही होता है।[7] जिस प्रकार प्रतिकूल व्यक्तियो मे स्नेह भाव चिरकाल तक नही ठहरता, इसी प्रकार समस्त वस्तुओ के दोषो की जानकारी होने पर रागभाव चिरकाल तक नही ठहरता है।[8] एक ही पदार्थ मे कोई राग करता है, उसी मे कोई द्वेष करता है, उसी मे कोई मोहित होता है अत विषय की इच्छा निरर्थक है।[9] कल्पना के बिना रागादि भावो का अस्तित्व नही होता है। यदि पदार्थों का अस्तित्व होता तो कल्पना की आवश्यकता ही नही थी।[10] भव का बीज विज्ञान है और गोचर पदार्थ उसके विषय है। पदार्थ के नैरात्म्य स्वभाव को समझ लेने पर भवबीज निरुद्ध हो जाता है।[11]

इस प्रकार माध्यमिक बौद्धो का अभिप्राय है कि हमारा विज्ञान और उसके विषयीभूत बाह्य पदार्थ न तो पूर्ण रूप से वास्तविक और न पूर्ण रूप से काल्पनिक ही है। माध्यमिक शब्द मध्यम से बनता है। मध्यम बीच को कहते हैं। दोनो अन्त के सिद्धान्तो को छोडने के कारण यह माध्यमिक कहलाता है अर्थात् यह न तो सर्वास्ति-

वादी ही है और न सबके अस्तित्व का निषेध ही करता है किन्तु इसने एक-एक बीच का मार्ग चुना।[12] नागार्जुन की मध्यमिक कारिका के अनुसार शून्यता ही परम है। ससार और निर्वाण या शून्यता मे कोई अन्तर नही है। शून्यता या परमसत्ता उपनिषदो के निर्गुण बुद्ध के समान है। इसमे न तो आरम्भ है, न अन्त है, न चिरता है, न अचिरता है न एकता है, न अनेकता है, न अन्दर आना है, न बाहर जाना। सारत केवल अनारम्भमात्र है जो शून्यता का पर्यायवाची है। अन्यत्र भी वह लिखते हैं कि प्रतीत्यसमुत्पाद ही शून्यता है। शून्यता आरम्भ का उल्लेख करते हुए भी मुख्यत वह मध्यम मार्ग है जो अस्तित्व और अनस्तित्व के दो परस्पर विरोधी छोरो से दूर है। शून्यता वस्तुओ का सापेक्ष अस्तित्व है या एक प्रकार की सापेक्षता है। प्रो० राधाकृष्णन् के शब्दो मे शून्यता का अर्थ माध्यमिको के अनुसार सम्पूर्ण और परम अस्तित्वहीनता नही है, परन्तु सापेक्ष सत्ता है। माध्यमिको के तत्वज्ञान मे शून्यता की प्रधानता है, अत उसे शून्यवाद कहते हैं। माध्यमिक कारिका मे दो प्रकार के सत्यो का उल्लेख है (1) सवृति और ( ) परमार्थ। सवृति का अर्थ वह अज्ञान अथवा भ्रान्ति है जो वस्तु जगत् को घेरे हुए है और मिथ्याभास पैदा करती है। परमार्थ का अर्थ है कि सासारिक वस्तुयें एक भ्रान्ति या प्रतिध्वनि की भाति अस्तित्वभरी है। परमार्थ सत्य सवृति सत्य को पाए बिना नही हो सकता। सवृति सत्य साधन है तो परमार्थ सत्य साध्य। इस प्रकार से सापेक्ष दृष्टिकोण से प्रतीत्य समुत्पाद सासारिक घटनाओ का अर्थ दे सकता है परन्तु परमार्थ दृष्टि से सब समय मे अनारम्भ ही निर्वाण या शून्यता है।[13]

उत्तर पक्ष—(1) शून्यता समर्थक प्रमाण है या नही ? माध्यमिको के शून्यवाद सिद्धान्त पर अन्यवादियो को आपत्ति है। वे पूछते हैं कि शून्यवाद के समर्थन में कोई प्रमाण विद्यमान है अथवा नहीं। यदि उक्त सिद्धान्त के समर्थन मे कोई प्रमाण विद्यमान नही है तब तो यह सिद्धान्त ठीक नही और यदि इस सिद्धान्त के समर्थन मे कोई प्रमाण विद्यमान है तो सब कुछ शून्य कैसे कहा जा सकता है ?[14] आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—अन्यवादी तो प्रमाणादि को मानते हैं, इसलिए अपने सिद्धान्तो को सिद्ध कर सकते हैं, परन्तु शून्यवादी उन परवादियो के समान अपने शून्यवाद को सिद्ध नही कर सकता, क्योकि जिससे सिद्धि हो सकती है ऐसे प्रमाणादि को वह झूठा मानता है। यदि शून्यवादी प्रमाण का आश्रय लेकर अपने सिद्धान्त की सिद्धि करे तो इसका शून्यतामय सिद्धान्त कोरा करने लगेगा। क्योकि प्रमाण का आश्रय लेने से प्रमाण पदार्थ सिद्ध हो जाता है इसलिए शून्यता नही रह सकती है। हे भगवन् ! आपके मत के साथ ईर्ष्या रखकर अपने नए नए मतो का निरूपण करने वालो ने क्या? अच्छा कहा है, अर्थात् ऐसा निरूपण किया जिसका सिद्ध होना ही कठिन है।[15]

बौद्ध शून्यता समर्थक प्रमाण से अतिरिक्त शेष सब कुछ शून्य रूप है।

जैन तब तो प्रमाण की सहायता से शिक्षित किया जाने वाला व्यक्ति भी शून्यरूप हुआ और उसकी शिक्षा पर व्यय किया गया श्रम व्यर्थ गया।[16]

बौद्ध उक्त रूप से शिक्षित किया जाने वाला व्यक्ति भी अशून्यरूप है।

जैन तब तो आपके न चाहने पर भी अनेको वस्तुयें अशून्य रूप सिद्ध हो गई क्योकि प्रश्न करने वाले व्यक्तियो की सख्या अनेक हो सकती है।[17]

बौद्ध वे सभी व्यक्ति जो शून्यता समर्थक प्रमाण को स्वीकार करते हैं तथा वे सभी व्यक्ति जिन्हे शून्यता विषयक शिक्षा दी जा रही है, अस्तित्वशील हैं।

जैन हम कह ही चुके हैं कि ऐसा मानने पर तो अनेक वस्तुयें अशून्य सिद्ध हो गई।[18] शून्यवादी

जो शून्यवाद का उपदेश करता है वह अपने आगम के कथनानुसार ही करता है, इसलिए उसने अपने आगम मे सत्यता स्वीकार कर ही ली अत शून्यता की सिद्धि कैसे हो सकती है ? दूसरी बात यह है कि प्रमाण सिद्धि प्रमेय के बिना नही हो सकती इसलिए शून्यवादी प्रमाण को नही माने तो प्रमेय पदार्थ भी सिद्ध नही हो सकते हैं । यदि प्रमेय कुछ हैं नही तो शून्यवाद की सिद्धि के लिए अधिक प्रलाप करना व्यर्थ है, मौन धारण ही श्रेयस्कर है, क्योकि शून्यवाद भी एक प्रकार का प्रमेय है ।[19]

बौद्धो द्वारा प्रमाता, प्रमेय आदि की असिद्धि

बौद्ध प्रमाता प्रमेय, प्रमाण तथा प्रमिति ये चार तत्व जो अन्यवादियो ने कल्पित किए है वे सर्वथा झूठ है, क्योकि विचार करने पर जैसे गधे के सीग किसी प्रकार सिद्ध नही होते उसी प्रकार ये चारो तत्व भी सिद्ध नही होते। प्रमाता नाम आत्मा का है परन्तु इस आत्मा का किसी प्रमाण द्वारा ज्ञान न होने से यथार्थ म कुछ नही। प्रत्यक्ष से तो आत्मा जाना ही नही जा सकता क्योकि इन्द्रिया केवल रूप रस, गध और स्पश वाले पदार्थो को ही जान सकती है आत्मा मे रूप, रस गध, स्पर्श नही है अत पदार्थ का नही जान सकती हैं।

प्रश्न आत्मा के आश्रय से होने वाले अहकार का मानस प्रत्यक्ष होने से आत्मा का मानस प्रत्यक्ष सिद्ध है ।

उत्तर आत्मा का मानस प्रत्यक्ष भी सिद्ध नही होता, क्योकि मै गोरा हू, मैं काला हू इस प्रकार का अहकार होता है वह शरीर का आश्रय लेकर भी उत्पन्न हो सकता है। जिस धर्म का जिसके साथ सम्बन्ध माना जाता है उसके अतिरिक्त किसी दूसरे पदार्थ के साथ भी उसका सम्बन्ध यदि रह सकता हो तो उस धर्म को हेतु मानना व्यभिचारी है। यदि अहकार का ज्ञान आत्मा मे ही होता तो कदाचित् ही न होना चाहिए, किन्तु सदा ही होते रहना चाहिए, क्योकि जिस आत्मा मे यह उत्पन्न होता है वह सदा विद्यमान रहता है। जो ज्ञान कदाचित् ही होता है सदा नही होता है वह ज्ञान कदाचित् उत्पन्न होने वाले कारणो से ही उत्पन्न हुआ देखा जा सकता है, जैसे बिजली का ज्ञान। इस प्रकार प्रत्यक्ष से आत्मा की सिद्धि होना असम्भव है, क्योकि जो आत्मा के साथ कभी बिछुडता न हो, किन्तु सदा साथ ही मिलता हो ऐसा कोई हेतु दिखाई नही देता है। आगम परस्पर विरोधी हैं अत उनमे कोई प्रमाणता नही है। एक शास्त्र पदार्थ को जिस प्रकार सिद्ध करता है उस पदार्थ को दूसरा शास्त्र उससे अन्यथा सिद्ध करता करता है। इस प्रकार जब शास्त्रो मे स्वय प्रमाणता नही है तो वे दूसरे पदार्थों का निश्चय कैसे करा सकते है ? इस प्रकार प्रमाता नही है।

बाह्य पदार्थ प्रमेय कहे जाते हैं। उनका खण्डन पहले किया जा चुका है। स्व और पर के अवभासक ज्ञान को प्रमाण कहते है। जब प्रमेय ही नही है तो प्रमाण किसका ग्राहक होगा ? क्योकि उसका कोई विषय ही नही रहेगा। यदि प्रमेय तथा प्रमाण माने भी जाय तो क्या जब पदार्थ उत्पन्न होता है, उसी समय प्रमाण उसको जानता है अथवा किसी दूसरे समय ? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर तीन लोक के सभी पदार्थ उस ज्ञान मे प्रतिभासित होना चाहिए, क्योकि समकालीन होने से जिस पदार्थ को जिस समय मे जिस प्रकार का जो ज्ञान जानता है उसी प्रकार और भी पदार्थ जो उसी समय उत्पन्न होते हैं वे सब उस ज्ञान के समकालीन हैं। यदि कहो कि पदार्थ उत्पन्न होने के अनन्तर प्रमाण उस पदार्थ को जानता है तो प्रश्न है कि वह ज्ञान निराकार है अथवा साकार ? यदि वह निराकार ही है तो जिसका कुछ आकार ही नही उस ज्ञान मे प्रत्येक पदार्थ का निश्चय होना कठिन है। यदि वह किसी आकार सहित है तो वह ज्ञान का आकार

उस ज्ञान से कोई भिन्न वस्तु है अथवा अभिन्न ? यदि अभिन्न है तो वह ज्ञान ही है इसलिए ज्ञान के अतिरिक्त कोई भिन्न स्वरूप आकार के न होने से निराकार पक्ष का दोष यहा भी आ सकता है और यदि आकार ज्ञान के अतिरिक्त कोई भिन्न वस्तु है तो वह आकार चैतन्यस्वरूप है या जडस्वरूप ? यदि चैतन्यस्वरूप है तो जिस प्रकार ज्ञान जिस पदार्थ को जानता है उसी प्रकार यह ज्ञान का आकार भी उस पदार्थ को जानता होगा ऐसा मानना चाहिए। तब वह यह आकार भी स्वय किसी दूसरे आकार सहित है अथवा निराकार है ? इस प्रकार यहा अनवस्था दोष आता है। इस प्रकार प्रमाण ही जब सिद्ध नही होता तो प्रमाण के फल-स्वरूप प्रमिति कैसे सिद्ध हो सकती है ? अत शून्यता ही परम तत्त्व है।[20]

जैनो द्वारा प्रमाता आदि की सिद्धि—शून्य-वादी ने जो यह कहा कि प्रमाता आत्मा की सिद्धि प्रत्यक्ष ज्ञान से नही है, क्योंकि आत्मा इन्द्रिय गोचर नही है यह कहना हमे भी इष्ट है, परन्तु मे सुखी हूँ, मैं दुखी हू, इस प्रकार के मानस प्रत्यक्ष का होना असम्भव माना है, वह असिद्ध है, क्योंकि मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हू ऐसा अन्तरङ्ग को विषय करने वाला ज्ञान आत्मा मे ही हो सकता है। सुखादि का अनुभव आधार के बिना नही हो सकता है। यह सुख है यह ज्ञान घटादि के समान बाह्य मालूम नही पडता है। मैं सुखी हूँ इस प्रकार का ज्ञान आत्मा का प्रकाशक है। मैं गोरा हू, मैं काला हूँ इत्यादि शरीर को मानने वाला जो ज्ञान होता है वह प्रयोजन के वश शरीर मे आरोपित किया जाता है, क्योंकि आत्मा के सुख दुख होने मे शरीर सहकारी है। आत्मा के अहकार रूप धर्म का शरीर मे वैसे ही आरोपण होता है जैसे किसी नौकर को यह कहना कि यह जुदा नही है।

अह की अनुभूति कभी-कभी होने का कारण यह है कि आत्मा का लक्षण उपयोग है। उसकी साकार-ज्ञानरूप और अनाकार-दर्शनरूप पर्यायो मे से कोई न कोई पर्याय आत्मा में सदा होती रहती है। अहकार भी एक प्रकार का ज्ञानरूप उपयोग है। आत्मा मे बधे हुए कर्मों मे से जिस समय जैसे ज्ञानावरण कर्म का क्षय तथा अनुदय होता है वैसा ही इन्द्रिय, मन तथा प्रकाशादि के सहारे आत्मा मे ज्ञान उत्पन्न होता है अत आत्मा मे ज्ञानोत्पत्ति की शक्ति सदा रहने पर भी ज्ञान उत्पन्न होने मे चूँकि अनेक कारणो की आवश्यकता होती है अत उन सब कारणो के मिलने पर ही ज्ञान प्रकट हो सकता है, सदैव नही। जैसे बीज मे अकुर उत्पन्न करने की शक्ति यद्यपि सदा विद्यमान है तो भी अकुर की उत्पत्ति तभी हो सकती है जब उत्पन्न होने योग्य मिट्टी, पानी आदि सब कारण एकत्रित हो जाँय। इससे बीज मे अकुर उत्पन्न करने की शक्ति को कदाचित् नही कह सकते, क्योकि शक्ति द्रव्य की अपेक्षा नित्य है। इसी प्रकार सदैव विद्यमान रहने पर भी अहप्रत्यय (मैं हूँ ऐसा ज्ञान) कभी कभी होता है। आत्मा का ज्ञान कराने वाला एक भी ऐसा हेतु नही मिलता है जो आत्मा के बिना न रह सकता हो, यह कहना भी ठीक नही है, क्योंकि ऐसे अनेक हेतु हैं जो आत्मा के अति-रिक्त कही रह भी नही सकते। जैसे —रूपादि की उपलब्धि का कोई कर्त्ता है, क्योंकि रूपादि की उपलब्धि क्रिया है। जैसे छेदन क्रिया बिना किसी कर्ता के नही हो सकती है। रूपादि की उपलब्धि का जो कर्ता है वह आत्मा है। चक्षुरादि इन्द्रियाँ कर्ता नही है, क्योकि वे करण होने के कारण पर-तन्त्र है। पौद्गलिक होने, अचेतन होने, दूसरे के द्वारा प्रेरित होने तथा प्रयोक्ता के व्यापार से निरपेक्ष प्रवृत्ति न कर पाने के कारण इन इन्द्रियो का करण होना सिद्ध है। यदि इन्द्रियाँ कर्ता हो तो उन इन्द्रियो के विनष्ट होने पर पहले की अनुभूत स्मृति से मैंने देखा था, मैने छुआ था, मैंने सुना था इस प्रकार का ज्ञान नही होना चाहिए। इन्द्रियो का अपना अपना विषय नियत है अत

रूप और रस की साहचर्य प्रतीति कराने की उनमे सामर्थ्य नही है परन्तु रूप रसादि अनेक विषयो का अनुभव कोई न कोई अवश्य करता है, नही तो आम के देखने के अनन्तर जीभ पर पानी क्यो आ जाता ? अत गवाक्षगत प्रेक्षक के समान समस्त इन्द्रियो तथा मन मे रहकर प्रेरणा करने वाला इन्द्रियो के अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ भी है। इस प्रकार इन्द्रियाँ करण हुई और इनको जो प्रेरणा देता है वह आत्मा सिद्ध हुआ।[23] इसी प्रकार के अन्य उदाहरण स्याद्वाद मजरीकार आचार्य मल्लिषेण ने दिए हैं, जिनसे आत्मा की सिद्धि होती है।[24]

आगम वही अप्रमाण हैं जो परस्पर विरुद्ध अर्थ कहते हो। जो आप्तप्रणीत आगम है वह प्रमाण ही है। आप्तकथित शास्त्रो मे जीवहिसा, छेद तथा ताप इत्यादि दुष्कर्मा का निषेध है अत वे विशुद्ध हैं। रागादि दोप जिसके नष्ट हो गए हो वह आप्त है, ऐसा आप्त होना असम्भव नही है। रागादि किसी जीव मे अत्यन्त नष्ट हो जाते है जैसे हम लोगो के रागादि का उच्छेद, प्रकर्ष और अपकर्ष देखा जाता है, अथवा जैसे सूर्य के प्रकाश को रोकने वाले मेघसमूह की कही हीनाधिकता देखी जाती है अत उनका कही नाश भी हो जाता है। जिस जीव के रागादि दोप सवथा विलीन हो गए हो वही सर्वज्ञ आप्त भगवान् है।

प्रश्न—रागादि अनादि है उनका क्षय कैसे हो सकता है ?

उत्तर आपका यह कहना ठीक नही है। उपाय से ऐसा हो सकता है। अनादिकालीन स्वर्णमल का सुहागा, अग्नि आदि का पुट देकर क्षय किया जाता है, उसी प्रकार अनादि काल से लगे हुए जीव के रागादि दोषो का नाश भी उनके प्रतिपक्षी रत्नत्रय के अभ्यास से हो जाता है। दोष क्षीण होने पर केवलज्ञान हो जाता है।[24]

जिस स्वभाव की वृद्धि कुछ कुछ होती रहती है उसकी कही पूर्णवृद्धि हो जाना भी सम्भव है। इसी नियम के अनुसार ज्ञानगुण की वृद्धि भी जो उत्तरोत्तर एक दूसरे से अधिक होती हुई दिखाई देती है वह किसी जीव मे सर्वोत्कृष्ट हो सकती है। जैसे आकाश को नापने पर बढता हुआ दिखाई देता है परन्तु इसकी भी वृद्धि सर्वोत्कृष्ट है। केवल ज्ञान होना इस अनुमान से सिद्ध है।[25] अन्य भी कई अनुमान है जैसे सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमेय है। जैसे पर्वत की गुफा की अग्नि प्रत्यक्ष होने पर भी उसकी सिद्धि अनुमान से होती है।[26] इसी प्रकार चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण आदि भविष्यन् विषयो को सत्य जनाने वाले ज्योतिषशास्त्र को जानता है वह ग्रहण पडन आदि की भविष्यवाणी पहले ही कर देता है। इस प्रकार सर्वज्ञ आप्त के द्वारा प्रणीत आगम प्रमाण ही है। शास्त्र वे ही अप्रमाण होते है, जिनके प्रणेता निर्दोष न हो। कहा भी है-राग, द्वेष अथवा मोहवश झूँठ बोला जाता है। जिसके ये दोष नही रहे वह झूँठ क्यो बोलेगा ? हमारे शास्त्र प्रणेता तो कर्मों का नाश ध्यान से दोषरहित हो चुके है। ऐसे निर्दोष शास्त्रो मे आत्मा अकेला है' इत्यादि वचनो से आगम प्रमाण द्वारा जीव द्रव्य की सिद्धि होती है।[27]

जिन बाह्य विषयो को ज्ञान जानता है, उनकी सिद्धि पहले ही की जा चुकी है। जो यह प्रश्न किया था कि जिन पदार्थो को जानना हो उनके साथ ही उनको जानने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है या उनके बाद। इसका उत्तर यह है कि हम लोगो का प्रत्यक्ष तो जो विद्यमान हो उन्ही को जान सकता है और स्मरण बीती हुई वस्तु को ही जान सकता है। परन्तु शब्द और अनुमान तीनो काल के पदार्थों को जान सकते है। ये दोनो ज्ञान यद्यपि निराकार है तो भी अतिव्याप्ति दोष नही है। पदार्थ का निश्चय इस प्रकार होता है कि ज्ञान किसी भी समय हो परन्तु उसी पदार्थ को जान

सकता है जिसके ज्ञान को रोकने वाला ज्ञानावरण कर्म तथा वीर्यान्तराय कर्म कुछ नष्ट हो गया हो। इसके अतिरिक्त जो शकायें हैं वे विडम्बना मात्र है। प्रमाण का फल प्रमिति है। प्रमिति का अनुभव स्वयमेव होता है। जिस वस्तु का स्वयमेव अनुभव हो सकता है उसका उपदेश से कराना व्यर्थ है। प्रमाण के फल दो प्रकार के हैं पहला साक्षात् और दूसरा परम्परा से उत्पन्न होने वाला। इनमें से किसी पदार्थ सम्बन्धी अज्ञान का नाश हो जाना प्रमाण का साक्षात् फल है। केवलज्ञान का परम्परा फल ससार से उदासीनता होना है और शेष अल्पज्ञानियों के प्रत्येक ज्ञान का परम्परा फल इष्टानिष्ट पदार्थों में ग्रहण तथा त्याग की बुद्धि उत्पन्न होना है तथा माध्यस्थ पदार्थ में मध्यस्थ हो जाना परम्पराफल है। इस प्रकार प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति चारों सिद्ध हो गए।[28] अत न तो पदार्थ सत् रूप ही है, न असत् रूप ही है, न सत् असत् दोनों रूप है और सत् असत् के अभावरूप है, किन्तु इन चारों से अलग कोई विलक्षण तत्व है यह कथन उन्मत्त कथन जैसा है।[29]

❖

---

1 हरिभद्र षड्दर्शन समुच्चय पृ० 74

2 न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्त तत्त्व माध्यमिका विदु ॥ — नागार्जुन माध्यमिक कारिका 17

3 बुद्ध्या विविच्यमानाना स्वभावोनावधार्यते।
तस्मादभिलाप्यास्ते नि स्वभावेन देशिता ॥ — लङ्कावतार सूत्र

4 शून्यमेव जगद्विनश्वरमिद मिथ्यावभासके।
भ्रान्ते स्वप्नेन्द्र जालादौ हस्त्यादि प्रतिभासवत् ॥ — जिनसेन आदिपुराण 5/45

5 यदन्य सन्निधाने न दृष्ट तदभावत ।
प्रतिबिम्ब समेतस्मिन् कृत्रिमे सत्यता कथम् ॥ —बोधिचर्यावतार 9/145

6 वही 9/144

7 एव च न निरोधोऽस्ति न च भावोऽस्ति सवदा।
अजातमनिरुद्ध च तस्मात् सर्वमिद जगत् ॥ — बोधिचर्यावतार 9/150

8 नरेषु प्रतिकूलेषु चिर स्नेहो न तिष्ठति।
एव सर्वत्र दोषज्ञे चिर रागो न तिष्ठति ॥ — आर्यदेव चतु शतक 8/1

9 तत्रैव रज्यते कश्चित् कश्चित्तत्रैव दुष्यति।
कश्चिन्मुह्यति तत्रैव तस्मात् कामो निरर्थक ॥ —वही 8/2

10 बिना कल्पनयास्तित्व रागादीना न विद्यते।
भूतार्थकल्पनाचेति को ग्रहीष्यति बुद्धिमान् ॥ — वही 8/3

11 बीज भवस्य विज्ञान विषयास्तस्य गोचरा।
दृष्टे विषय नैरात्म्ये भवबीज निरुध्यते ॥ —वही 14/25

12 आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री न्यायबिन्दु —भूमिका पृ० 5

13 आजकल वार्षिक अक दिसम्बर 1956 (बौद्ध धर्म के 2500) वर्ष पृ० 85, 86

14 हरिभद्र शास्त्रवार्ता समुच्चय 470, 471

15 विना प्रमाण परवन्नशून्य स्वपक्षसिद्धे पदमश्नुवीत ।
कुप्येत्कृतान्त स्पृशते प्रमाणमहो सुदृष्ट त्वदसूयिदृष्टम् ॥

मल्लिषेण स्याद्वाद मजरी 17

16 उक्त विहाय मान चेच्छून्यताऽन्यस्य वस्तुन ।
शून्यत्वे प्रतिपाद्यस्य ननु व्यर्थं परिश्रम ॥ शास्त्रवार्ता समुच्चय 473

17 वही 474

18 वही 475

19 किं च स्वामोपदेशेनैव तेन वादिन शून्यवाद प्ररूप्यते इति स्वीकृतमागमस्य प्रामाण्यमिति कुतस्तस्य स्वपक्ष सिद्धि ? प्रमाणमङ्गीकरणात् ! किं च प्रमाण प्रमेय विना न भवतीति प्रमाणाऽनङ्गीकरणे प्रमेयमपि विशीर्णम् । ततश्चास्य मूकतैव युक्ता न पुन शून्यवादो पन्यासाय तुण्डताण्डवाडम्बर, शून्यवादस्यापि प्रमेयत्वात् ॥ —स्याद्वाद मजरी 1/145

20 मल्लिषेण स्याद्वाद मजरी पृ० 145–147

21 स्याद्वाद मजरी पृ० 147–149

22 वही पृ० 149–150

23 वही पृ० 150

24 वही पृ० 151

25 वही पृ० 151

26 स्याद्वाद मजरी पृ० 151
सूक्ष्मान्तरित दूरार्था प्रत्यक्षा: कस्यचिद्यथा ।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसस्थिति ॥ —समन्तभद्र आप्तमीमासा

27 स्याद्वाद मजरी पृ० 151

28 वही पृ० 152

29 ततश्च नासन्न-सन्न सदसन्त चाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्त तत्वमाध्यमिका विदु इत्युन्मत्तभाषितम् । —स्याद्वाद मजरी पृ० 152

काष्ठ नहीं, कपास बनो

❀ श्री मगल जैन 'प्रेमी', जबलपुर

तुम,
कपास सी कोमलता को,
भूलकर
काष्ठ की कठोरता,
अपनाये हो।
किसी गलत दिशा का तावीज,
गले लगाये हो।
कपास की नन्ही सी बाती,
किसी दिये के तेल से मित्रता कर ·
वातावरण को प्रकाशित करती है।
प्रकाश-दान की बेला मे,
तिल-तिल जलती है।
और काष्ठ ?
काष्ठ विचित्र है,
न कोमलता से सरोकार,
न मित्रता का व्यवहार।
सभवत इसीलिए,
समय की भट्टी मे,
किसी को प्रकाश दिये बगैर · ·
एक बारगी जलती है।
जिसकी जिन्दगी के धुएं से,
मानवता आख मलती है।
सुनो।
काष्ठ नही, कपास बनो।
किसी के सिर पर नही,
सिरहाने तनो।

प्रजातन्त्र का अर्थ है प्रजा द्वारा प्रजा की भलाई के लिए प्रजा पर शासन। महावीर ने स्व द्वारा स्व और पर की भलाई के लिए स्व पर नियन्त्रण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इसके लिए उन्होंने सर्वजन सम-भाव, सर्वधर्म समभाव, सर्वजाति समभाव पर बल दिया हमारे संविधान के ये मूलभूत आधार हैं। इनके बिना प्रजातन्त्र पंगु ही नहीं अस्तित्वहीन होगा। भगवान् महावीर सच्चे अर्थों में प्रजातांत्रिक थे। कैसे ? इसका उत्तर आपको मिलेगा विद्वान् लेखक की इन पंक्तियों में।

प्र सम्पादक

महावीर की प्रजातांत्रिक दृष्टि

० डा० निजाम उद्दीन, श्रीनगर

प्रजातन्त्र की सफलता स्वतन्त्रता, समानता, वैचारिक उदारता, सहिष्णुता, सापेक्षता और दूसरे को निकट से समझने की मनोवृत्ति के विकास पर अवलम्बित है, इनके अभाव मे गणतन्त्र का अस्तित्व सदिग्ध रहेगा। महावीर गणतन्त्र के प्रबल समर्थक हैं, उनके उपदेशो मे व्यक्ति स्वातन्त्र्य, सामाजिक साम्य, आर्थिक साम्य, धार्मिक साम्य, आदि पर विशेष बल दिया गया है और यही गण-तन्त्र के सुदृढ स्तम्भ है, यदि इनमे से कोई एक दुर्बल हो गया तो समझिए गणतन्त्र की आधार-शिला डगमगा जायेगी। महावीर का युग गण तन्त्रीय तो था लेकिन वहा व्यक्ति–स्वातन्त्र्य का सवथा लोप था, दास–प्रथा इतनी व्यापक और दयनीय थी कि मनुष्य, मनुष्य का क्रीतदास बना हुआ था। मनुष्य, मनुष्य के सर्वथा अधीनस्थ था, स्वामी का सेवक पर सम्पूर्ण अधिकार था। दास–दासी तथा नारी सभी का परिग्रह किया जाता था। महावीर के युग मे जातीय भेदभाव की खाई बहुत चोडी थी। सामाजिक तथा आर्थिक वैषम्य के कारण शातिमय वातावरण नही था, मताग्रह की प्रचण्ड आधी ने सम्यग्ज्ञान व सम्यक्दृष्टि का मार्ग धुधला कर दिया था। यही सब देख महावीर ने व्यक्ति स्वतन्त्र्य और प्राणी–साम्य का उद्घोष किया।

स्वतन्त्रता की सिद्धि के लिए अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य की त्रिवेणी मे अवगाहन करना पडता है। अहिंसा के द्वारा हम सभी के साथ मैत्री भाव स्थापित करते हैं और मैत्री भाव मे समानता की मनोवृत्ति विद्यमान है। महावीर ने सभी प्राणियो से मैत्री भाव स्थापित करने और किसी को मारने का, किसी भी प्रकार के कष्ट देने का निषेध किया है। यहा हम अपनी आत्मा के समान दूसरे की आत्मा को महत्व देते हैं, अपने दुख के समान दूसरे के दुख अनुभव करते हैं यानी 'आत्मवत् सर्व-भूतेषु' का चिरादर्श प्रस्तुत करते है। प्रजातन्त्र मे भी अपने समान दूसरे की स्वतन्त्रता को महत्वपूर्ण समझा जाता है, 'स्व' की सीमित परिधि को—

'स्व' की सकीर्णता को त्यागे बिना हम किसी भी तरह पर–महत्व को, दूसरे की स्वतन्त्रता को समादर प्रदान नही कर सकते। आज यदि बन्धको को विमुक्त किया गया है, भूमिहीनो को भूमि प्रदान की गई है, बेरोजगारो को रोजगार की समुचित सुविधाए प्रदान करने के लिए सरकार की ओर से कम, आसान शर्तों पर ऋण देने की व्यवस्था की गई है तो यहा भी दूसरो की स्वतन्त्रता की स्वीकृति ही है।

यह माना कि पराधीनता मे सुख–सुविधाओ का मार्ग खुला रहता है लेकिन ऐसी सुख सुविधाए अधिकतर शारीरिक आवश्यकताओ -- भोजन, वस्त्र की उपलब्धियो तक ही परिसीमित रहती हैं जबकि स्वतन्त्रता का मार्ग कष्ट और असुविधाओ का मार्ग होता है। कष्ट और असुविधाओ के कटकाकीर्ण मार्ग पर चलकर ही स्वतन्त्रता का, मुक्ति की परम सुख सुविधाओ का गन्तव्य हाथ आता है। परतन्त्रता मे हमे घर मिलता है—आवास मिलता जबकि स्वतन्त्रता मे हम घर से मुक्ति पाते हैं। घर व्यक्ति को सीमा मे—बन्धन मे बाधकर रखता है, स्वतन्त्रता मे हम घर से बाहर आकर चौराहे पर खडे होते हैं—दूसरो के साथ रहते है या दूसरो को अपने साथ रखते हैं। जब हम स्वाधीनता की लडाई लड रहे थे तब घरो से बाहर आ गये-नौकरी, आफिस सभी की दीवारें ढह गई। घर से बाहर आना—घर और परिवार के प्रति ममत्व का विसर्जन कर सभी प्राणियो को अपने परिवार मे शामिल कर लेते हैं—"वसुधैव कुटुम्बकम्" के उच्चादर्श का सस्पर्श करने लगते हैं। महावीर की अहिंसा इसी स्वतन्त्रता–प्राणिजगत की स्वतन्त्रता का ही तो आदर्श प्रस्तुत करती है। महावीर ने कहा है—

'अहिंसा निबणा दिट्ठा सबभूएसु सजमो।'

अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति जो सयम है, वही पूर्ण अहिंसा है। और जब तक जीवन मे सयम की कलिया प्रस्फुटित नही होगी तब तक न अहिंसा होगी न स्वतन्त्रता। सयम की आवश्यकता से विमुख नहीं रहा जा सकता। महावीर ने ब्रह्मचर्यव्रत मे सयम को जीवन के लिए स्पृहणीय माना है। ब्रह्मचर्य अस्वाद का ही शाश्वत अभ्यास है। अच्छा-बुरा, खट्टा मीठा नीरस-सरस, आकर्षक-विकर्षक के बीच समत्व स्थापित करना ही ब्रह्मचर्य है। यहाँ शरीर का ममत्व स्वत विसर्जित हो जाता है। इसके द्वारा हम शरीर के प्रति ममत्व का परित्याग कर अपरिग्रह या परिमाण परिग्रह की ओर उद्ग्रीव होते हैं। जब तक वैभव का प्रदर्शन किया जाएगा तब तक समाज मे ऊ च-नीच की दीवारें उ ची ही रहेगी अगर वैभव की दीवारो को नीचा करेंगे — उन्हे धराशायी करेंगे तो समाज मे सभी समानता के धरातल पर खडे हो सकते है। जहा वैभव होगा वहा एक व्यक्ति दूसरे से पृथक रहेगा, अपने आपको दूसरे से परिसम्पन्न समझने के कारण समाज मे विसगतिया और विद्रूपताए वातावरण को प्रदूषित करती रहेगी। वैभव का विसजन समाज मे एकता की भावना उद्बुद्ध करने वाला है। प्रजातन्त्र मे इस प्रकार के विसर्जन को प्राथमिकता देना आवश्यक है। जब तक विसर्जन नही होगा — त्याग वृत्ति नही होती तब तक तो हम दूसरो को अपने साथ कैसे ले चलेगे ? त्याग ही तो हमारे अन्दर वह अनुभूति और चेतना उदित करता है जिसके द्वारा हम दूसरो मे जा मिलते हैं, परिग्रह मे हम दूसरो से अपने आपको पृथक् रखते है, अपरिग्रह मे या त्यागवृत्ति मे हम दूसरो के साथ मिलकर उनसे तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। अत. प्रजातन्त्र के लिये व्यक्तियो को सग्रह-वृत्ति के स्थान पर त्याग वृत्ति को महत्व दिया जाता है। सग्रह वृत्ति वैभव प्रदर्शन अहकार या ममकार का ही प्रतिरूप–साक्षात् रूप है, प्रजातन्त्र मे यदि अहकार की भावना ने डेरा जमा लिया तो वह प्रजातन्त्र तानाशाही का भयावह रूप धारण कर लेता है। जहा ममत्व है, आसक्ति है, अहकार है मूर्च्छा है वही अधर्म है, वही तानाशाही है।

प्रजातन्त्र मे सामाजिक ऐक्य को प्राथमिकता दी जाती है, मानव जाति मे ऐक्य की प्रतिष्ठापना प्रजातन्त्र है। यहा स्वामी सेवक स्त्री-पुरुष को पृथक् पृथक् कर्तव्य या अधिकार नही दिये जाते। भेददृष्टि का निराकरण प्रजातन्त्र का मूल है, इसी भेददृष्टि का निराकरण महावीर के उपदेशो का मेरुदण्ड है जिसके लिये उमास्वामी ने अपने 'तत्वार्थसूत्र' मे सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र के समन्वय पर विशेष बल दिया है। महावीर ने जब यह फरमाया—"जिसे तू मारना चाहता है वह तू ही है" (आचारांग 1, 5, 5), तो यहा समत्व का ही उच्च दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है-आत्मा के एकत्व पर ही बल दिया गया है। प्रजातन्त्र मे जातीय भेद या वर्ण भेद के लिए कोई स्थान नही, रग व नस्ल की वरिष्ठता के लिए कोई अवकाश नही। रग व नस्ल की निरर्थक वरिष्ठता ने जिस समाज या देश मे अपना विष बीज बोया वह कभी नही उबरा साप्रदायिकता की आकाश बेल जिस देशजाति के विटप पर फैलने लगती है उसकी प्रगति अवरुद्ध हो जाती है वह दूसरो की दृष्टि मे हीन-अनादृत और सावद्य समझी जाती है। महावीर ने अपने समवसरण मे किसी जाति, समाज, या धर्मावलम्वी पर कभी पाबन्दी नही लगाई। उनका धर्म मानवजाति का धर्म है, किसी सम्प्रदाय या जाति विशेष का धर्म नही। वह आत्मा की पवित्र गगा है जिसमे सब साथ मिलकर निमज्जन कर सकते है—वह सभी के पापो कलुषो का शमन करने वाला धर्म है। महावीर सम्प्रदायातीत है, प्रजातन्त्र भी सम्प्रदायातीत होता है, यहा सभी को अपने मतो को, विचारो को प्रकट करने की स्वतन्त्रता रहती है, सभी को अपनी योग्यतानुसार प्रगति करने की सुविधाए प्राप्त करने के समान अवसर तथा अधिकार प्रदान किय जाते हैं। व्यक्ति मे इस प्रकार की आत्मस्वातन्त्र्य की भावना महावीर ने हजारो वर्ष पूर्व जागृत की थी।

प्रजातन्त्र मे हम अपने मत को, मान्यता को जितना महत्व देते हैं उतना ही दूसरो के मत व मान्यता को महत्व देने का वैचारिक औदार्य प्रकट करते है। यदि इसके विपरीत करेंगे तो प्रजातन्त्र का गला घुट जायगा,उसकी हत्या हो जायेगी। यहा तो सभी को अपने विचार प्रस्तुत करने का समान अधिकार है, सभी को अपनी निष्ठानुसार धर्माचरण करने की स्वतन्त्रता है। इसी को हम महावीर के अनेकान्तवाद के परिप्रेक्ष्य मे देख सकते हैं। सत्य किसी एक व्यक्ति या सम्प्रदाय को बपौती नही, वह तो सबका है और सभी के पास सत्याश हो सकता है। हमे दुराग्रह का त्याग कर सम्यक् दृष्टि अपनाकर सत्य का रूप जहा भी प्राप्य हो अगीकृत करना चाहिए। मताग्रही सत्य के द्वार तक नही पहुच सकता, सत्य का मार्ग प्रशस्त है, उसमे सकीर्णता नही, विस्तार और व्यापकत्व है। हमे जितना अपना मत प्रिय है दूसरे को भी उतना ही अपना मत प्रिय है। हमे क्या अधिकार है कि दूसरे के मत का खण्डन कर उस पर अपने मत का प्रतिपादन करने का अनैतिक आचरण करें। महावीर ने अनेकान्त के द्वारा एक वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न की। उन्होने वैचारिक सहिष्णुता का परचम बुलन्द करके सभी को उसके नीचे खडे होने अपना अभिमत व्यक्त करने को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की। उन्होने बतलाया वस्तु या पदार्थ अनेक धर्म अथवा गुण विशेषता सम्पन्न होता है उसमे एक ही गुण या विशेषता का प्राधान्य नही रहता। पत्नी केवल पत्नी नही होती, वह पत्नी के साथ एक ममतामयी मा, प्यारी सखी, विश्वसनीय मित्र, लाडली बेटी, प्रिय भाभी आदि भी होती है अर्थात् वह विविधरूपा होती है। इसी प्रकार अनेक धर्मो के कारण प्रत्येक वस्तु अनेकान्त रूप मे विद्यमान है उसके रूप नानाविध होते है—'अनेके अन्ता धर्मा यस्मिन् स अनेकान्त।" उपाध्याय यशोविजय ने कहा है—'सच्चा अनेकान्तवादी किसी दर्शन से द्वेष नही करता। वह सम्पूर्ण दृष्टिकोण को इसी प्रकार वात्सल्य दृष्टि से देखता है जैसे

कोई पिता अपने पुत्रो को। माध्यस्थ भाव ही शास्त्रो का गूढ रहस्य है, यही धर्मवाद है।" जब विचारो मे इस प्रकार माध्यस्थ भाव रहेगा या हम दूसरो के विचारो-मतो को सहिष्णुता से सुनेंगे, समझेंगे हृदयगम करेंगे तो सभी प्रकार के वैचारिक सघष नष्ट हो जायेंगे। फिर राजनैतिक मानचित्र पर बडे-बडे मतवाद, युद्धोन्मुखी सघर्षों को जन्म न दे सकेंगे वियतनाम या इस्राईल—अरब की रक्तरजित समस्याए करोडो की जान लेकर समाप्त न होंगे, वह बिना रक्तपात के भी सुलझाई जा सकती हैं। प्रजातन्त्र मे वादविवाद के द्वारा एक बहुमान्य सत्य की ही खोज तो की जाती है। समद मे विपक्षी दल के मत को भी सत्ताधारी दल मान देता है। विपक्ष की धारणाओ मे भी सत्यता का कोई न कोई अ श विद्यमान रहता है। आचार्य मणिभद्र का विचार है .

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेष कपिलादिपु।

युक्तिमद्वचन यस्य, यस्य कार्य परिग्रह ।

अर्थात् मुझे न तो महावीर के प्रति पक्षपात है और न कपिलादि मुनिगणो के प्रति ईर्ष्या द्वेष है जो भी वचन तर्कसगत हो उसे ग्रहण करना चाहिए। महावीर ने 'यही है' को मान्यता नहीं दी, उन्होने यह भी है' को मान्यता देकर पारस्प रिक विरोधो तथा मताग्रहो की लौह-शृ खला को एक ही झटके मे तोड डाला। उन्होने सत्य को सापेक्षता मे देखा और उसे अभिव्यक्ति दी स्याद्वाद की शैली मे। प्रजातन्त्र की पूर्ण सफलता अनेकान्त-दृष्टि मे सन्निहित है। आज का युग मताग्रह का नहीं, वैचारिक सहिष्णुता एव उदारता का है, सकीर्णता का नही विशाल हृदयता का है और यह विशाल हृदयता या उदारता अनेकान्तवाद का मूल है।

प्रजातन्त्र मे लोकव्यवहृत भाषा को महत्व दिया जाता है। किसी एक सीमित विशिष्ट वर्ग या सम्प्रदाय की भाषा को बहुसख्यक भाषा-भाषी स्वीकार नहीं करेंगे। सस्कृत मे उपदेश या भाषण यदि कोई देने लगे तो उससे चद मुट्ठी भर लोगो को ही लाभ मिल सकता है। महावीर ने अपने उपदेशो को पडितो की भाषा मे व्यक्त नही किया वरन् लोकभाषा अर्धमागधी मे व्यक्त किया तभी उनका प्रचार प्रसार अधिक हुआ और अधिकाधिक लोग उनसे लाभान्वित हुए। जहाँ कही भी प्रजा-तन्त्र है वहाँ का शासन-कार्य बहुसख्यक लोगो की भाषा मे ही चलता है। ढाई हजार वर्ष पूर्व महावीर ने भाषा की समस्या का प्रजाताििन्त्रक अनुकरणीय निदान प्रस्तुत कर दिया था।

स्त्रियो को दीक्षा देकर उन्होने एक समानता का प्रजाताििन्त्रत आदश पेश किया था उनके शोषण व परिग्रह को नष्ट कर बहुमान और आदर प्रदान किया था। शोषित वर्ग को समाज मे समान अधिकार दिलाए, स्वामी—सेवक के, शोषक—शोषित के भेदभाव को नष्ट किया, अपरिग्रह के सिद्धान्त द्वारा आर्थिक समानता का वह आदश प्रस्तुत किया जो सभी प्रजातत्र देशो मे समाजवाद के नाम से अभिहित है। महावीर की विचारधारा प्रजातत्र की बहुमुखी विशेषताओ का अनुपम और सर्वहितकारी सगम है।

जैन दर्शन प्रत्येक वस्तु में दो विरोधी तत्वों का अस्तित्व मानता है। यह सत् का लक्षण ही उत्पाद व्यय और ध्रौव्य सयुक्त करता है। वस्तु द्रव्य दृष्टि से नित्य और पर्याय दृष्टि से अनित्य है। जैनों की इस मान्यता मे विश्व के उस सम्पूर्ण दर्शनों का समन्वय हो जाता है जो कि वस्तु के केवल एक ही धर्म को मानते हैं दूसरे धर्म को नहीं। जैनों का यह अनेकान्तवाद विश्व के समस्त दर्शनों मे ऐक्य, सहभाव तथा समभाव का प्रचार करने की अव्यर्थ औषधि है। कैसे ? यह पढ़िये प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् के इस निबन्ध मे।

प्र सम्पादक

जैन दर्शन की एक दिव्यदृष्टि

❀ आचार्य रमेशचन्द्र शास्त्री, अजमेर

भारतीय विचारधारा को हम अनादिकाल से ही दो रूपो मे विभक्त पाते है। पहली, परम्परा मूलक ब्राह्मण्य अथवा ब्रह्मवादी जिसका विकास वेद तथा उनके पश्चात् लिखे गए साहित्य के आधार पर हुआ। दूसरी, पुरुषार्थ मूलक, जिसे श्रामण्य अथवा श्रमण प्रधान कहा जाता है, जिसमे आचरण और व्यवहार को प्रधानता मिली। यहा यह जान लेना चाहिए कि श्रमण शब्द का अर्थ ही श्रम अर्थात् पुरुषार्थ है। इस कारण इस धारा को 'पुरुषार्थ मूलक' कहना ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

ये दोनो विचारधारायें कतिपय अ शो मे एक दूसरे की पूरक रही और कुछ अ शो मे परस्पर विरोधी भी रही। एक ओर इनमे सामञ्जस्य की भावना से पारस्परिक आदान-प्रदान चलता रहा तथा दूसरी ओर समस्त भारतीय समाज तथा राष्ट्र की एकता को अक्षुण्ण रखने मे भी इनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

प्रथम ब्रह्मवादी विचार परम्परा का उद्भव स्थल पजाब तथा उत्तर प्रदेश का पश्चिमी भाग रहा है तथा दूसरी श्रमण विचार परम्परा का उद्भव आसाम, बगाल बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश रहा है। इस श्रमण विचार धारा के जन्मदाता जैन थे।[1] जो स्वय को मुख्य रूप से भगवान् महावीर स्वामी के अनुयायी मानते हैं।

श्रमण सस्कृति का प्रवर्तक जैन धर्म प्रागैतिहासिक धर्म रहा है। यह बौद्ध धर्म की अपेक्षा प्राचीन है। श्रीमद्भागवत् मे वर्णित जैनधर्म से सम्बन्ध रखने वाले विवरणो का अध्ययन तथा अनुचिंतन करने पर सभी विद्वानो ने जैनियो के इस मन्तव्य का समर्थन किया है कि जैन मत का अविर्भाव वैदिकमत के आस-पास या उसके निकटवर्ती पश्चात् समय मे ही हुआ हैं। मोहन-जो दरो से प्राप्त ध्यानावस्थित नग्न योगियो की मूर्तियो से जैन श्रमण परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है ऐसा अनेक विद्वान् स्वीकार करते है।

जैन धर्म के महात्माओं को तीर्थङ्कर कहा जाता है। ज्ञान का प्रवर्तन जिन ज्ञानी वीतराग महान् पुरुषों ने किया है वे तीर्थङ्कर कहलाये। धर्मरूपी तीर्थ के निर्माता मुनिजन ही ये तीर्थङ्कर थे (तरति ससार मह र्णव येन निमित्तेन तत् तीर्थम्-उमेश मिश्र–भारतीय दर्शन पृ० 98) जैनधर्म मे इन तीर्थङ्करो की सख्या चौबीस मानी गई है। इनमे सर्वप्रथम ऋषभदेव तथा अन्तिम भगवान् महावीर स्वामी थे।

इन तीर्थङ्करो द्वारा प्रवर्तित जैनधम का दार्शनिक पक्ष अत्यन्त सुदृढ है। बाद के जैन विद्वानो ने अपना समस्त बौद्धिक बल लगा कर जिस दार्शनिक चिन्तन को प्रस्तुत किया है वह बरबस विचारको का ध्यान आकर्षित करता है। जैन दर्शन का एक सुनिश्चित अभिमत यह है कि विश्व की समस्त वस्तुओ मे स्थैर्य तथा विनाश दोनो ही समानरूपेण रहते है। विश्व प्रपञ्च की कोई भी वस्तु न तो एकान्तत नित्य है और न एकान्तत अनित्य है। नित्यता और अनित्यता सभी वस्तुओ मे समानरूप से पाई जाती है। जैन दर्शन ने परमाणुओ के सघात को ससार के समस्त पदार्थों का उत्पादक कारण स्वीकार किया है।

वस्तुओ के स्वरूप को देखने की जैन दार्शनिको की दृष्टि भी बडी पैनी है। जैन दार्शनिक प्रत्येक वस्तु का निरीक्षण तथा परीक्षण मतदर्शन सम्मत विधि निषेध शैली से करते हैं। इस विधि निषेध दृष्टि से वस्तु के जो गुण सत्ता सूचक है उन्हे 'स्वपर्याय' कहा जाता है तथा जो निषध मुख से कहे जाते हैं, उन्हे 'परपर्याय' नाम दिया गया है। किसी भी वस्तु का परपर्याय से वर्णन करना सभव नहीं है, अत स्वपर्याय से ही वस्तु स्वरूप की अवगति मुख्यरूप से होती है। परन्तु इस स्वपर्याय के वर्णन भी वस्तु के गुणो, देश तथा काल आदि के आधार पर एक नही अपितु अनेक होते है।

इस तत्व को एक उदाहरण से समझा जा सकता है। जब हम किसी स्वर्ण निर्मित कङ्कण को देखते हैं तो उसके सम्बन्ध मे कुछ कहने या लिखने का प्रकार क्या हो सकता है? यही न कि, यह कङ्कण स्वर्ण निर्मित है, सोने से ही इसका निर्माण हुआ है। सोने को शुद्ध करके इसे सुनार ने बनाया है। सोना यो तो मिट्टी ही है, पर यह सामान्य मिट्टी नही। यह एक पीले वर्ण का धातु है, इसके परमाणु लोहे से कुछ मुलायम होते हैं। इस सोने को सुनार ने ठोक पीट कर कङ्कण का रूप दे दिया है। वास्तव मे तो यह सोना ही है, आदि-आदि। यही वर्णन स्वपर्याय कहाता है। अब यदि हम इस कङ्कण मे परपर्याय के सम्बन्ध को जोडे तो इसका वर्णन इस प्रकार किया जायेगा—यह कङ्कण है, अगूठी नही है, हार नही है, बाली नही है, कर्णफूल नही है, नाक की लौंग नही है, नथ नही है। यह धातु का तो बना हे परन्तु यह लोह का नही है पीतल का नहीं है चादी का नहीं है, आदि-आदि अनन्त निषेध कङ्कण के साथ जोडे जा सकते है।

इस विधि निषेधात्मक दृष्टि से यह पाया जाता है कि ससार मे ऐसा उदाहरण सम्भव नही जिसमे परस्पर विरोधी गुणो का सम्बन्ध स्थापित न किया जा सके। जैसे किसी दरिद्र व्यक्ति के साथ धन सम्पन्नता का सम्बन्ध विधिमुख से नही जोडा जा सकता है तो उससे क्या हम निषेध मुख से दरिद्र व्यक्ति के साथ दरिद्रता तथा धन सम्पन्नता का सम्बन्ध जोड सकते है। हम कह सकते हैं कि यह व्यक्ति दरिद्र है, धनवान नही है, यदि यह धन सम्पन्न होता तो दरिद्र न होता। इसमे धन का अभाव है अत यह दरिद्र है। इस प्रकार जैनदर्शन ने एक ही वस्तु मे अनन्त धर्मो या गुणो की स्थापना की है, इसी कारण जैन दार्शनिक प्रत्येक वस्तु को अनन्त धर्मात्मक स्वीकार करते है। इसीलिये जैनधर्म को स्याद्वाद या अनेकान्तवाद को मानने वाला धम कहा जाता है। ❖

काल नदी के उस प्रवाह की तरह है जिसका जल पुन लौटकर नहीं आता। चाहे कोई कितना ही प्रयत्न करे किन्तु गया हुआ एक क्षण भी लौट कर नहीं आ सकता। बुद्धिमान् वे हैं जो इसका सदुपयोग करते हैं। अनन्त पर्यायो मे भटकते-भटकते काकतालीय न्याय की तरह यह मानव जन्म मिलता है। केवल यह ही पर्याय है जिसमे जीव अपने हिताहित का विवेक कर सन्मार्ग आश्रय ग्रहण कर अपना उत्थान कर सकता है और जन्म मरण के चक्कर से छुटकारा पा सकता है। अन्य किसी पर्याय मे ऐसा होना सम्भव नही है। जिन्होने इस समय का सदुपयोग किया वे इस ससार सागर के पार लग गए। विद्वान् निबन्धकार ने समय की महत्ता बताते हुए जो यह कहा है कि 'समय न चूकत चतुर नर' वह सर्वथा सत्य है।

प्र० सम्पादक

समय न चूकत चतुर नर

* डा० नरेन्द्र भानावत

अ ग्रेजी में एक कहावत है—Time is money अर्थात् समय ही धन है। वास्तव मे समय जीवन की अमूल्य सम्पत्ति है। गई सम्पत्ति परिश्रम से, विस्मृत ज्ञान अध्ययन से, नष्ट स्वास्थ्य औषधि से एव नष्ट सयम गुरुकृपा से पुन मिल सकता है लेकिन गया हुआ वक्त वापस कभी नही मिल सकता। इसीलिये समय को अमूल्य धन कहा है ऐसा धन जो किसी भी कीमत पर पुन प्राप्त नही किया जा सकता। अतः समझदार मनुष्य समय का पूरा पूरा उपयोग करते है—समय न चूकत चतुर नर।

'समय बडो बलवान' कहकर समय की अनन्त शक्ति का परिचय दिया गया है। इसका अर्थ यह है कि समय निरन्तर गतिशील है, वह एक क्षण भी नही रुकता, और वर्तमान मे ही जीवित रहता है। जो इसकी वर्तमानता को न पहचान कर मात्र अतीत की गहराइयो मे डूबा रहता है अथवा भविष्य की स्वप्निल छाया मे घिरा रहता है, वह कभी समय की जीवन्तता से साक्षात्कार नही कर पाता। जो क्षण की वर्तमानता को थामे रहता है, वही जीवन का वास्तविक आनन्द ले पाता है। लेटिन मे एक कहावत है कि 'समय के सिर मे केवल आगे की ओर बाल होते हैं, पीछे की ओर वह गजा होता है। यदि तुम उसके आगे के बाल को पकड लो तो वह तुम्हारे हाथ आ जायगा परन्तु यदि तुम उसे आगे से निकल जाने दोगे तो फिर ससार की ऐसी कोई शक्ति नही जो उसे पकड सके।" समय की इस तस्वीर को पहचान कर हमे उसके बालो को, वर्तमान क्षणो को मजबूती से पकड कर, जो काम करना है, उसे तुरन्त कर लेना चाहिये।

आज के काम को कभी कल पर नहीं छोड़ना चाहिये क्योंकि जो आज है वह निश्चित और जो कल होगा वह अनिश्चित है। जो शक्ति आज के काम को कल पर डालने मे खर्च होती है क्यो न उसका उपयोग आज का काम आज ही करने मे किया जाय। राजस्थानी कहावत है—कर्‌या सो काम, भज्या सो राम,' किया, वही काम और भजा, वही राम भजन। काम को और राम भजन को तुरन्त कर डालना चाहिये। जो काम कर डाला सो हो गया, नहीं किया सो रह गया। कौन जाने कल आयेगा या नहीं? कल शैतान का दूत है। इतिहास के पृष्ठों पर इस कल की धार पर कितने ही प्रतिभाशालियो का गला कट गया। 'कल' की उपासना छोड़कर 'आज' के ही नहीं 'अभी' के उपासक बनो। संत कबीर मानव को सावधान करते हुए कहते है—

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
पल मे परलय होयगी, बहुरि करेगो कब।।

कल, काल बन गया तो फिर जीवन की कला ही नष्ट हो गई। दीपक बुझने के बाद तेल डालने से क्या लाभ? माल लेकर चोर के चले जाने के बाद सावधान होने से क्या लाभ? जो क्षण वर्तमान है, उसे अक्षर बनाने मे लग जाओ। जो पल अभी है उसे प्रज्ञा का केन्द्र बना लो, पूजा का पुष्प बनालो। कहीं ऐसा न हो कि कल की प्रतीक्षा करते—करते कल तो नहीं आये और काल आ जाय। आप और हम तो है ही क्या? सोने की लका का अधिपति रावण भी इस काल से न बच सका। कहा जाता है कि जब रावण मृत्यु शैय्या पर था तब राम ने लक्ष्मण को रावण से शिक्षा लेने के लिए उसके पास भेजा। लक्ष्मण के प्रार्थना करने पर रावण ने कहा—मैंने कठोर तपस्या कर यह शक्ति प्राप्त करली थी कि मैं सब कुछ प्राप्त कर सकता था। मेरी तीन इच्छाये थी—मैं धरती और स्वर्ग को मिलाने के लिए सीढियां लगादू, आग मे से जलने की शक्ति का जो तत्व है, उसे निकाल दू और मृत्यु को नष्ट करदूं। यह सब मेरे बाये हाथ का खेल था। पर मैं सोचता रहा—अभी क्या है, कल यह कार्य कर लूगा। यो कल-कल करते कल तो नही आया पर काल आ गया। अत हे लक्ष्मण, दुनिया को मेरी यही सीख है कि हमे कोई बात कल पर नही छोडनी चाहिये, तुरन्त उसे कर डालना चाहिए।

समय' शब्द इस बात का सूचक है कि इसमे समभाव की आय का स्रोत निरन्तर प्रवहमान रहता है पर समय का यह अर्थ तभी सार्थक बनता है जब व्यक्ति इसकी सामयिकता को पहचाने, इसके प्रति निरन्तर जागरूक बना रहे और समय की उर्वरता मे निरन्तर सम्पर्क बनाये रखे। विश्व मे ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जिसके पास एक बार भाग्योदय का अवसर न आता हो। जो इस अवसर का स्वागत नहीं करता, तब वह अवसर उलटे पाव लौट जाता है। सम यज्ञ पुरुष हमेशा ऐसे अवसर का लाभ उठाता है। समय की शक्ति और गति को पहचानने की क्षमता केवल मनुष्य मे है, पशु मे नहीं। मनुष्य वर्तमान को वरदान बनाने के लिए, उसे वरेण्य बनाने के लिए अतीत से प्रेरणा और अनागत से सपने ले सकता है। और अपनी जागरूकता तथा विवेकशीलता से उन्हे, तपाकर, पकाकर, साकार कर सकता है पर इसके लिए प्रमाद को छोडना होगा। भगवान् महावीर ने अपने शिष्य गौतम को सम्बोधित करते हुए कहा—समय गोयम मा पमायए—हे गौतम, क्षण मात्र का भी प्रमाद मत कर।

समय को अर्थवान बनाने के लिए कर्तव्य-परायणता, काम के प्रति निष्ठा और नियमबद्धता का होना आवश्यक है। जो व्यक्ति अपने प्रति और अपने परिवेश के प्रति जितना अधिक जागरूक

है, संवेदनशील है, वह उतना ही अधिक समय की आय प्राप्त करेगा। इस प्रसग मे एक लोककथा बडी अर्थव्यंजक है। एक सेठ बडा समृद्धिशाली था। भरा-पूरा परिवार था। पर अचानक उसकी पत्नी का देहान्त हो गया। अब सेठ के सामने समस्या आयी कि वह घर की मालकिन किसे बनावे, किसे तिजोरी की चाबिया सौपे? समस्या के समाधान के लिए उसने अपनी चारो पुत्र-वधुओ की परीक्षा लेनी चाही। पुत्रवधुओ को पास बुलवा कर उसने कहा—मै चार वर्ष के लिए बाहर जा रहा हू। ये पाँच-पाच चावल के दाने तुमको सौप रहा हू। जब वापस आने पर माग करू तब मुझे लौटा देना। यह कहकर सेठ चलता बना।

सबसे बड़ बहू ने सोचा--सेठ की बुद्धि सठिया गया है। पाच चावल के दानो की क्या कमी? जब सेठजी आयेगे कोठार से लाकर दे दूगी और उसने पाचो दाने फेंक दिये। दूसरी बहू ने सोचा--सेठजी अनुभवी है। शायद, ये चावल अभिमन्त्रित हो। इनसे कुछ लाभ पहुच सकता है। यह सोच-कर वह उन्हे चबा गयी। तीसरी बहू ने सोचा--न जाने इन चावलो के पीछे क्या रहस्य है? उन्हे संभालकर रखना चाहिये। पता नही कब ये स्वर्ण या रत्नो मे बदल जाय और उसने सन्दूक मे उन्हे सुरक्षित रख दिया। चौथी बहू ने सोचा--सेठजी चार वर्ष बाद लौटेंगे, तब तक के लिए क्यो न इनका संवर्द्धन किया जाय? उसने पाचो दाने अपने मकान से लगी खाली जमीन मे डाल दिये। अनुकूल जलवायु पाकर वे अंकुरित हो उठे और समय पाकर वे पक गये और पाच के पाच सौ हो गये। उसने फिर उन पाच सौ दानो को बो दिया। अब वे और अधिक हो गये। इस प्रकार वह उन दानो को बोती रही और वे बढते रहे।

जब चार वर्ष बाद सेठजी लौटे और उन्होने अपने दिये हुए चावल के दाने मागे तो दो बहुओ ने तो कोठार से लाकर और तीसरी बहू ने सुरक्षित रखे हुए वे दाने लाकर दे दिये पर चौथी बहू ने कहा कि वे दाने पाच नही रहे वरन् फलित होकर कई बोरियो मे भरे है। सेठजी उसकी समयज्ञता, जागरूकता और विवेकशीलता पर बडे प्रसन्न हुए तथा उसे घर की मालकिन बनाकर, तिजोरी की चाबिया सौप दी।

सच है, जो समय की इस उवरता को पहचान पाता है, वही अपने जीवन को सही माने मे सफल और समृद्ध बना पाता है। समय की धारा के साथ जो तैरता है, वह न केवल अपना मंगल करता है बल्कि लोक मंगल का क्षेत्र भी विस्तृत करता जाता है। समय जितना सौन्दर्यमय है उतना ही भयंकर भी। यह कालवली किसी को भी नही छोडता। शास्त्रो मे इसे 'सर्प' से उपमित किया गया है। सर्प की तरह यह भागता है, फुफकार करता है पर जो इसकी गति को पकड लेता है, वह इसकी कटुता को कला मे बदल देता है। जो काल का वलना मे रमण करता है, वह युग प्रवर्तन करता है, नये मूल्यो का निर्माण करता है और काल के कालकूट को पी जाता है। पर जो इसके साथ सक्रमण नहीं कर पाता, क्षण मात्र का भी प्रमाद कर बैठता है तब काल उसे पी जाता है। ऐसा समझकर वर्तमान मे वर्तना करने की, पल को प्रज्ञा बनाने की कला सीखने का निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिये, क्योकि यही क्षण 'तथागत' की भूमिका और भविष्य का जनक है।

ज्ञान का खजाना

❀ वैद्य रमेशचन्द्र जैन, बांझल

खोजने से
ताज भी औं राज अपना
जानते हो तुम व्यथा
लिख चुके जिस पर कहानी
सोच मे खोये हुये
धनपति की नीति से
कर सके नहि दूर तुम
निर्धनो के अश्रु अब तक है जवानी
अरे
सत्य और ईमानदारी
छल फरेबो जालसाजी ने छुपा दी
फूल को भी शूल मे परिणत बतादी
सत्य कहना
क्या ! गुनाह है
बोध है क्या ? छाया पकडना
ध्वस्त इसमे आज लाखो जिन्दगानी ।
अहिंसा के पुजारी ने जिसे अपना बनाया
उसीकी आवाज पर चलता जमाना
फिर इसे हम क्या कहे ?
ज्ञान का खजाना

भगवान् महावीर ने मन मे सब जीवों के प्रति समभाव, कर्म में अहिंसा और वचन मे स्याद्वाद का उपदेश दिया था। यह जैनधर्म की उसकी अपनी विशेषता है। अगर मानव इन उपदेशो पर अमल करे तो धरती स्वर्ग बन सकती है। आपसी झगडो का कारण यह है कि हम अपनी ही चलाना चाहते हैं, हम ही ठीक हैं, जबकि सम्भव है दूसरा जो कह रहा है वह भी किसी दृष्टि से ठीक हो। महावीर ने कहा था कि दूसरो के कथन का वह ही अर्थ करो जिस दृष्टिकोण को लेकर कहने वाले ने वह बात कही थी, अपना दृष्टिकोण उस पर मत थोपो। एक ही बात एक दृष्टिकोण से गलत होते हुए भी दूसरे दृष्टिकोण से सही हो सकती है। समाज में और राष्ट्रो मे जो विग्रह खडे हो जाते हैं उसका कारण एकागी दृष्टिकोण के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। व्यावहारिक जीवन मे स्याद्वाद की उपयोगिता पर विद्वान् लेखक ने बडे अच्छे ढग से प्रकाश डाला है।

प्र० सम्पादक

अनेकान्त और जीवन-व्यापार

श्री जमनालाल जैन, वाराणसी

जैनधर्म या जैनदर्शन को अनेकान्त दर्शन भी कहा जाता है। प्रत्येक धर्म, दर्शन या तत्वज्ञान की अपनी मूल दृष्टि होती है, एक शैली होती है। उसी के अनुसार सम्पूर्ण प्रतिपादन होता है। यह दृष्टि शरीर मे प्राणो की भांति व्याप्त होती है। जैसे वृक्ष का रस, उसकी आत्मा, उसका गुण जड से लेकर पत्तो तक समान रूप से व्याप्त रहता है वैसे ही प्रत्येक तत्वज्ञान या सिद्धान्त का विस्तृत फैलाव भी दृष्टि विशेष के अनुरूप रहता है। जैनधम, तत्वज्ञान, आचार विचार, दर्शन और सिद्धान्त सब मे अनेकान्त दृष्टि तिल म तेल की भाँति और दूध मे घी की भाँति ओतप्रोत है।

भगवान् महावीर अनेकान्त-दृष्टि के प्रवर्तक कह जाते है। जैनधर्म के वे अन्तिम शास्ता या अर्हत् थे और अपने पूर्ववर्ती 23वे तीर्थकर पार्श्वनाथ की अहिंसा तथा सयम समता-प्रधान-परम्परा उन्हे मिली थी। अनेकान्त या समन्वय की प्रणाली भी धर्म दर्शन के क्षेत्र मे जीवित थी, लेकिन उस परिपूर्णता, स्पष्टता, सस्कारिता और शास्त्रीयता प्रदान करने का महत् कार्य पहले-पहल महावीर ने ही किया। 12 वर्ष के कठोर साधना-काल के उपरान्त उन्हे केवलज्ञान की या सर्वज्ञता की प्राप्ति हुई। ढाई हजार वर्ष पूर्व का उनका युग मत मतान्तरो तथा वाद विवादो का सघर्ष-स्थल बना हुआ था। वैदिक-औपनिषदिक विचार-धाराओ मे हो समन्वय नही था। अनेक परिव्राजक एव भिक्षु अपनी एक एक शाखा प्रशाखा को पकड-कर आग्रह की ध्वजा फहरा रहे थे। कुछ तो अपने को शास्ता, तीर्थकर, सर्वज्ञ भी कहते थे। बाह्य उपकरणो, साधनो, क्रियाओ आदि का भी आग्रह पराकाष्ठा को पहुंचा हुआ था। स्वय जैन परम्परा मे भी कई परम्पराएं प्रचलित हो गयी थी। एक दूसरे मे समन्वय और सहयोग के स्थान

पर सघर्ष, विरोध और टकराहट ही ज्यादा था। यह परिस्थिति मनुष्य को मनुष्य से तोडने वाली थी। महावीर विचार-भेद और पथ-भिन्नता के बावजूद मानव-मात्र के प्रति आदर और प्राणि मात्र के प्रति समता उत्पन्न करना चाहते है। बारह वर्ष की मौन-साधना से उनमे इस दृष्टि का आविर्भाव हुआ। उनकी यह दृष्टि ही अनेकान्त है।

कहा जाता है कि केवलज्ञान-प्राप्ति के पूर्व भगवान महावीर को कुछ स्वप्न आये थे उनमे से एक स्वप्न मे उन्हे चित्र-विचित्र पखो वाला एक महान पुस्कोकिल दिखायी दिया। इसे देखकर प्रतिबुद्ध हुए, उन्हे केवलज्ञान हो गया। इस स्वप्न का उल्लेख व्याख्या प्रज्ञप्ति नामक जैन आगम मे मिलता है। वही इस स्वप्न के फल के विषय म कहा गया है कि महावीर स्व-पर सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले विचित्र द्वादशाग का उपदेश करेग।

कभी-कभी सपने बडे सार्थक हो जाया करते हैं। उनसे जोवन मे आमूल परिवर्तन आ जाता है, दृष्टि बदल जाती है, उलझने खुल जाती है, समाधान मिल जाता है और रास्ता प्रकाशमान् हो उठता है। यह एक आनन्द का क्षण होता है, जिसमे मनुष्य को लगता है कि सम्पूर्णता की उपलब्धि हो गयी। मुझे तो लगता है कि उनके केवलज्ञान का उनकी सर्वज्ञता का रहस्य इसी जगह मे निहित है।

यह पुस्कोकिल अनेकान्त का या स्याद्वाद का सार्थक प्रतीक है। अनेकान्त दृष्टि सम्पन्न प्रत्येक के विचार का आदर करता है, उनमे सत्य का दर्शन करता है और यह तभी सम्भव है जब उसकी वाणी या भाषा मे मिठास हो, माधुर्य हो, अमृत-रस हो। कोकिल का कण्ठ स्वर ऐसा ही होता है। कठोर और पाषाण-सूक्ष्म व्यक्ति भी कोयल की मीठी कूक सुनकर पिघल जाता है, द्रवित हो जाता है। कोकिल के चित्र-विचित्र पख अनेक दृष्टिकोणो के प्रतीक है। दोनो पखो की दिशाएँ भिन्न है, लेकिन वे कोकिल की गति मे एक-दूसरे के पूरक हैं, सहयोगी हैं। सहअस्तित्व उनकी सार्थकता है। कोकिल का गाढा रग इस बात का द्योतक है कि उसमे सब रग समाहित है। वह आकाश-विहारी है। अनन्त आकाश में विचरण करने वाला ऊँचे से, सूक्ष्मतापूर्वक, दूर तक निरीक्षण करता है और अनन्तता का अनुभव करता है। ग्रन्थकार ने इस प्रतीक द्वारा अनेकान्त का एक सरस एव सुन्दर अनन्त व्यापी चित्र प्रस्तुत किया है।

मनुष्य स्वतन्त्र इकाई भी है और समष्टि का अग भी है। मनुष्य ही नही हर प्राणी की स्वतन्त्र सत्ता है, उसकी अपनी निजता है वैयक्तिकता है। प्रत्येक जीव अपने कर्म का भोक्ता और कर्त्ता होता है। मनुष्य बाह्य रूप मे या कि सासारिक दृष्टि से आर्थिक दृष्टि से पराधीन या बधाहुआ सा लगता है, फिर भी आत्मगुण की दृष्टि से वह स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। उसमे स्व-पर-हित सोचने तथा तदनुसार चलने की बुद्धि, भावना, शक्ति और दृष्टि होती है। वह अनुभव करता है कि उसका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। यह सब है, लेकिन उसमे भी इन्कार नही किया जा सकता कि वह सामाजिक भी है। समाज के बिना मानवीय विकास की, उन्नयन की सम्भावना भी नही। नितान्त और निरपेक्ष रूप मे मनुष्य वैयक्तिक है, न सामाजिक। वैयक्तिकता और सामाजिकता के तटो के बीच अनेकान्त के सेतु पर ही विवेकपूर्वक एव सापक्षता पूर्वक विचरण किया जा सकता है। बूद के बिना सागर नही बनता। लेकिन सागर से पृथक बूद का व्यक्तित्व कैसा और कितना?

मनुष्य का समग्र जीवन सत्य की खोजो का परिणाम है। मानव-सृष्टि के आदि काल से सत्य की खोज हो रही है। हजारो-हजार मनीषियो, ऋषि-मुनियो, योगियो तथा वैज्ञानिको ने सत्य की खोज मे अपने को गला-खपा दिया है। हमारी

अनेक कहावतें व मुहावरे बदल गये, आचार-विचार की प्रणालियां बदल गयी, दैनिक जीवन के क्रिया-कलाप और रीतियां बदल गयी। यह क्रम चिरन्तन काल से चल रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा। इसी मे मानव-समाज की प्रगति का माप निहित है। असल मे मनुष्य स्वभाव की विशेषता है कि उसे अपनी वर्तमान स्थिति से सन्तोष नही होता। बीता क्षण उसके लिए जीर्ण हो जाता है। वह प्रतिक्षण नूतनता का आकांक्षी होता है। वह चाहता है कि उसे कुछ ऐसी उपलब्धि हो जो अपूर्व हो। इसका एक कारण यह भी है कि प्रत्येक नयी पीढी पुरानी पीढी के कन्धे पर चढकर कुछ दूर का देखती है। उदय और अस्त पर ही प्रगति का पुल निर्मित होता है।

सत्य की खोज मे निरत मानव की भटकन भी कम नही है। वह विचारो के अरण्य मे, आग्रह के गिरि शिखरो पर विरोध के सागर मे और एकाकीपन के श्मशान मे भटक गया है, खो गया है। वह सत्य का स्पर्श करना चाहता है, लेकिन सत्य छिप जाता है। अन्धे की भाति हाथी क किसी एक अवयव को पकड कर उसने मान लिया है कि सत्य यही और उतना ही है। आग्रह इतना तीव्र और तेज है कि आंख खलती ही नहो और खोलना चाहता भी नही। विवेक-नेत्र का नाम ही अनेकान्त है। विवेक की आंख खुलने ही सम्पूर्ण हाथी का दर्शन होने लगता है और आग्रह अहकार की पकड छूट जाती है। प्रतिकूलता अनुकूलता मे बदल जाती है। दूसरे का मिथ्या सत्य प्रतीत होने लगता है। इस विश्व मे तत्व या अस्तित्व की दृष्टि से अवास्तविक या यथार्थ कुछ नही है। इस विराट सृष्टि मे अणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक सब कुछ सत्य और वास्तविक है-उसी का विस्तार है। परिवर्तनशीलता का दर्शन तो मात्र पर्यायसापेक्ष है, जैसे कि एक पूरी फिलम के या दृश्य के सैकडो टुकडे।

जैनाचार्यों ने जीवन-सन्तुलन एव समता-साधना की दृष्टि से एक सूत्र प्रदान किया है-'आचार मे अहिंसा और विचार मे अनेकान्त'। जीवन मे सामजस्य तभी आ सकता है जब हमारे विचारो मे अनेकान्त दृष्टि हो। अनेकान्त की मनोभूमिका के बिना बाह्य आचरण में अहिंसा व्याप्त नही हो सकती। अनेकान्त दृष्टि के विकास के बिना हमारे बाह्य जीवन मे जो अहिंसा दीख पडती है वह मात्र लोक सस्कार या लोक रूढि है। इसीलिए नींव है और अहिंसा कलश है। कलश हमारी शोभा है लेकिन आधार तो अनेकान्त ही हो सकता है। नीव की मजबूती पर ही कलश टिक सकता है।

दार्शनिक क्षेत्र मे अनेकान्त वस्तु या द्रव्य की स्वतन्त्र सत्ता का उद्घोष करता है। द्रव्य या सत् की स्वतन्त्र सत्ता त्रिलक्षणात्मक है अर्थात् उसमे उत्पत्ति विनाश तथा स्थायित्व ये तीन लक्षण निरन्तर रहते हैं। इन तीन मूल लक्षणों मे से किसी एक को या उसके भी किसी विशिष्ट अश को अपने सिद्धान्त का आधार मानने वाले मत मतान्तरो मे समन्वय स्थापित करने और उनकी एकान्त धारणा या मान्यता का निरसन करने के लिए जैनाचार्यों ने अनगिनत प्रयास किये है। इससे अनेकान्त उत्तरोत्तर शास्त्रीय एव वैज्ञानिक रूप ग्रहण करता गया है। बिहारी-सतसई के न जाने कितने अर्थ उपलब्ध है। कालिदास के मेघदूत को पार्श्वाभ्युदय काव्य मे एक-एक चरण क रूप मे समाविष्ट करके आचार्य जिनसेन ने मेघदूत को नया-गौरव प्रदान कर दिया। गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरितमानस की "सब कर मत खगनायक एहा। करिय रामपद पकज नेहा।।" चौपाई के 16 लाख तक अर्थ किये जा चुके हैं। एक ही शब्द के अनेक परस्पर विरोधी अर्थ करने के हजारो उदाहरण विश्व साहित्य मे मिलते हैं। समय के थपेडे खाकर शब्द और ध्वनियो के अर्थ बदल गये हैं। हम अपनी ही बात के स्पष्टीकरण के लिए बार-बार तात्पर्य और मतलब का सहारा

लेते रहते हैं। गाधीजी हमेशा कहते थे कि मेरी कल की बात अब व्यर्थ समझनी चाहिए। विश्व का कथा साहित्य परस्पर विरोधी एव अनन्तमुखी अनुभूतियो एव प्रवृत्तियो मे सामजस्य स्थापित करने की दृष्टि से बडा मूल्यवान है। इन सब मे स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति अनेकान्ती होता है और वास्तविकता तो यह है कि अनेकान्ती हुए बिना कोई जीवित रह भी नही सकता।

अनेकान्त का शब्दगत अर्थ अनेक + अन्त अर्थात् अनेक धर्मात्मकता है। प्रत्येक वस्तु या पदार्थ मे अनेक धर्म होते हैं। एक समय मे एक साथ कोई भी व्यक्ति वस्तु के अनेक धर्मों का प्रतिपादन नही कर सकता। अनेक का अर्थ एक से भिन्न भी होता है। भिन्न मे दो से लेकर अनन्त तक समाविष्ट हैं। वस्तु मे अनेक धर्मों के अस्तित्व की सार्थकता या उपयोगिता उनके ध्यान मे नही आती सुख-दुख, नित्य-अनित्य, सत्-असत्, शाश्वत-अशाश्वत आदि विविध द्वन्द्वो का अपेक्षा मूलक सम्पूर्ण अस्तित्व प्रत्येक पदार्थ मे निरन्तर रहता है, यह बात केवल जैनदर्शन ने ही व्यवस्थित एव शास्त्रीय रूप से प्रतिपादित की है।

अनेकान्त के साथ-साथ स्याद्वाद शब्द का प्रयोग भी होता है। लोक-व्यवहार मे दोनो एकार्थ वाचक हैं। दोनो अन्योन्याश्रित है। जहा अनेकान्त वस्तु के समस्त धर्मों की ओर समग्र रूप से हमारा ध्यान खीचता है, वहाँ स्याद्वाद वस्तु के एक धर्म का ही प्रधान रूप से बोध कराता है। विविध धर्मात्मक वस्तु हमारे लिए किस प्रकार उपयोगी हो सकती है, यह बतलाना स्याद्वाद का कार्य है। अनेकान्त लक्ष्य है और स्याद्वाद इसे प्राप्त करने का साधन है। स्याद्वाद एक वचनपद्धति या अभिव्यक्ति की प्रणाली है, जो वस्तु के एक एक धर्म का प्रतिपादन नय सापेक्ष दृष्टि से करती है।

जैनदर्शन मे 'स्यात्' शब्द का प्रयोग सापेक्ष कथचित् के अर्थ मे होता है। अन्य दार्शनिको ने स्यात् का अर्थ शायद, सम्भवत, 'हो सकता है', 'किसी तरह' किया है जो सर्वथा गलत है। प्राकृत-पाली आदि प्राचीन जन भाषाओ मे 'स्यात्' शब्द के प्रयोग का विश्लेषण करते हुए स्व० डा० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने लिखा है कोई ऐसा शब्द नही है जो वस्तु के पूर्ण रूप का स्पर्श कर सके। हर शब्द एक निश्चित दृष्टिकोण से प्रयुक्त होता है और अपने विवक्षित धर्म का प्रतिपादन करने की शक्ति है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि अविवक्षित शेष धर्मों की सूचना के लिए एक प्रतीक अवश्य हो, जो वक्ता और श्रोता को भूलने न दे। स्यात् शब्द यही करता है। वह श्रोता को विवक्षित धर्म का, प्रधानता से ज्ञान कराके भी अविवक्षित धर्मों के अस्तित्व का द्योतन कराता है।

स्यात् शब्द जिस धर्म के साथ प्रयुक्त होता है, उसकी स्थिति कमजोर न करके वस्तु में रहने वाले तत्प्रतिपक्षी धर्म की सूचना देता है।

अनेकान्त का आधार नयवाद है। यह भी कहा जा सकता है कि स्याद्वाद वस्तु का प्रतिपादन किसी अपेक्षा से पूर्णरूप मे करता है और नय उस वस्तु को ज्ञाता के अभिप्राय विशेष के सन्दर्भ मे अशरूप मे प्रकट करता है। अभिप्राय सन्दर्भ, काल, शब्द, ध्वनि अर्थ आदि के आधार पर नयो के अनेक उत्तर-भेद हो सकते हैं।

स्याद्वाद को सप्तभगी न्याय भी कहते हैं। सप्तभगी का अर्थ है वस्तु के अस्तित्व या सत्ता का विधेय और निषेध परक कथन के प्रकार। वस्तु है भी, नही भी हैं और है-नही दोनो भी है और दोनो रूप अनिर्वचनीय भी हैं। इस प्रकार सात प्रकार से वस्तु-दर्शन किया जाता है। घडा-घडा है भी, घडा नही भी है-अन्य कुछ है। हम कैसे कह सकते हैं कि घडा-घडा या मिट्टी ही है या नही है, क्योकि उसके कण-कण मे न जाने कितने तत्व कितनी ऊर्जा, कितनी सम्भावनाए हैं। इसीलिए वह अनिर्वचनीय भी है। यह बडी गहरी पैठ है।

सत्य तक पहुचने के लिए यह सप्तभगी न्याय बहुत उपयोगी है ।

'ही' और 'भी' को लेकर भी बहुत गलतफहमी है । अनेकान्ती व्यक्ति आग्रह, अहकार या अभिनिवेशवश अर्थात् दूसरे के दृष्टिकोण या विचार का तिरस्कार करने के लिए 'ही' का प्रयोग कदापि नही करेगा । 'भी' का प्रयोग इस तथ्य की सूचना है कि इसके अतिरिक्त और भी बहुत कुछ उसमे गर्भित है । हाँ, जीवन मे बार-बार 'ही' का भी प्रयोग करना पडता है । 'ही' का प्रयोग किये बिना बात मे दृढता नही आती । ढीली या सशयास्पद बात का कोई प्रभाव नही पडता । अश कथन की पूर्णता के लिए 'ही' का प्रयोग आवश्यक है, लेकिन जहाँ अपेक्षा का स्पष्ट निर्देश हो वहा 'ही' लगाना आवश्यक हो जाएगा ।

ऊपर के विवेचन मे यह स्पष्ट है कि अनेकान्त-दृष्टि के बिना जीवन चल नही सकता । आध्यात्मिक एव दार्शनिक क्षेत्र मे तो उसकी उपयोगिता और सार्थकता निर्विवाद है, सामाजिक एव व्यावहारिक क्षेत्रो मे भी उसकी उपयोगिता सशय से परे हैं । अनेकान्त हमे जीवन की पात्रता प्रदान करता है । जीवन की पात्रता का आधार सत्यनिष्ठा और सत्यग्राहिता है और यह मानव मात्र के प्रति आदर भाव पर निर्भर है । अनेकान्त की मर्यादा इतनी विस्तृत और व्यापक है कि उससे विश्व की सारी समस्याए हल की जा सकती हैं, सारे विवाद दूर किये जा सकते हैं । शर्त इतनी ही है कि मन में अपने विचार के प्रति दृढता तो रहे, पर आग्रह न रहे और दूसरे के विचारो मे निहित सत्याश को ग्रहण करने की तत्परता रहे । अन्यथा तो जैसे अहिंसा धीरे-धीरे जड कर्मकाण्ड या लीक पीटने की निस्तेज प्रक्रिया मात्र रह गयी, वैसे ही अनेकात के साथ भी खिलवाड किया जा सकता है ।

जैसे ताली दोनो हाथो से बजती है, वीणा के तारो से स्वर अगुलियो के स्पर्श से ही निकलता है, दधि का मन्थन रस्सी के दोनो सिरो को आगे-पीछे घुमाने से होता है, हमारे पैरो मे गति दोनो पैरो को आगे बढाने से ही आती है, हमारी इन्द्रिया पारस्परिक सहयोग पर ही अपना काम करती हैं, उसी प्रकार समाज का जीवन विरोधो के समन्वय से चलता है । यहाँ राजनीतिक क्षेत्र के दो महान् देश सेवको के दो वचन इस सन्दर्भ मे देकर मैं अपनी बात समाप्त करूँगा । अग्रेजी राज्य के जमाने मे प० जवाहरलालजी नेहरू कहा करते थे कि 'हम झुक जाएँगे लेकिन टूटेंगे नही ।' और नेताजी सुभाषचन्द्र बोस कहा करते थे कि 'हम टूट जाएँगे लेकिन झुकेंगे नही ।' ये दोनो वचन परस्पर विरोधी प्रतीत होते है, लेकिन दोनो वचन हमे अग्रेज सल्तनत के खिलाफ एक ही जगह पहुचते है ।

महावीर-वाणी

1 आत्मा अनन्त ज्ञान और सुखमय है । सुख कही बाहर से नही आता ।

2 यदि सही दिशा मे पुरुषार्थ किया जाय तो प्रत्येक आत्मा भगवान् बन सकता है । भगवान् कोई अलग से नही होते ।

3 सब आत्माए समान है । कोई छोटा बडा नहीं है ।

शुद्ध भावना

श्री मोतीलाल सुराणा, इन्दौर

भावणा जोगशुद्धप्पा जलेणावा व ग्राहिया ।
छुरे का उपयोग करे
डाकू और डाक्टर ।
एक चाहे मारना,
दूसरा रक्षक बनकर ।।
बिल्ली मुह मे पकडती,
चूहे को व निज शिशु को
एक को चाहे मारना
दूसरे की परवरिश करे ।।
भावो का परिणाम भिन्न है,
शुद्ध भावो की महिमा है ।।
बालक को बालक यदि मारे
भाव द्वेष का बीच मे ।
उसी पुत्र को पिता पीटे तो,
सुधार भाव है चित मे ।।
जो भी हो समान क्रिया तो,
भावो मे तो बदला है ।।
जल मे नौका तिरती जाती,
पार कई लग जाते हैं ।
शुद्ध हृदय वाले भी धर्मी
निश्चित शिवपुरी पाते हैं ।।

महावीर उवाच

श्री मोतीलाल सुराना, इन्दौर

सुहसायगस्स समणस्स,
साया उलग्गस्स निगामृ साईस्स ।
उच्छोलणा पहोग्रस्स,
दुल्लहा सुगई तारिसमस्स ।।

—दशवैकालिक सूत्र 4/26

साधु बनकर कोई साधक,
चाह पाना सुख बनावटी ।
जिव्हा जिसकी चखना चाह,
माल मलिदा चाट–चटपटी ।।
तन धोवे जो सजने खातिर,
शयन करे गादी तकिये पर ।
विषयो मे जिसका मन ललचे,
नही उसे हो मोक्ष प्राप्ति ।।

जैनदर्शन प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करता है। उसकी निश्चय दृष्टि से यह मान्यता है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ नहीं बिगाड़ सकता। आत्मा स्वयं ही अपने कर्मोदय से सुख दुःख जीवन-मरण पाता है, कोई अन्य इसमें कारण नहीं है। इसलिए वह ऐसे ईश्वर की सत्ता से भी इंकार करता है जो जगत् का कर्ता-हर्ता तथा जीवों को सुख दुःख का देने वाला हो। यह सम्पूर्ण निबंध लेखक ने केवल निश्चय दृष्टि का आश्रय लेकर लिखा है। आचार्य उमास्वाति ने जो 'सुख दुःख जीवितमरणोपग्रहाश्च' 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' आदि सूत्रों में जो पुद्‌गल को जीव के सुख दुःख जीवन मरण का कारण बताया है वह व्यवहार दृष्टि से है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

प्र० सम्पादक

जैन-दर्शन का तात्विक पक्ष : वस्तु स्वातन्त्र्य

❀ डा० हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर

जैन दर्शन मे वस्तु के लिए अनेकान्तात्मक स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, उसमे वस्तु-स्वातन्त्र्य को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उसमे मात्र जन-जन की स्वतन्त्रता की ही चर्चा नही, अपितु कण-कण की पूर्ण स्वतन्त्रता का सतर्क व सशक्त प्रतिपादन हुआ है। उसमे 'स्वतन्त्र होना है की चर्चा नही स्वतन्त्र है' की घोषणा की गई है। 'होना है' मे स्वतन्त्रता की नही परतन्त्रता की स्वीकृति है। होना है' अर्थात् नही है। जो है उसे क्या होना? स्वभाव से प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र ही है। जहा होना है' की चर्चा है, वह पर्याय की चर्चा है। जिसे स्वभाव की स्वतन्त्रता समझ मे आती है पकड मे आती है, अनुभव मे आती है, उसकी पर्याय मे स्वतन्त्रता प्रकट होती है अर्थात् उसको स्वतन्त्र पर्याय प्रकट होती है।

वस्तुत पर्याय भी परतन्त्र नही है। स्वभ व की स्वतन्त्रता को अजानकारी ही पर्याय की परतन्त्रता है। पर्याय के विकार के कारण मै परतन्त्र हूँ" ऐसी मान्यता है, न कि पर पदार्थ। स्वभाव पर्याय को तो परतन्त्र कोई नही मानता पर विकारी-पर्याय को परतन्त्र कहा जाता है। उसकी परतन्त्रता का अर्थमात्र इतना है कि वह परलक्ष्य से उत्पन्न हुई है। पर के कारण किसी द्रव्य की कोई पर्याय उत्पन्न नही होती।

विश्व का प्रत्येक पदार्थ पूर्ण स्वतन्त्र एव परिणामनशील है, वह अपने परिणमन का कर्ता धर्ता स्वय है उसके परिणमन मे पर का हस्तक्षेप रचमात्र भी नही है। यहा तक कि परमपिता परमेश्वर (भगवन्) भी उसकी सत्ता एव परिणमन का कर्ता हर्ता नही है, दूसरो के परिणमन अर्थात् कार्य मे हस्तक्षेप की भावना ही मिथ्या, निष्फल और दुःख का कारण है। क्योकि सब जीवो के जीवन मरण सुख-दुःख स्वयकृत कर्म के फल है। एक दूसरे को

एक दूसरे के दु,ख सुख और जीवन-मरण का कर्ता मानना अज्ञान है।

सो ही कहा है—

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय—
कर्मोदयान्मरणजीवितदु खसौख्यम् ।
अज्ञानमेतदिह यत्तु पर परस्य,
कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदु खसौख्यम् ॥[1]

यदि एक प्राणी को दूसरे के दुःख-सुख और जीवन-मरण का कर्ता माना जाए तो फिर स्वयकृत शुभाशुभ कर्म निष्फल साबित होंगे। क्योंकि प्रश्न यह है कि हम बुरे कर्म करे और कोई दूसरा व्यक्ति, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यो न हो क्या वह हमे सुखी कर सकता है ? इसी प्रकार हम अच्छे काय करे और कोई व्यक्ति, चाहे वह ईश्वर ही क्यो न हो क्या हमारा बुरा कर सकता है ? यदि हाँ, तो फिर अच्छे काय करना बुरे कार्यो से डरना व्यर्थ है क्योकि उनके फल को भोगना तो आवश्यक है नही ? और यदि यह सही है कि हमे अपने अच्छे बुरे कर्मों का फल भोगना ही पडेगा तो फिर पर के हस्तक्षेप की कल्पना निरर्थक है। इसी बात को अमितगति आचार्य ने इस प्रकार व्यक्त किया है —

स्वय कृत कर्मयदात्मना पुरा
फल तदीय लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुट
स्वय कृत कर्म निरर्थक तदा ॥
निजार्जित कर्म विहाय देहिनो,
न कोपि कस्यापि ददाति किच न ।
विचारयन्नेवमनन्यमानस
परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम् ॥[2]

आचार्य अमृतचन्द्र तो यहाँ तक कहते है कि पर द्रव्य और आत्म तत्व मे कोई भी सम्बन्ध नही है तो फिर कर्ता कर्म सम्बन्ध कैसे हो सकता है।

नास्ति सर्वोऽपि सबध परद्रव्यात्मतत्वयो ।
कर्तृकर्मत्वसबधाभावे तत्कर्तृता कुत ॥[3]

विभिन्न द्रव्यो के बीच सर्व प्रकार के सम्बन्ध का निषेध ही वस्तुत पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा है। पर के साथ किसी भी प्रकार के सम्बन्ध की स्वीकृति परतन्त्रता को ही बताती है।

अन्य सम्बन्धो की अपेक्षा कर्ता-कर्म सम्बन्ध सर्वाधिक परतन्त्रता का सूचक है। यही कारण है कि जैन दर्शन मे कर्तावाद का स्पष्ट निषेध किया है। कर्तावाद के निषेध का तात्पर्य मात्र इतना नही है कि कोई शक्तिमान ईश्वर जगत का कर्ता नही है, अपितु यह भी है कि कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य का कर्ता हर्ता नही है। किसी एक महान् शक्ति का समस्त जगत का कर्ता हर्ता मानना एक कर्तावाद है तो परस्पर एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता हर्ता मानना अनेक कर्तावाद।

जब जब कर्तावाद वा अकर्तावाद की चर्चा चलती है, तब तब प्राय यही समझा जाता है कि जो ईश्वर को जगत का कर्ता माने वह कर्तावादी है और जो ईश्वर को जगत का कर्ता न माने वह अकर्तावादी। चूकि जैनदर्शन ईश्वर को जगत का कर्ता नही मानता, अत वह अकर्तावादी दर्शन है।

जैन दर्शन का अकर्तावाद मात्र ईश्वरवाद के निषेध तक ही सीमित नही, किन्तु समस्त पर-कर्तृत्व के निषेध एव स्वकर्तृत्व के समर्थन रूप है। अकर्तावाद का अर्थ ईश्वर-कर्तृत्व का निषेध मात्र तो है ही नही, पर मात्र कर्तृत्व के निषेध तक भी सीमित नही, स्वयकर्तृत्व पर आधारित है। अकर्तावाद यानि स्वयकर्तावाद। प्रत्येक द्रव्य अपनी परिणति का स्वयकर्ता है। उसके परिणमन मे पर का रचमात्र भी हस्तक्षेप नही है। स्वय कर्तृत्व होने पर भी उसका भार भी जैन दर्शन को

स्वीकार नहीं, क्योंकि वह सब सहज स्वभाववत् परिणमन है। यही कारण है कि सर्वश्रेष्ठ दिगम्बर आचार्य कुन्द कुन्द ने अपने सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ समयसार के कर्ता-कर्म अधिकार में ईश्वरवाद के निषेध की तो चर्चा तक ही नहीं की और सम्पूर्ण बल कर्तृत्व के निषेध एव ज्ञानी को विकार के भी कर्तृत्व का अभाव सिद्ध करने पर दिया। जो समस्त कर्तृत्व एव कमत्व के भार से मुक्त हो, उसे ही ज्ञानी कहा है।

कुन्द-कुन्द की समस्या अपने शिष्यो को ईश्वर वाद से उभारने की नही वरन् मान्यता मे प्रत्येक व्यक्ति स्वय एक छोटा-मोटा ईश्वर बना हुआ है और माने बैठा है कि 'मै अपने कुटुम्ब, परिवार देश व समाज को पालता हू, उन्हे सुखी करता हू और शत्रुआदिक को मारता हू एव दु खी करता हू अथवा मै भी दूमरे के द्वारा सुखी दु खी किया जाता हू या मारा बचाया जाता हू।'' इस मिथ्या मान्यता से बचाने की थी। अत उन्होने कर्तावाद सम्बन्धी उक्त मान्यता का कठोरता से निषेध किया है। उन्ही के शब्दो मे —

जो मण्णदि हिंमामि य हिंसिज्जामि

य परेंहि सत्तोंहि।

सो मूढा अराणाणी णाणी एतो दु विवरीदो

॥247॥

जो मण्णादि जीवेमि य जीविज्जामि

य परेंहि सत्तेंहि।

सो मूढो अण्णाणी णाणी एतो

दु विवरोदी ॥250॥

जो अप्पणा दु मण्णादि दुक्खिद

सुहिदे करोमि सत्ते ति।

सो मूढो अप्पाणी णाणी एतो दु विवरोदी

॥253॥

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बधेमि तह विमोचेमि।

जो एसा मूढमई णिरत्थया सा हु देमिच्छा ॥266॥

जो यह मानता है कि मैं पर जीवो को मारता हू और पर जीव मुझे मारते हैं—वह मूढ है, अज्ञानी है, और इससे विपरीत मानने वाला ज्ञानी है।

जो जीव यह मानता है कि मैं पर जीवों को जिलाता (रक्षा करता) हू और परजीव मुझे जिलाते (रक्षा करते) हैं वह मूढ है, अज्ञानी है, और इससे विपरीत मानने वाला ज्ञानी है।

जो यह मानता है कि मैं पर जीवो को सुखी-दु खी करता हू और परजीव मुझे सुखी दु खी करते हैं, वह मूढ है, अज्ञानी है और इमसे विपरीत मानने वाला ज्ञानी है।

मैं जीवो को दु खी-सुखी करता हू, बाधता हू तथा छुडाता हू ऐसी जो तेरी मूढमति (मोहित बुद्धि) हैं वह निरर्थक होने से वास्तव में मिथ्या है।

उनका अकर्तृत्ववाद ''मात्र ईश्वर जगत का कर्ता नही है'' के निषेधात्मक भाग तक सीमित है। वह भी इसलिए कि वे जैन हैं और जैन दशन ईश्वर को जगत का कर्ता नही मानता है, अत वे भी नही मानते।

ईश्वर को कर्ता नही मानने पर भी स्वय कर्तृत्व उनकी समझ मे नही आता। अत जड कर्म को कर्ता कहते देखे जात हैं। जड-कर्म के सद्भाव क ो निज के विकार का कर्ता और उसके अभाव का स्वभाव को कर्ता मानने वालो से तो ईश्वरवादी ही अच्छे थे। क्योंकि वे अपने अच्छे-बुरे कर्तृत्व का बागडोर एक सव-शक्तिसम्पन्न चेतन ईश्वर को तो सौंपते हैं इन्होने तो जडकम के हाथ अपने को बेचा है। इस प्रकार से ये लोग भी ईश्वरवादी ही है क्योंकि इन्होने चेतनेश्वर को स्वीकार न कर, जडेश्वर को स्वीकार किया है।

पर के साथ आत्मा कारणता क के सम्बन्ध

का निषेध प्रवचनसार की "तत्व प्रदीपिका" टीका में इस प्रकार किया है।

अतो न निश्चयत परेणसहात्मन
कारकत्व सबधोऽस्ति ॥

जीव कर्म का और कर्म जीव का कर्ता नही है। इस बात को पचास्तिकाय मे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है —

कुव्व सग सहाव अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स।
ण हि पोग्गलकम्माण इदि जिणवयण मुणेयव्व
॥61॥

कम्मं पि सग कुव्वदि सेण सहावेण सम्ममप्पाण।
जीवो वि य तारिसओ कम्मसहावेण भावण ॥62॥

कम्म कम्म कुव्वदि जदि सा
अप्पा करेदि अप्पाण।
किध तस्स फल भुञ्जादि अप्पा
कम्म च देदि फल ॥63॥

अपने स्वभाव को करता हुआ आत्मा अपने भाव का कर्ता है, पुद्गल कर्मों का नही। ऐसा जिन बचन जानना चाहिए।

कर्म भी अपने स्वभाव से अपने को करते है और उसी प्रकार जीव भी कर्म स्वभाव भाव से अपने को करता है। यदि कर्म-कर्म को और आत्मा आत्मा को करे सो फिर कर्म आत्मा को फल क्यो देगा और आत्मा उसका फल क्यो भोगेगा? अर्थात् नही भोगेगा।

जहा कर्तावादी दार्शनिको के सामने जगत ईश्वरकृत होने से सादि स्वीकार किया गया है वहा अकर्तावादी या स्वयकर्तावादी जैन-दर्शन के अनुसार यह विश्व अनादि अनत है, इसे न तो किसी ने बनाया है और न ही कोई इसका विनाश कर सकता है, यह स्वय सिद्ध है, विश्व का कभी भी सर्वथा नाश नही होता, मात्र परिवर्तन होता है, और वह परिवर्तन भी कभी-कभी नही निरन्तर हुआ करता है।

यह समस्त जगत परिवर्तनशील होकर भी नित्य है और नित्य होकर भी परिवर्तनशील। यह नित्यानित्यात्मक है। इसकी नित्यता स्वत सिद्ध है और परिवर्तन स्वभावगत धर्म।

नित्यता के समान अनित्यता भी वस्तु का स्वरूप है सत् उत्पाद व्यय ध्रौव्य से युक्त होता है।[5] उत्पाद और व्यय परिवर्तनशीलता का नाम है और ध्रौव्य नित्यता का। प्रत्येक पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है। अत वह द्रव्य है। द्रव्य गुण और पर्यायवार होता है। जो द्रव्य के सम्पूर्ण भागो और समस्त अवस्थाओ मे रहे उसे गुण कहते हैं तथा गुणो के परिणमन को पर्याय कहा जाता है।

प्रत्येक द्रव्य मे अनत अनन्त गुण होते हैं, जिन्हे दो भागो में वर्गीकृत किया जाता है। सामान्य गुण और विशेष गुण। सामान्य गुण सब द्रव्यो में समान रूप से पाये जाते हैं और विशेष-गुण अपने-अपने द्रव्य मे पृथक पृथक होते है।

सामान्य गुण भी अनन्त होते है और विशेष भी अनन्त। अनन्त गुणो का कथन तो सम्भव नही है। अत यह सामान्य गुणो का वर्णन शास्त्रो मे मिलता है

अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व,
प्रदेशत्व।

प्रत्येक द्रव्य की सत्ता अपने अस्तित्व गुण के कारण है न कि पर के कारण। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य मे एक द्रव्यत्व गुण भी है जिसके कारण प्रत्येक द्रव्य प्रति समय परिणमित होता है, उसे अपने परिणमन मे पर के सहयोग की अपेक्षा नही रहती है। अत कोई भी अपने परिणमन मे परमुखापेक्षी नही है। यही उसकी स्वतन्त्रता का

आधार है। अस्तित्व गुण प्रत्येक द्रव्य की सत्ता का आधार है और द्रव्यत्व गुण परिणमन का। अगुरूलघुत्व गुण के कारण एक द्रव्य का दूसरे मे प्रवेश सम्भव नही है।

सद्भाव के समान अभाव भी वस्तु का धर्म है। कहा भी है

"भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मा।"[7]

अभाव चार प्रकार का माना गया है

प्राक्भाव, प्रध्वसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य का दूसरे द्रव्य मे अत्यान्ताभाव होने के कारण भी उसकी स्वतन्त्रता अखण्डित रहती है। जहा अत्यन्तभाव द्रव्यो की स्वतन्त्रता की दु दुभि बजाते हैं।

जैन दर्शन के स्वातन्त्र्य सिद्धान्त के आधार भूत इन सब विषयो की चर्चा जैन दशन म विस्तार से की गई है। इनकी विस्तृत चर्चा करना यहा न तो समव हे और न अपक्षित। जिन्हे जिज्ञासा हो जिन्हे जैन दर्शन का हार्द जानना हो उन्हे उसका गम्भोर अध्ययन करना चाहिए।

---

1 आचार्य अमृतचन्द्र, समयसार कलश 168
2 भावना द्वात्रिंशतिका (सामायिक पाठ) छद 30-31
3 आचार्य अमृतचन्द्र समयसार कलश 200
4 आचार्य कुन्दकुन्द समयसार, बध अधिकार
5 आचाय उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-5 सूत्र-30
6 वही अध्याय-5 सूत्र-38
7 आचार्य समन्तभद्र युक्त्यनुशासन कारिका 39

महावीर-वाणी

१. प्रत्यक आत्मा स्वतन्त्र है कोई किसी के आधीन नही है।

२ आत्मा ही नही, विश्व का प्रत्येक पदार्थ स्वय परिणमनशील है। उसके परिणमन मे पर पदार्थ का कोई हस्तक्षेप नही है।

३ ईश्वर जगत् का कर्ता हर्ता नही है। वह तो मात्र ज्ञाता द्रष्टा है।

मतभेद नहीं अब रह पाये

❀ मुनिश्री मानमलजी

मतभेद सदा से चलते हैं मन भेद नही अब रह पाये ।

मन भेदो के कारण कितने
धर्मों धर्मों मे द्वन्द्व हुवा
परिणाम भयकर जहरीला
बोलो कब उसका बन्द हुवा

शोषित की लाल कहानी फिर से न उभर कर आ पाये
मतभेद सदा से चलते हैं मन भेद नहीं अब रह पाये ।।

ये पाचों अगुलियां अपना
अस्तित्व स्वय का रखती हैं
तन पोषण जब करना हो
भोजन मिलमिल सब चखती है

ऐसा ही ऐक्य धर्म जग के नेता फिर दिखलाये
मत भेद सदा से चलते हैं मन भेद नही अब रह पायें ।।

झाड़ू का हर तिनका देखो
यदि बिखर गया तो मिटता है
धार्मिक नेताओ सुनो सुनो
युग का स्वर जो अब उठता है

आस्तिकता खतरे मे सारी मिल कर चलना अब आ जाये
मत भेद सदा से चलते हैं मन भेद नही अब रह पाये ।।

('अहिंसा वाणी' से साभार)

आज विश्व का वातावरण स्त्री स्वातन्त्र्य और समानाधिकार के नारे से गुञ्जायमान हो रहा है। नारी को उचित अधिकार प्रदान कराने हेतु 'नारी वर्ष' मनाया जा चुका है किन्तु उसके अपेक्षित फल न होते देख अब वर्ष के स्थान में दशाब्दी मनाई जा रही है। भगवान् महावीर के अनुयायियों में स्त्री मुक्ति को लेकर पर्याप्त समय से मतभेद हैं। एक पक्ष उसका समर्थन करता है तो दूसरा उसका विरोध। दोनों ही अपने अपने पक्ष मे प्रबल तर्क प्रस्तुत करते हैं किन्तु इस काल मे स्त्री तो क्या पुरुष भी मुक्त नहीं हो सकता अत वर्तमान मे यह विवाद व्यर्थ है। फिर भी पाठक दोनों की युक्तियों से परिचित हो अपनी ज्ञानवृद्धि कर सकें तथा स्वतन्त्ररूप से चिन्तन कर सकें एतदर्थ लेखकके 40 पृष्ठों के लम्बे लेख का सार हम यहां प्रस्तुत कर रहे हैं। पाठक इसके अतिरिक्त और कोई अर्थ इसके प्रकाशन का न लगावें। प्र० सम्पादक

सार संक्षेप

जैन तर्क–वाङ्मय में स्त्री मुक्ति का तार्किक विवेचन

❋ डा० लालचन्द जैन, वैशाली

प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान दलसुख मालवणिया के अनुसार स्त्री मुक्ति की दार्शनिक चर्चा व्यवस्थित रूप से सर्वप्रथम यापनीय सघ के आचार्य शाकटायन ने अपने 'स्त्री मुक्ति प्रकरण' मे की। इसके पश्चात् श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो आम्नायो के आचार्यों ने उसको आधार बना कर तार्किक भित्ति पर स्त्रीमुक्ति का समर्थन और विरोध किया। द्वादशागी या मूलसूत्र, छेदसूत्र आदि मे भी इसका स्पष्ट विवेचन दृष्टिगोचर नही होता। लेखक मालवणिया पूर्वोक्त मत से सहमत है।

1 मोक्ष का कारण रत्नत्रय प्राप्त होने पर जिस प्रकार पुरुष उसी भव से मुक्त हो सकता है उसी प्रकार स्त्री भी, क्योकि कारण के मिलने पर कारण की निष्पत्ति होती है।

मोक्ष के कारणो मे किसी भी कारण का अभाव स्त्रियो से नही है। प्रत्यक्ष, अनुमान या आगम किसी भी प्रमाण से स्त्रियो मे रत्नत्रय का अभाव सिद्ध नही किया जा सकता। प्रत्यक्ष इन्द्रियज्ञान का विषय है जबकि रत्नत्रय अतीन्द्रिय। प्रत्यक्ष से अप्रसिद्ध विषय मे अनुमान की गति नही है। किसी भी आगम मे स्त्रियो के रत्नत्रय का अभाव नही बताया है।

2 कर्मक्षय करने रूप मोक्ष के कारण और स्त्रीत्व मे सह अनवस्थान अर्थात् एक के सद्भाव मे दूसरे का न होना जैसे शीत के सद्भाव मे उष्णत्व का अभाव, विरोध भी नही है।

3 'सर्वोत्कृष्ट रत्नत्रय जो कि मोक्ष का कारण है, स्त्रियो मे नही होना' यह कहना भी ठीक नही है क्योकि इसका ज्ञान हम लोगो को नही हो सकता।

4 अविकल कारण और स्त्रीत्व मे परस्पर-परिहार स्थिति लक्षण विरोध भी नही है।

5 'स्त्रिया सातवे नरक तक नहीं जा सकती इसलिए उनकी मुक्ति नही हो सकती' यह भी ठीक नही है क्योकि इनमे अविनाभाव सम्बन्ध नही है। चरम शरीरी भी सातवे नरक तक नही जाते फिर भी मुक्त होते है।

6 'वादादिलब्धि के अभाव के कारण स्त्रिया मुक्त नही हो सकती, यह कहना भी ठीक नही है क्योकि—

(क) मूक केवली को मोक्ष नही हो सकेगा (ख) तत्त्वाधिगम सूत्र मे जो यह कहा है कि केवल सामायिक पदो का (तुषमाषभिन्न आदि) उच्चारण करके अनन्त जीव सिद्ध हो गये है वह मिथ्या हो जायगा। (ग) 'वादादि लब्धि के अभाव होने से मोक्ष का भी अभाव मानना ठीक नही है।

7, 'अल्पश्रुत ज्ञान के कारण स्त्री मुक्ति सम्भव नही है' यह भी ठीक नही हैं। तुषमाषभिन्न ज्ञान वालो को भी मुक्ति होने के कथन शास्त्रो मे मिलते हैं।

8. वस्त्रग्रहण भी मुक्ति मे बाधक नही है क्योकि ससार का कारण वस्त्र नही रागादि है। वस्त्र का अभाव भी मुक्ति का कारण नही है क्योकि सब वस्त्ररहित जीवो की मुक्ति नही होती। केवल वस्त्र मात्र ग्रहण से साधु परिग्रही नही हो सकता नही तो ध्यानस्थ मुनि पर वस्त्र डालने से वह भी परिग्रही कहलायेगा। वस्त्र का स्पर्शमात्र भी मुक्ति लाभ मे बाधक नही है क्योकि तीर्थकरो के अनेक पदार्थों का स्पर्श होने पर भी मुक्ति होती है। 'वस्त्र जीवो की उत्पत्ति का स्थान है अत स्त्री मुक्ति नही हो सकती' क्योकि प्रमाद का योग होने पर ही हिंसा होती है और प्रमाद के अभाव मे हिंसा भी अहिंसा होती है। 'स्त्रिया पुरुषो द्वारा वन्दनीय नहीं है अत मुक्त नही हो सकती' यह तर्क भी ठीक नही है क्योकि तीर्थकर की माता को तो इन्द्र भी पूजते हैं। स्त्रिया दूसरो को स्मरण नही करा सकती इस कारण मुक्त नही हो सकती' यह भी ठीक नही है क्योकि ऐसा कोई नियम नही है। यदि ऐसा नियम हो तो शिष्य कभी मुक्त हो ही नही सकेगा।

यथाख्यात चारित्र नही होने से स्त्री मोक्ष नहीं जा सकती यह कारण भी ठीक नही है क्योकि स्त्रियो के यथाख्यात चारित्र के कारण व्रत उपवासादि होते है।

जब भाव स्त्री वेद वाला पुरुष मुक्त हो सकता है तो द्रव्य स्त्री वेद वाली स्त्री क्यो नही हो सकती। सक्षेप मे ये तर्क स्त्री मुक्ति के समर्थन मे दिये गये हैं। इस विषय को विस्तार से जानने के लिए स्त्री मुक्ति प्रकरण, ललित विस्तरा, न्यायावतार वार्तिक, न्यायकुमुदचन्द्र, सन्मति तर्क प्रकरण, षड्दर्शन समुच्चय, शास्त्रवार्ता समुच्चय आदि ग्रन्थो को देखना चाहिये।

तद्भव स्त्री मुक्ति के विरोधी निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं—

1 स्त्री के सामान्य रत्नत्रय तो होता है जो मोक्ष का कारण नही हैं नही तो गृहस्थ को भी मोक्ष मानना पडेगा। विशेष रत्नत्रय स्त्री मे इस कारण नही हो सकता कि उसमे तीव्र शुभ और अशुभ भाव दोनो ही अपने चरमोत्कर्ष रूप मे नही हो सकते। स्त्री मे रत्नत्रय की प्रकर्षता का अभाव अनुमान से सिद्ध है जैसे कि शकट का उदय वृत्तिका के उदय होने पर ही होता है यद्यपि दोनो मे कार्य-कारण सम्बन्ध नही हैं।

2 स्त्रियो के योनि, स्तन आदि स्थानो मे सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते और मरण करते रहते है, मासिक धर्म भी होता है, स्वभाव से ही वे भीरु प्रकृति की होती हैं इसलिए उनके मुक्ति के योग्य-शील का अभाव है।

3 स्त्रियां स्वभाव से चञ्चल होती हैं अत वे प्रमादशील होती है उनका एक नाम प्रमदा उनकी इसी विशेषता के कारण है।

4 स्त्रियो के सामान्य सयम तो होता है किन्तु मुक्ति योग्य विशेष सयम नही होता। यदि ऐसा नही है तो फिर उनके ऋद्धि विशेष उत्पन्न करने वाला सयम क्यो नही होता।

5 स्त्रिया सचेल होने से मुक्त नही हो सकती नही तो देश सयमी को भी मुक्ति माननी होगी।

6 स्त्रिया गृहस्थो की तरह ही वस्त्र आदि परिग्रह की धारी होने से मुक्त नही हो सकती। सम्पूर्ण परिग्रहो के त्याग पर ही सयम सभव है और वस्त्र परिग्रह है अत सयम की उत्पत्ति मे बाधक है।

7. पीछी कमण्डलु आदि परिग्रह न होकर सयम के साधन हैं जो छोडे भी जा सकते हैं किन्तु स्त्री वस्त्र त्याग कभी नही कर सकती।

8 वस्त्र की तरह शरीर मूर्छा का कारण नही है।

9 स्त्रिया साधुओ द्वारा वदनीय नही है। घर पर भी पुरुषो का ही प्राधान्य होता है स्त्रियो का नही।

10 स्त्रियो मे परिग्रह सहन करने की शक्ति नही होती। उनके उत्तम सहनन का अभाव होता है।

11 जिस जीव के सम्यक्दर्शन की उत्पत्ति हो जाती है वह स्त्री जन्म धारण नहीं करती।

12. आर्यिकाओ के महाव्रत उपचार से होते है वास्तविक नही।

13 षोडस कारण भावनाओ मे जो तीर्थ कर प्रकृति का बन्ध होता है उसके फलस्वरूप पुरुष ही तीर्थ कर हो सकते है। यदि स्त्री तीर्थ कर की मुक्ति है तो फिर उसकी स्त्रीरूप मे प्रतिमा बनाकर क्यो नही पूजी जाती।

14 ध्यानारूढ मुनि को वस्त्र ओढा देने पर भी वह ममत्व के अभाव मे निर्वस्त्र ही होता है। इस विषय की विस्तृत जानकारी के लिए न्याय-कुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, सूत्र पाहुड, योग-सार, प्रवचनसार, धवला, ज्ञानार्णव, गोम्मटसार आदि ग्रन्थो का अध्ययन करना चाहिये।

क्यों ?

❀ प्रकाश अमेय, मथुरा

क्यो होता है ऐसा,
कि एक नही चौबस–चौबीस
तीर्थङ्करो के अनुयायी हम
रहते हैं जहाँ के तहाँ ?
मनाते हैं जयन्तियाँ
और निर्वाण तिथियाँ भी
फिर भी इन दीपों की ज्योति से
निकलने वाला काजल ही
रह जाता है दिलो मे ।

क्यो होता है ऐसा
कि वीरो के वशज हम
कहाते हैं कापुरुष
दिगम्बर के अनुयायी
लादे रहते हैं
परिग्रह के लवादे ।
मैं बहुत चिन्तित हू
अपनी और अपने समाज की
इस यथार्थता पर कि
हम हीरो की खान के
बने हुए कोयले ।
और यदि हम हैं लोहे
तो जग लगे हुए
उन्हे ऋषभ का पारस पन्थ
छूता तो है
पर बना नही पाता
स्वर्णिम धातु ।

❖ ❖ ❖

क्या आपने अपने
और अपने समाज के
अन्तर्मन मे झाक कर
देखा है कभी
कि हम जो 'लेबिल' लगाये
हैं वह माल नही है हमारे अन्दर
आखिर क्यो ?

राजस्थान जैनसभा ने गत वर्ष (सन् 1976) से एक नई प्रवृत्ति प्रारम्भ की है। वह प्रतिवर्ष उच्चमाध्यमिक कक्षा तक के विद्यार्थियो को जैन विषयो पर एक निबन्ध प्रतियोगिता का आयोजन करने लगी है। गत-वर्ष प्रथम और द्वितीय आये निबन्ध प्रतियोगियों की रचनाएं हम यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। पाठको से हमारा नम्र निवेदन यह है कि वे इन निबधो को उस ही स्तर का समझकर पढ़ें। स्मारिका मे इन लेखो का प्रकाशन उत्साहवर्द्धन हेतु है।

प्र० सम्पादक

प्रथम

जनहित में भगवान् महावीर

श्री हेमन्तकुमार जैन, जयपुर

जो देवो का देव देवता,
जिसके चरणो मे श्रद्धानत।
अन्तर के कण-कण से वन्दन,
जनहितकारी उसी वीर को सतत॥

भारत की पवित्र भूमि आदिकाल से ही विभिन्न विचारो की प्रयोगशाला रही है। यहा के महापुरुष सदैव ही इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करते रहे हैं कि समाज को सुख-शाति किस तरीके से सुलभ हो सके।

समाज कल्याण के लिए राम ने 'नीति' का प्रयोग किया, कृष्ण ने 'रीति' का प्रयोग किया, बुद्ध ने 'करुणा' का, तो महावीर ने 'अहिंसा' व 'अनेकान्त' का प्रयोग किया। महात्मा गाधी ने अन्याय के प्रतिकार के लिए 'सत्याग्रह' का प्रयोग किया, तो लेनिन ने समाज की सभी प्रकार की विषमताओ को दूर करने के लिये 'साम्यवाद' का प्रयोग किया। सन्त बिनोबा ने सामाजिक विषमताओं को दूर करने के लिए 'सर्वोदय' का नारा दिया जिसे हम सर्वोदयवाद कहते हैं। ये सभी प्रयोग अपने अपने समयानुकूल ही हुए और इनमे सफलता भी मिली।

आज हम भगवान् महावीर के 2574 वे जन्म दिवस के उपलक्ष मे इस प्रश्न पर विचार कर रहे हैं कि भगवान् महावीर ने जो सन्देश दिए, वो जनता के लिए किस प्रकार लाभकारी हुए? एव मानव सभ्यता किस प्रकार दु खो के गर्त से बाहर निकल कर ऊपर की ओर उठी।

भगवान् महावीर ने जनहित के लिए क्या-क्या कार्य किए वे निम्न है

आज का मानव महगाई से त्रस्त है। वास्तव मे इसका क्या कारण है? इसका कारण है परिग्रह अथवा सचय की प्रवृत्ति। भगवान् महावीर ने कहा है कि "सचय ही समस्त पापो का मूल है।" अत इस परिग्रह को अपरिग्रह से जीतने के लिए सचय

एव परिग्रह की वृत्ति का त्याग कर सयम से रहना चाहिए।

भगवान् महावीर ने कहा है कि जिस प्रकार स्वर्ण को तपाकर एव कसौटी पर रखकर उसकी परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार आप मेरे वचनो को सत्यता की कसौटी पर रखकर परखिये फिर उनको ग्रहण करे। भगवान् महावीर ने कहा है कि धर्म की ग्रन्थो की बाते सच्ची नही है। परन्तु मनुष्य की विवेक बुद्धि ही धर्मग्रहण का प्रमाण है। इस प्रकार महावीर ने ऐसे उपदेशो से अन्ध-विश्वासो का नाश किया।

आज का युग युद्धो की कगार पर खडा है। शीतयुद्ध की हर समय सम्भावना बनी रहती है। परन्तु विश्व शान्ति के लिए सिर्फ एक ही साधन है अहिसा'। 'अहिसा' की अमोघ शक्ति के सामने सभी शक्तियाँ कुठित होती दिखाई देने लगी है।

आज प्रत्येक मनुष्य कहता है कि मेरा सो सच्चा' परन्तु यह समाज मे एक मिथ्याभिमान है।

भगवान् महावीर ने कहा था कि प्रत्येक वस्तु मे सच्चाई है, उसे समझने की कोशिश करो, और उसे ग्रहण करो।

भारत के स्वतत्र होने के पश्चात् भी वर्ग भेद एव जाति-पाति का बोलबाला है। भगवान् महावीर ने कहा है कि इस समाज मे जाति का सम्बन्ध कर्म से है, जन्म से नही। कोई भी मनुष्य चाहे किसी भी जाति मे जन्म ले,चाहे वह किसी भी देश का हो, वह मेरे धर्म की शीतल छाया मे बैठकर पावन बन सकता है।

भगवान् महावीर के उपदेशो की एक बडी विशेषता है—समन्वयवाद। समन्वयवाद का अर्थ है—किसी एक वस्तु के बारे मे विभिन्न दृष्टि कोणो से विचार करना।

भगवान् महावीर ने कहा—सभी समान हैं। समाज मे तब तक सुख व अमन चैन नही होगा जब तक यह मिथ्याभिमान रहेगा। अत सुख को प्राप्त करने के लिए समन्वयवाद का रास्ता लो।

वादो की दुनिया मे कर्मवाद अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। कर्मवाद ही जैनधर्म एव जैन सस्कृति की गहरी एव सुदृढ नीव है जिस पर ही यह भव्य प्रासाद खडा है। मनुष्य अपने प्रति फलो से ही सुख एव दुख भुगतता है। आप पुरुषार्थ करेगे तो आपके कर्म बन्धन क्षीण होगे और आप मोक्ष को प्राप्त करेगे। कर्मो के बन्धनो से छुटकारा पाने का ही नाम मुक्ति है। भगवान् महावीर की वाणी, उपदेश ईश्वर के आगे गिड-गिडाने व पहाडो पर्वतो तीर्थ स्थानो पर भटकने की शिक्षा नही देते। जैन साधक अपने बन्धनो को खोलने के लिए स्वय आत्मा के द्वारा कल्याण करते हैं। अत आप जैसे कर्म करोगे वैसा ही फल आपको मिलेगा। भगवान् महावीर ने मोक्ष व सच्चे मार्ग के लिए तीन नियम बतलाये—1 सम्यक दर्शन 2 सम्यक् ज्ञान 3 सम्यक् चारित्र। इनके द्वारा कल्याण हो सकता है।

भगवान महावीर के उपदेश कोटि-कोटि मानवो के लिए बहुत लाभकारी सिद्ध हुए है। इनके उप-देशो के श्रवण, मनन व चिन्तन से ज्ञान, प्रेरणा व पुरुषार्थ का सचार होता है। आज के युग को ऐसे उपदेशो की आवश्यकता है, एव जीवन मे ढालने की भी।

आज का पुरुष न जाने कदम-कदम पर कितनी हिसाए करता है बुरे कार्य करता है। जरा सी धन प्राप्ति के लिए किसी की जान लेने मे भी न चूकना। भारतीय इतिहास मे ऐसे कई उदाहरण मिल जायेगे जिसमे पुत्र, धन या राजप्राप्ति के लिए पिता अथवा निकट सम्बन्धी की हत्या कर देता। परन्तु हमे इस प्रकार हिसा से बचकर

अहिंसा का पालन करना चाहिए। भगवान् महावीर ने कहा है "कि हमे किसी के जीने मे मदद करनी चाहिए और समय आने पर स्वय की भी आहुति दे देनी चाहिए। मै उस जीवन से घृणा करता हू एव व्यर्थ समझता हू जो जनहित मे काम में न आ सके।"

भगवान् ने जनहित के लिए अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए उनमे से प्रमुख निम्न है

हिंसा की रोकथाम भगवान् महावीर ने हिंसा के विरुद्ध बहुत ही महत्वपूर्ण काय किए। उन्होने हिंसा के विरुद्ध व्याख्यान दिये और अहिंसा को प्रमुख धम बताया। कई व्यक्ति भगवान के उपदेशो को सुनकर उनके शिष्य बन गये। उनमे से प्रमुख गौतम थे। जिन्होने भी केवल्यज्ञान प्राप्त कर लिया एव महावीर के उपदेशो को सब जगह अर्थात् विदेशो तक पहुचाया।

उन्होने समाज मे होने वाले कर्मकाण्डो का विरोध किया। उन्होने यज्ञो का भी विरोध किया। जिसमे कई पशुओ की बलि दी जाति थी। उन्होन कहा इस पकार के यज्ञो के बजाय आप अहिंसा रूपी यज्ञ करे, जिससे आपका कल्याण हो सकता है।

भगवान महावीर ने एक बार कहा था कि वे मेरे भक्त नही है जो मेरी पूजा करते है, सेवा करते हैं, माला फेरते है। आप मेरे भक्त नही बनेगे भक्ति करने से। आप उन दीन-दुखियो की सेवा करो, जो मेरी सेवा से कही अधिक श्रेयस्कर हैं। वो भी मेरे भक्त नही जो मेरी आज्ञा को नही मानते। मेरी आज्ञा है कि प्राणी मात्र की सेवा करना व प्राणीमात्र को कष्ट नही पहुचाना।

उन्होने जो धर्म चलाया वो धर्म है—जैन धर्म। जैनधर्म एक बहुत ही अच्छा धर्म है। परन्तु इसके दो भाग कर दिये गये हैं—श्वेताम्बर और दिगम्बर।

ये कुछ मतभेद होने के कारण हुआ। परन्तु ये उन्ही माचिस और तिलियो के समान है जो एक दूसरे के बिना नाकाम हो जाती है।

वास्तव मे जैन धर्म को देखना चाहे तो एक कवि के शब्दो मे निम्न हैं।

अन्तर्दृष्टि है जहा,
जहा न पक्षपात का जाल।
करुणा-मैत्री है सब जीवो पर जहा,
जैन धम है वह सुविशाल॥

वास्तव मे भगवान् महावीर, उनके वचन, उनके उपदेश पवित्र और पावन है। उनके उपदशो से कोटि कोटि मानवो ने शिक्षा ली है, लेगे एव अपना जीवन सफलता की तरफ अग्रसर करते हैं व करेगे। मानवो व सब प्राणियो के लिए भगवान् महावीर, उनके उपदेश, मगल रूप, ज्ञान रूप और वरदान रूप साबित होते आये हैं, हो रहे हैं और आगे भी होगे।

महावीर ने कहा

सब प्राणियो मे एक जैसी आत्मा है अत दूसरो के सुख दुख को हमे अपना जैसा समझना चाहिये। घृणा का पात्र पाप है, पापी नही। अत पापी को पाप से छुडा कर उसे सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करना चाहिये।

—भगवान् महावीर

द्वितीय

जनहित में भगवान् महावीर

❀ श्री जिनेन्द्र कुमार सेठी, जयपुर

जनहित मे महावीर

आज सारा ससार प्रशान्ति व प्रसन्तोष के कगार पर खडा है। चारो ओर प्रशाति ही प्रशान्ति है। भौतिक सुखो की प्राप्ति के लिए सघर्ष व पारस्परिक ईर्षा के कारण मानव ही मानव के खून का प्यासा हो रहा है। महावीर की जन्मभूमि बगाल व निकटवर्ती राज्य बगाल मे वीभत्स हत्या-काण्डो का जोर है। अनेक देशो के मध्य युद्ध हो रहा है। विश्व तृतीय विश्व युद्ध की ओर जा रहा है। देशो के अ दर राजनीति, धार्मिक जातीय दगे हो रहे हैं। आज ससार मे जो लगभग $2\frac{1}{2}$ हजार वर्ष पूर्व हो रहा था वही हो रहा है। आज भी महावीर के उपदेश उतने ही जनहितकारी है जितने की आज से $2\frac{1}{2}$ हजार वर्ष पूर्व महावीर ने कहे थे। महावीर भगवान के उपदेश ही आज ससार को शान्ति के मार्ग पर ला सकते है। महावीर भगवान के उपदेश कितने जनहितकारी हैं उसका वर्णन निम्नलिखित है

महावीर के उपदेश

1. अहिंसा 2 अपरिग्रह 3 सत्य 4 अचौर्य 5 ब्रह्मचर्य।

अहिंसा अनेक धर्माचार्यो ने कहा कि किसी जीव को नही मारना अहिसा है। लेकिन महावीर भगवान् ने तो यहा तक कहा कि किसी को बुरे या कटु वाक्य जिससे किसी जीव को या प्राणी को ठेस पहुचे वही हिंसा है।

आज सारा ससार अशान्ति के कगार पर खडा है। उसका कारण हिंसा है। आज महावीर के उपदेश अहिंसा का ससार के समस्त प्राणी माने तो अनेक देशो मे हो रहे युद्ध बद हो जाये जिससे कि जो धन विनाशकारी युद्ध के हथियारो, रक्षा पर खर्च समाप्त हो जाये और वह धन लोगो की भलाई के लिए लगाया जा सकता है। देशो के भीतर अनेक दगे होते हैं वे समाप्त हो जाये जिससे कि व्यर्थ मे ही अनेक आदमियो की हत्या हो जाती है, बेघरबार हो जाते है, जो आदमी रोज कमाता है रोज खाता है वह दगे होने के कारण नही कमा पाता जिससे वह खा नही पाता है।

भारत मे आज वन्य जीव जन्तु कम होते जा रहे है इसका कारण है शिकार यानि हिसा। आज अहिंसा के उपदेश को ससार के समस्त प्राणी मानें तो जो बेगुनाह जानवरो का शिकार किया जाता है, मास खाया जाता है वह बद हो सकता है और समाज को पशुधन से काफी आर्थिक लाभ हो सकता है। मास से खाने से जो जानवर की बिमारी हो जाती है वह अगर कोई मास नहीं खायेगा तो वे बीमारिया नही होगी।

अतएव आज ससार मे महावीर के उपदेशो मे खासकर अहिसा काफी जनहितकारी है। इससे हमे काफी लाभ हो सकता है।

अपरिग्रह हम कोई गड्ढा खोदते हैं तो एक तरफ मिट्टी का ढेर लग जाता है दूसरी ओर गड्ढे

मे मिट्टी का सकट आ जाता है। आज लोगों मे सग्रह की प्रवृति बढ़ती जा रही है। जिससे एक ओर तो आवश्यकता से अधिक होता जा रहा है दूसरी ओर लोगों का नसीब नही हो रहा है।

भगवान महावीर ने कहा कि अपनी आवश्यकताओ को सीमित रखो। जितनी आवश्यकता हो उतना ही सचय करो। हम आज इस उपदेश को माने तो जो ब्लैक हो रहा वह समाप्त हो जाएगे। एव प्रत्येक आदमी को अपनी आवश्यकता अनुसार वस्तुए उपलब्ध हो सकेगी।

महावीर का द्वितीय उपदेश अपरिग्रह था जो काफी जनहितकारी है।

सत्य हमे सदा सत्य बोलना चाहिए। झूठ नहीं बोलना चाहिए। आज महावीर भगवान के उपदेश को माने तो बेइन्साफी समाप्त हो सकती है। झूठ बोलने से जो आदमी मे पारस्परिक इर्ष्या होती है वह सत्य बोलने से नही होती है।

ब्रह्मचर्य और अचौर्य के उपदेशो मे महावीर भगवान ने यह बताया कि हमे सयम से रहना चाहिए। किसी दूसरे को देखकर ईर्षा नही करनी चाहिए। सारे समाज के मगल की कामना करनी चाहिए। भगवान महावीर ने व्यक्ति के समाज से दायित्व क्या है उसे बताया वह उसे हमें निभाना चाहिए।

भगवान महावीर ने ससार मे होने वाले सब दुखो को आज से $2\frac{1}{2}$ हजार पूर्व दूर किया लेकिन उनके उपदेश आज $2\frac{1}{2}$ हजार वष बाद हमे जरूरत है विश्व शान्ति के लिए।

भगवान महावीर के जीवन की यही साथकता है कि हम उनके जीवन से उनके गुणो को हमारे जीवन मे उतारे। महावीर भगवान मे प्रथम तीर्थ कर ऋषभनाथ का योग, नेमीनाथ की करुणा, पार्श्वनाथ की सहिष्णुता आदि हमे सब अच्छे गुण महावीर स्वामी मे देखने को मिलते हैं। महावीर स्वामी ने यज्ञों आदि धार्मिक कुरुतियो जिनमें जीव हत्या आदि को समाप्त इसलिए नही करवाया कि वे वैदिक परम्परायें थी बल्कि पशुधन वन सम्पदा, उस समय की आधार थी। भगवान महावीर ने यह कहा कि वे किस धर्म के बारे में कह रहे है। भगवान महावीर ने "जीओ और जीने दो" कहा अर्थात् स्वय भी जिओ किसी दूसरो को कष्ट पहुचा कर या हिंसा करके नही अपितु साथ साथ स्वय भी जीओ व दूसरे को भी जीने दो। भगवान महावीर ने कहा कि स्याद्वाद अर्थात जितनी अपनी बात कहने का अधिकार है उतना ही किसी दूसरे को बात सुनने का भी। महावीर भगवान ने कहा– कि हम जो कार्य सोचे उसे पूर्व भी करने के प्रयत्न करना चाहिए। महावीर स्वामी ने स्त्री पुरुष के भद मिटाने के लिए उन्होने स्त्रियो को दीक्षा दी। महावीर स्वामी ने अमीर-गरीब, जात पात, स्त्री-पुरुष आदि के भेद मिटाने के लिए काफी प्रयत्न किये। महावीर स्वामी ने अपने विशाल वैभव को 30 वर्ष की आयु में छोडकर (त्यागकर) दीक्षा ली इसका यह प्रसग है कि प्राप्त करने से अधिक आनन्द आता है। आज अगर हम प्राप्त करने के स्थान पर त्याग दें तो सारा सघर्ष समाप्त हो जायगा।

आज हमारे लिए महावीर के उपदेश काफी जनहितकारी है। महावीर स्वामी ने जो कुछ कहा है उसका काफी गहराई तक निष्कर्ष निकलता है। आज हमारे का शाति के मार्ग पर जाना चाहते हो तो हमे महावीर स्वामी के बताये हुए उपदेशो पर चलना चाहिए महावीर स्वामी के उपदेश काफी उपयोगी व जनहितकारी है। 卐

सेठजी को फिक्र थी, एक से दस कीजिए।
मौत आ पहुची कि हजरत, जान वापिस कीजिए।

भगवान् महावीर का जीवन

❀ सुश्री कनकलता बैंद, धर्मालंकार

ईसा से लगभग 600 वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन माता त्रिशला के गर्भ से कुण्डल-पुर नामक ग्राम मे भगवान् महावीर का जन्म हुआ। जिस समय भगवान् महावीर ने जन्म लिया, समाज मे हिंसा का बोलबाला था। अज्ञान रूपी बादल समाज के चारों ओर मडरा रहे थे, शासको का अगर कोई सिद्धान्त शेष था तो वह था, 'जीवो जीवस्य भोजनम्' अर्थात् एक जीव ही दूसरे जीव का भोजन है। इस प्रकार जो धर्म प्राणी-मात्र के सुख, शाति तथा कल्याण के लिए था वही हिंसा, विषमता और प्रताडन का अस्त्र बना हुआ था।

जन्म से ही भगवान् महावीर का हृदय दीन-दुखियो को देखकर व्याकुल हो जाता था। जब तक वे उन दुखियो के दुखो को दूर नही कर देते उन्हे शाति नही मिलती थी। वे समदर्शी थे। इस कारण भगवान् महावीर की कीर्तिगाथा पवन की भाति सम्पूर्ण भारत मे फैल गयी। वे दूज के चन्द्रमा के समान दिन प्रति बढकर कुमार अवस्था मे प्रविष्ट हुये।

एक समय की घटना भगवान् महावीर अपने मित्रो के साथ एक वृक्ष पर चढने उतरने का खेल खेल रहे थे। उसी समय सगम नामक एक देव भयकर सर्प का रूप धारण कर फुकार करता हुआ वृक्ष के चारो ओर लिपट गया। सर्प की भयकरता देखकर कुमार के सब मित्र वृक्ष से कूद कर घर भाग गये। पर कुमार ने अपना धैर्य नही छोडा। वे इसके विशाल फण पर पाव देकर खडे हो गये और आनन्द से उछलने लगे। उनके साहस से प्रसन्न होकर देव, सर्प का रूप छोड अपने असली रूप मे प्रकट हुआ और महावीर की स्तुति करने लगा। तभी से आपको महावीर नाम से जाना जाता है।

धीरे-धीरे भगवान् जवान हो गये। एकदिन सिद्धार्थ ने महावीर से कहा पुत्र! अब तुम पूर्ण युवा हो गये हो, मैं तुम्हारा विवाह कर तुम्हे राज्य भार सौप कर दीक्षा ग्रहण करना चाहता हू। पिता के ये वचन सुनकर महावीर ने कहा—पिताजी, जिस ससार से आप बचना चाहते है, उसमे मुझे क्यो फसाना चाहते है। आप मुझे आज्ञा दीजिये जिससे मैं जगल मे जाकर, वहा के शात वातावरण मे रहकर आत्म ज्योति को प्राप्त कर, जगत् का कल्याण करू।

पिता और पुत्र का यह सवाद सुन माता त्रिशला व्याकुल हो उठी। उसकी आखो के सामने अ घेरा छा गया और वह बेहोश हो गई। जब वह होश मे आई तो महावीर ने उन्हे ससार की

प्रसारता के बारे मे समझाया, तब माता ने उन्हे खुशी से दीक्षा लेने की आज्ञा दे दी।

भगवान् महावीर के दीक्षा ग्रहण के समय देवगण जय–जयकार करते हुए आकाश मार्ग से कुण्डलपुर आये। वहा उन्होने भगवान् का दीक्षा-भिषेक किया। वे सुन्दर आभूषण धारण करने के पश्चात् देव निर्मित चन्द्रप्रभा पालकी पर सवार होकर वन मे आये और वहा अगहन बुदी दशमी के दिन 'ॐ' नम सिद्धेभ्य,' कह कर वस्त्रादि त्याग कर आत्म ध्यान मे लीन हो गये।

तत्पश्चात् एक दिन भगवान महावीर उज्ज-यिनि के अतिमुक्तक नामक श्मशान मे गये और प्रतिमा योग धारण कर वही विराजमान हो गये। उन्हे वहा देखकर महादेव रुद्र ने उनके धैर्य की परीक्षा चाही। उसने बेताल विद्या के प्रभाव से रात्रि के अन्धकार को अत्यधिक सघन बना दिया। तदनन्तर मायामयी सप, सिह, हाथी और अग्नि आदि के साथ लम्बी सेना बनाकर आया और कठोर उपसर्ग किये। किन्तु भगवान महावीर आत्मध्यान से तनिक भी विचलित नही हुए। महावीर के इस अनुपम धैर्य को देखकर महादेव रुद्र अपने असली रूप मे आये और भगवान् से क्षमा याचन

जृम्भिका गाव के समीप ऋजुकूला नदी पर, मनोहर नाम के वन मे सागोन वृक्ष के नीचे भग-वान महावीर ध्यानस्थ थे। वही पर उन्हे केवल-ज्ञान को प्राप्ति हुई। देवो ने आकर ज्ञान कल्या-णक का उत्सव मनाया और समवशरण की रचना की।

इन्द्रभूति जिसका अमर नाम गौतम था, उनका पहला गणधर बना। इसके पश्चात् इनके वायुभूति, अग्नि, सुधर्म, मौर्य, मौन्द्रय, पुत्र, मैत्रेय, अकम्पन, अन्धेबल और प्रभास इस प्रकार दस गणधर और बने। भगवान् की दिव्यध्वनि खिरी।

इनके समवशरण मे तीन सौ ग्यारह द्वादशांग के वेत्ता, 9 हजार 9 सौ शिक्षक थे,तेरह सौ अवधि ज्ञानी थे, सात सौ केवल ज्ञानी, ५०० मन पर्यय ज्ञानी, नौ सौ विक्रियावृद्धि धारक, चार सौ अनु-त्तरवादी, 36000 साध्विया थी, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाए थी, असख्यात देव-देविया और सख्यात तिर्यच थे। इन सबको उन्होने नय प्रमाण और निक्षेपो से वस्तु का स्वरूप बतलाया।

इसके पश्चात् उन्होने सम्पूर्ण भारत मे घूम-कर धर्म प्रचार किया। भगवान महावीर ने सर्वप्रथम धार्मिक जडता और आर्थिक अपव्यय को रोकने के लिए यज्ञो का विरोध किया, जिसमे प्रत्येक मानव के दिल मे यज्ञ विरोध इतना विक-सित हो गया कि पशु यज्ञो का सिर्फ नाम ही शेष रह गये।

भगवान् महावीर ने विचारो मे अनेकान्त, जीवन मे अहिंसा वाणी मे स्याद्वाद व समाज मे अपरिग्रह व पाच अणुव्रतो जैसे अनुपम सिद्धान्तो के द्वारा अज्ञानी प्राणियो का दिशा बोध किया, जो आज भी आकाश दीप की भाति मानव का पथ प्रदर्शन कर रहे हैं।

जीवन के अन्तिम वर्षों मे भगवान् महावीर पावापुरी आये और वहा ध्यान मे लीन हो गये। और अपने ध्यान की तल्लीनता के कारण, अघातिया कर्मो का नाश कर, कार्तिक वदी अमावस्या के दिन प्रात काल 70 वर्ष की अवस्था मे मोक्ष की प्राप्ति हुई। देवो ने आकर निर्वाण की पूजा की और उनके गुणो की स्तुति की।

कलमगीर का नमन

❀ श्री तारादत्त निर्विरोध, जयपुर

सर्वोदय के, स्याद्वाद के
महा प्रवर्तक,
अपरिग्रह वृत्ति के उन्मेषक
सिद्धार्थपुत्र
त्रिशला की ममता के धन
बचपन के 'वर्धमान'
औ' ज्ञानकोष के 'सन्मति'
सत्य अहिंसा मानवता के
हे क्रांतिदर्शी

निर्भीक साहसी
सकल मुक्ति के अमर समर्थक
श्रद्धा और जगत निष्ठा के
केन्द्र सुचिर हे,
महावीर अन्तिम तीर्थङ्कर
तुम्हे नमन है,
कलमगीर की श्रद्धा का यह
अर्पित तुम को भाव सुमन है !

होगा नया सुधार

अगर चाहता जो समाज का, सचमुच मे उत्थान हो ।
धर्म सस्कृति मानवता का और अधिक निर्माण हो ।।
तो उसको है 'सरस' लाजमी ऐसा नूतन मोड ले ।
जो दहेज लेता हो उससे हाथ मिलाना छोड दे ।।
ऐसा विवश करे वह खुद ही हो जाए लाचार ।
तभी देश के जन जीवन मे होगा नया सुधार ।

—श्री सरस

कला, संस्कृति और साहित्य

राजस्थान में शोषण मुक्ति के लिए प्रयास

* ३५ लाख एकड़ कृषि भूमि का निःशुल्क आवंटन व संरक्षण ।
* रहन रखी भूमि लौटाई गई ।
* काम-धंधो व मकान बनाने के लिए आर्थिक सहायता ।
* सहकारी समितियो मे सदस्यता को प्राथमिकता ।
* तीन हजार से अधिक खनिज पट्टे वितरित ।
* साहूकारो के ऋणो व सागडी प्रथा से मुक्ति व पुनर्वास की व्यवस्था ।
* आठ लाख १६ हजार आवासीय भू-खण्डो का आवंटन ।
* बालक-बालिकाओं के लिए शिक्षा सुविधायें व रोजगार ।

चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में १२ वर्ष का उत्तर भारत में भीषण अकाल तथा जैन सन्त भद्रबाहु का अपने शिष्यों सहित दक्षिण में पलायन अब एक स्वीकृत ऐतिहासिक तथ्य है। उनके वहाँ पहुंचने के पश्चात् अपनी परम्परानुसार उन्होंने वहाँ की तत्कालीन लोक भाषा तामिल को अपनी कृतियों से समृद्ध किया। उन्होंने प्राय प्रत्येक विषय पर अपनी लेखनी चलाई। उनमे से व्याकरण, छन्दशास्त्र तथा शब्द कोष सम्बन्धी कतिपय जैन तमिल रचनाओ का सक्षिप्त परिचय इस निबन्ध मे है। लेखक 'तमिल कोविद' हैं अत इस विषय पर अपनी लेखनी अधिकारपूर्वक चलाने मे सक्षम हैं।

—प्र सम्पादक

तमिल भारती को जैन मनीषियों का योगदान

श्री रमाकान्त जैन, बी. ए, सा. र, **तमिल-कोविद, लखनऊ**

तमिलनाडु की तेन मौलि अर्थात् मधु की भाति मधुर भाषा तमिल की उत्पत्ति का श्रेय मलय पर्वत पर निवास करने वाले आचार्य पोदिय मलै अगत्तियार (अगस्त्य ऋषि) को दिया जाता है और उनकी कृति 'अगत्तियम्' को तमिल का आदि व्याकरण माना जाता है, किन्तु वह अनुपलब्ध है। तमिल भाषा की जो प्राचीनतम कृति अब उपलब्ध है वह है 'तालकाप्पियम्'। सयोग से यह एक व्याकरण ग्रन्थ है जिसमे वर्ण, शब्द और अर्थ के विषय में तीन भागो मे विचार किया गया है। ग्रन्थ के तृतीय भाग मे शब्दो के अर्थों पर विचार करते समय छन्द, अलकार, तत्कालीन रीति रिवाज सम्प्रदाय, युद्ध नीति, राजनीति, तमिलनाडु की भौगोलिक स्थिति इत्यादि विविध विषयो का भी विस्तृत विवेचन हुआ है। इस व्याकरण ग्रन्थ के रचयिता तोलकाप्पियर माने जाते हैं। कुछ लोगो का कहना है कि वह अगस्त्य ऋषि के शिष्य थे। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना मे समकालीन विद्वान पनमपारणार ने इसे 'ऐन्द्र निरैन्द" अर्थात् सस्कृत व्याकरण 'ऐन्द्र' जो एक जैन कृति है का निचोड कहा है और पाण्ड्य सभा मे पढ़े जाने के उपरान्त इसे अडङ्कोट्टाशन द्वारा मान्य किये जाने की बात कही है। पनमपारणार ने तोलकाप्पियर के लिये पल-पुगल निरूत्त पडिमैयोन (अर्थात् महान प्रसिद्ध प्रतिमा योगी) विशेषण प्रयुक्त किया है। इस व्याकरण ग्रन्थ के 'मरवियल' नामक विभाग मे जीवो का जो वर्गीकरण किया गया है वह जैन सिद्धान्त के अनुसार है। इस व्याकरण ग्रन्थ पर पाणिनी की अष्टाध्यायी की भाति प्राचीनकाल से ही टीकाए लिखी जाती रही हैं और आधुनिक काल मे भी तमिल के प्रकाण्ड पडितो द्वारा सम्पादित इसके विभिन्न अधिकार (भाग) प्रकाशित हुए हैं।

अगत्तियम् और तोलकाप्पियर् की परम्परा मे उनके ज्ञाता और सस्कृत के जैनेन्द्र व्याकरण से

परिचित भवनन्दी मुनि ने दसवीं शती ईस्वी के लगभग 'नन्नूल' नामक एक अन्य व्याकरण ग्रन्थ मे केवल वर्णों और शब्दो पर पाच अध्यायों मे विचार किया गया है। तमिलजनो मे लोकप्रिय इस व्याकरण ग्रन्थ पर जो टीकाए रची गई उनमे सर्वाधिक महत्वपूर्ण टीका जैन वैयाकरणी मलैनाथर की है और वर्तमान काल मे इसके जो सस्करण प्रकाशित हुए हैं उनमे सुसम्पादित सस्करण डा वी स्वामीनाथ अय्यर का माना जाता है।

इसके उपरान्त तमिल व्याकरण ग्रन्थो की शृखला मे पाण्डी मण्डलम् मे पोरुणै नदी के तट पर अवस्थित पुलियनगुडि के निवासी जैन विद्वान नावीनयनार ने 'तोलकाप्पियम्' के पोरुलइलक्कणम्' के आधार पर 'अगप्पोरुलविलक्कम्' नामक व्याकरण ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ मे रचयिता ने, जो चार भिन्न प्रकार की काव्य रचनाओ मे सिद्धहस्त होने के कारण 'नार कविराय' के नाम से विख्यात थे, प्रेम तथा तत्सम्बन्धी अनुभवो की मानसिक अनुभूतियो का सुन्दर विवेचन किया है।

व्याकरण के साथ-साथ छन्द शास्त्र विषय मे भी जैन विद्वानो ने तमिल भारती की अभिवृद्धि की है। लगभग 1010 ई० मे हुए जैन विद्वान अमृतसागर ने 'याप्परूगलक्कारिकै' तथा याप्परूगलविरुत्ति' नामक छन्द शास्त्रो की रचना की। 'याप्परूगलक्कारिकै' के सम्बन्ध में कुमारस्वामी पुलवर ने टीका रची और उसे रामस्वामीगल तथा अम्बर वन पिल्लै ने सम्पादित और प्रकाशित किया है। 'याप्परूगलविरुत्ति' का सम्पादन एस भवनन्दम् पिल्लै ने किया है। इस छन्द शास्त्र मे जहा प्राचीन और विशुद्ध तमिल छन्दो का विवेचन हुआ वहा कलितुरै और विरुत्तम जैसे नवीन छन्दो का भी विश्लेषण किया गया और एक से लेकर उन्तीस पक्तियो तक के विभिन्न छन्दो के 96 उदाहरण दिये गये। तमिल छन्द शास्त्र पर उपलब्ध यह प्राचीनतम ग्रन्थ है।

जैन विद्वान उदीचिदेव की भक्ति रचना 'तिरुक्कलम्बगम्' तमिल की एक विशिष्ट काव्य शैली कलम्बगम्' का अन्यतम उदाहरण है जिसमे भिन्न भिन्न छन्दो मे निबद्ध पदो का मिश्रण कुशलतापूर्वक प्रस्तुत किया गया है। इस रचना मे जैन धर्म के अतिरिक्त तत्कालीन अन्य धर्मों यथा बौद्ध आदि के सिद्धान्तो का भी विवेचन किया गया है। अत धार्मिक सिद्धान्तो के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से भी इस रचना का महत्व है।

तमिल शब्द कोषो के निर्माण मे भी जैन विद्वानो ने अपना योग दिया। दिवाकर मुनि ने 'दिवाकर निघण्टु' पिंगल मुनि ने 'पिंगल निघण्टु' और मण्डलपुरुष ने चूडामणि निघण्टु की रचना की। इन शब्दकोषो में विरुत्तम छन्द मे 12 अध्यायो मे रचित 'चूडामणि निघण्टु' का गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे बडा प्रचार हुआ। सन् 1870 ई० से सन् 189 ई० के मध्य 22 वर्षों मे ही इस निघण्टु के सम्पूर्ण भाग अथवा भाग विशेषो के 26 सस्करण प्रकाशित हुए। इस निघण्टु मे जिनसेनाचार्य के शिष्य गुणभद्र का उल्लेख होने से यह उनके पश्चात् अर्थात् 9वी शती ईस्वी के उपरान्त की कृति है।

गणित, ज्योतिष और सामुद्रिक शास्त्र जैसे विषयो पर भी जैन विद्वानो ने तमिल भारती के भण्डार को भरा, किन्तु अधिकाश कृतिया काल गर्भ मे समाहित हो गई। फिर भी जो उपलब्ध हैं उनका अपना महत्व है। यदि पुराने परम्परागत ढग से हिसाब किताब रखने के अभ्यस्त तमिल व्यापारी 'एण्कुवडि' नामक गणित पोथी से आरम्भिक शिक्षा ग्रहण करते हैं तो तमिल ज्योतिषी प्रारूढ अर्थात् भविष्यवाणिया करने के पूर्व 'जिनेन्द्र मालै' का अभ्यास करते हैं।

राजस्थान जहां अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध है वहां कला की दृष्टि से भी वह किसी प्रान्त से पीछे नहीं है। जैन कला का विकास भी यहां अपनी चरम सीमा पर है। आबु और रणकपुर की जैन स्थापत्य कला विश्व प्रसिद्ध है। राजस्थान की भू पू रियासत तथा वर्तमान में जिला जैसलमेर का स्थापत्य भी इनसे बराबर की होड़ लेता है। यहां के लौद्रवा के जैन मंदिरों की कला अपने आप में अनुपम है। इस ही शिल्प का विस्तृत विवेचन चित्रों सहित सम्माननीय लेखक ने अपने इस निबन्ध में प्रस्तुत किया है।

प्र० सम्पादक

जैसलमेर का जैन शिल्प

श्री कुन्दन लाल जैन, प्रिन्सिपल, देहली

जैसलमेर प्राचीन राजस्थान की एक प्रसिद्ध रियासत थी जिसका रकवा लगभग 16062 मील था। यह भारत के सुदूर उत्तरी पश्चिमी कोने में पाकिस्तानी सीमा से लगा हुआ है। जैसलमेर इस लाइन का आखिरी रेल्वे स्टेशन है इससे आगे रेल नहीं है, पाकिस्तानी सीमा यहां से लगभग 100 कि मी दूर है। यद्यपि जैसलमेर एक साधारण सा नगर है पर यहां पुरातत्व इतिहास, शिल्प एवं कला में सम्बन्धित जो सामग्री बिखरी पड़ी है वह निश्चय ही जैसलमेर की प्रतिष्ठा में चार चांद जड़ देती है। यह रेतीला प्रदेश जो पानी के अभाव में सर्वथा सूखा सूखा सा प्रतीत होता है अपने कला, वैभव और पुरातात्विक अवशेषों के कारण कला पारखियों का विशेष आकर्षणीय बन गया है तथा रसगंगा सा सरस आस्वादन प्रदान करता है।

जैसलमेर स्टेशन पर उतरते ही दूर पहाड़ी पर अवस्थित बादामी पत्थर का चमकता हुआ विशाल किला दर्शकों का ध्यान बलात् ही अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। जैसलमेर राज्य की राजधानी पहले लौद्रव नगर थी जो यहां से लगभग 20 कि मी दूर है पर बाहरी आक्रमण से बचाने के लिए सुरक्षा की दृष्टि से सम्वत् 1212 में रावल जैसल (जयशाल) ने इस नगर को बसाया था और इस विशाल किले का निर्माण कराया था। इनकी मृत्यु स 1224 में हो गई थी। किले पर पहुंचने के लिए बीच नगर में से जाना पड़ता है। किले में अब भी आधी आबादी है और लोग दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नीचे आते रहते हैं।

प्रमुख द्वार से आगे चलते ही भव्य राजमहल के दर्शन होते हैं। (चित्र 1 संलग्न) है जिसके प्रस्तर खण्डों की कलापूर्ण कटाई खिड़कियों एवं जाली झरोखों की नक्काशी बड़ी ही मनोहारी लगती है। यहां महारावल लक्ष्मणजी महाराज के राज्यकाल में जैनियों का बड़ा वर्चस्व था। वे जैन साधुओं के प्रति बड़े श्रद्धावान् थे। उन्हीं की कृपा से यहां कई विशाल कलापूर्ण जैन मंदिरों का निर्माण हो सका जो पुरातत्व, शिल्प, इतिहास एवं

कला की महत्वपूर्ण धरोहर हैं। इनका सौन्दर्य वैभव लेखनी से नहीं लिखा जा सकता यह तो स्वय ही देखने की वस्तु है, इन्हे देखकर जो तृप्ति, असीम आनन्द एव सुख शाति की अनुभूति होती है वह भुक्तभोगी ही जान सकता है अन्य को दुर्लभ है।

सर्व प्रथम चिन्तामणि पार्श्वनाथ का मदिर है जिसकी नीव खरतरगच्छीय आचार्य जिनराज सूरि के उपदेश से सागरचद सूरि ने स 1459 में रखी थी और चौदह वर्ष के लगातार परिश्रम और सतत अध्यवसाय के बाद स 1473 मे बनकर तैयार हुआ जिसकी प्रतिष्ठा जिन चद सूरि महाराज ने कराई थी। इस मदिर मे इस आशय का एक शिलालेख दीवार मे जडा हुआ है जिसकी लम्बाई 2 फुट $6\frac{1}{2}$ इच तथा चौडाई 1 फुट $3\frac{1}{2}$ इच है। इसमें 27 पक्तियाँ हैं। जिसके कुछ श्लोक निम्न प्रकार हैं।

नवेषु वार्द्धीदुमितेथ वर्षे निदेशत श्री जिन
राज सूरे.।
अस्थापयत् गर्भगृहक्षेत्रविम्ब मुनीश्वरा
सागरचन्द्र सारा।2।

तेषा श्री जिन वर्द्ध नाभिध गणाधीशाँ समादेशत॰।
श्री सघो गुरुभवित युक्ति नलिनी लीलन्भरालोपम्।
सम्पूर्णी कृतवानमु खरतर प्रासाद चूडामणि।
त्रिद्वीपा बुधि यामिनी पति मित सवत्सरे
विक्रमात्।23।

अकनोऽपि सवत् 1473 तन्नगर जिनेशभवन।
यत्रेदमालोक्यन्ते स श्लाध्य कृतिना महीपति
रिदराज्ये यदीयेऽजनि।
येनेद निरमायि सौध विभवैर्बन्य स सघ क्षितौ।
तेभ्यो धन्यतरास्तु ते सुकृतिन पश्यन्ति येद
सदा।24।

उपर्युक्त विस्तृत प्रशस्ति वाले शिलालेख मे जैसलमेर राज्य की राज वशावली का बडे विस्तार से वर्णन किया गया है जो इतिहास के शोधार्थियो के लिए बडी महत्वपूर्ण सामग्री है। जैनाचार्यों की पट्टावली तथा श्रावक श्राविकाओ का भी उल्लेख है।

उपर्युक्त जिनालय के समीप ही सभवनाथ जी का मदिर है जिसे साह हेमराज पूना ने स 1494 मे बनवाना प्रारम्भ किया था जिसमे तत्कालीन शिल्पियो ने अपनी कलापूर्ण पैनी छैनियो द्वारा प्राण प्रतिष्ठा करते हुए तीन वर्ष के कठोर परिश्रम के बाद स 1497 मे परिपूर्ण किया था। इसकी प्रतिष्ठा श्री जिनभद्र सूरि ने कराई थी।

इसके पास ही दूसरा मदिर भगवान महावीर स्वामी का है जिसकी प्रतिष्ठा सा॰ दीपा बरडिया ने स 1473 मे कराई थी। इसी के पास शीतलनाथ जी का मदिर है जिसकी प्रतिष्ठा स 1479 में डागा गोत्रिय सेठियो ने कराई थी। पास मे ही चन्द्रप्रभु का मदिर है जिसकी प्रतिष्ठा भणशाली गोत्रिय सा॰ वोदा ने स 1509 मे कराई थी, पास ही शातिनाथ के मदिर की प्रतिष्ठा स 1536 मे सखवालेचा और चोपडा गोत्रिय सेठो ने कराई थी इस समय जिन समुद्र सूरि आचार्य उपस्थित थे और इस समय यहा की राजगद्दी पर महारावल देवकरणसी विराजमान थे। इसके पास ही ऋषभदेवजी के मदिर की प्रतिष्ठा स 1536 मे हुई थी।

उपर्युक्त सभी मन्दिर पत्थर के बने हुए हैं और इन प्रस्तरखडो पर कैसा अनूठा शिल्प वैभव बिखरा पडा है कि देखते ही बनता है। इन्हें देखकर खजुराहो, देलवारा, रणकपुर के शिल्प वैभव फीके से लगने लगते हैं। बडे खेद की बात है कि कला के एसे श्रेष्ठ नमूनो से अभी भी कला जगत अपरिचित पडा है जिसके लिए हम जैनियो की रूढिवादिता अत्यधिक जिम्मेदार है। जब हमने इन स्थलो के फोटो चित्र उतारना चाहे तो हमें रोक दिया गया और पेढ़ी से सपर्क स्थापित करने को कहा गया पर जब पेढो पर गये तो न तो वहां से कोई सामग्री ही उपलब्ध हो सकी और न ही

जैसलमेर का राजमहल

लोद्रवा जैन मन्दिर का अष्टापद कल्पवृक्ष

अनुमति मिल सकी जिसका बडा क्षोभ रहा और कला के ऐसे महत्वपूर्ण खजाने से हम खाली हाथ ही लौटे। यहीं एक मन्दिर मे कुछ प्राचीन वस्त्र रखे हैं जिसके विषय मे किवदन्ती है कि ये वस्त्र जिनचद सूरीजी महाराज के है जो उनके दाह के समय भी नही जले थे। यही उनका समाधिस्थल भी है।

लोद्रवनगर— जैसलमेर से लगभग 20 कि मी दूर लौद्रवनगर है जिसे लौद्रवा भी कहते हैं यह लौड (लौद्र) राजपूतो की राजधानी थी। स० ५00 मे भाटी देवराज ने इसे राजपूतो से छीनकर प्रथम रावल की उपाधि धारण की थी। चू कि लौद्रवा सुरक्षा की दृष्टि से बडा कमजोर था अत स० 1212 मे इस राज्य की राजधानी यहा से उठाकर जैसलमेर मे स्थापित की गई थी। फिर भी कला और सस्कृति का विकास यहा बराबर चालू रहा। आज भी यहा उच्चकोटि के तक्षक विद्यमान है जो प्राचीन कलाकृतियो की अनुकृतिया तैयार कर प्राचीन वैभव को नवीनता प्रदान कर रहे हैं।

सत्रहवी सदी मे यहा थाहरूसाह भणशाली बडा ही प्रभावशाली प्रतिष्ठित धार्मिक श्रेष्ठी हुआ था जिसने पचमेरू की भाति पाच मदिरो की स्थापना स० 1675 मे कराई थी इनमे से दो मदिरो मे सहस्रफणी पार्श्वनाथ की दो प्रतिमाए बडी ही महत्वपूर्ण एव कला सयुक्त है। प्रत्येक फणावली मे हजार हजार सर्पफण बने हुए है जो सचमुच ही कलाकार की उत्कृष्ट प्रतिभा के नमूने हैं। कहते हैं जिस शिल्पी ने ये श्याम वर्ण पार्श्वनाथ की अनुपम प्रतिमाएँ घडी थी उससे थाहरू साह बडा प्रभावित हुआ था अत. पुरस्काररवरूप थाहरूसाह उस शिल्पी को अपने साथ शिखरजी, शत्रु जय आदि की यात्रा के लिए ले गए थे और जिस रथ से इन दोनो ने यात्रा की थी वह रथ आज भी लौद्रवनगर के मन्दिर मे सुरक्षित रखा है। उस शिल्पी ने अपनी सम्पूर्ण कला प्रतिभा द्वारा केवल ये दो प्रतिमाएं ही घडी थी। इस मन्दिर मे जो शिलालेख है वह निम्न प्रकार है—

श्रीसाहिगुं ण योगतो युगवरे त्यच्छ पद
दत्तवान् ।
येभ्य श्रीजिनचन्द्रसूर पट्ट विख्यात सत्कीर्तय।
तत्पट्टे मित तेजसो युगवरा' श्रीजैन सिंहाभिधा
तत्पट्टाबुजभास्करा गणधरा श्रीजैनराजा
श्रुता. ॥1॥

तैर्भाग्योदय सुदरै. रिपुसरस्वत्षोडशाब्दे
(1675) सितद्वादश्यां।
सहसा प्रतिष्ठितमिद चैत्य स्वहस्तश्रिया।
यस्य प्रौढतर प्रताप तरणे श्रीपार्श्वनाथेशितु।
सोऽय पुण्यभरा तनोतु विपुला लक्ष्मी जिन
सर्वदा ॥2॥

पूर्व श्रीसगरो नृपोऽभवदलकारोन्वये यादवे।
पुत्रौ श्रीधरराजपूर्णकधरौ तस्याथताम्याक्षितौ।
श्रीमल्लौद्रपुरे जिनेशभवने सत्कारित खीमसी।
तत्पुत्रस्तदनुक्रमेण सुकृतीजात सुत पूनसी।3।

तत्पुत्रोवरधर्म्म सद्गुणै श्रीमल्लस्तनयोथ तस्य
कर्मणिरत ख्यातोऽखिलं सुकृती श्री थाहरू
नामक।
श्रीशत्रु जयतार्थ सघ रचना दी 'युत्तमानिघ्नुण।
य कार्याण्यकरोत्तथा स्वसरफी पूर्णा प्रतिष्ठा
क्षणे।4।

प्रादात्सर्वजनाय जैन समय चालेखयत पुस्तक।
सर्व पुण्यभरेण पावनमल जन्म स्वकीय
सुभयतस्य।
यस्य जिनपत्योद्धारक व्यधात तेन कारित।
सार्द्धं सद्धरराज मेघतनयाभ्या पार्श्वनाथो
मुदे ॥5॥

शतदल कमल यत्र

इसी मदिर मे शिल्पकला मर्मज्ञ धर्मपरायण धनाढ्य लोगो के शिल्प प्रेम का एक सुन्दर नमूना शत दल पद्मयत्र है जो एक विशाल प्रस्तर खड पर

उत्कीर्ण है इसमे साहित्यिक अलकरण का सुन्दर परिचय दिया गया है भगवान पार्श्वनाथ की स्तुति के 25 श्लोको के 100 चरण है। जिनकी समाप्ति मयाम से होती है उसे बीच गोले मे उकेरा गया है और 30 मयाम को केन्द्र मानते हुए 100 पखुडियो मे उपर्युक्त स्तुति के 100 चरण उकेरे गए हैं इस तरह यह शतदल पद्मयन्त्र यहा का बहुत ही बडा महत्वपूर्ण शिल्प है । यही लौद्रवनगर मे मदिर के पास अष्टपदी कल्पवृक्ष भी एक अनुपम कलाकृति है जो यहा के शिल्पियो ने घढी थी। (चित्र सलग्न है) । यहा छोटे बडे मिलाकर कुल 480 शिलालेख उपलब्ध है जिनमे सबसे पुराना स० 1109 का निम्न प्रकार है "ऊ सौहिक पलया मालिकया देवीभूति कारिता" यहासे बहुतसे लेखो मे थाहरु साह का उल्लेख मिलता है उनकी लघुभार्या सुहागदे तथा बडी भार्या कनकादे का नामोल्लेख है इन्होने स० 1693 मे प्रतिष्ठा कराई थी। इनके पुत्र का नाम हरराज लिखा हुआ मिलता है। थाहरु साह राज्य के कोषाध्यक्ष थे। स० 1891 मे यहा एक बडी विशाल रथयात्रा हुई थी जिसका विस्तृत विवरण पठनीय है यह वाफणा हिम्मतरामजी के मदिर मे शिलाखड पर उत्कीर्ण है जो राजस्थानी भाषा मे है। यहा के ओसवालो का पटुआ वश बडा प्रसिद्ध रहा है इनका आदि गोत्र वाफणा था। इन पटुओ की बनवाई हवेलिया जैसलमेर मे विद्यमान है जो अपनी बारीक खुदाई और जाली कटाव के लिए कला जगत मे बहुत ही प्रसिद्ध हैं। विदेशी कला पारखी इन्हे देखकर हर्ष विभोर हो उठते है। अब इन सब हवेलियो को भारतीय पुरातत्व विभाग ने अपने अधिकार मे ले लिया है। यहा सात शास्त्रभडारो का उल्लेख मिलता है जिनमे ताडपत्रीय तथा अन्य पाण्डुलिपिया विद्यमान है।

जैसलमेर और लौद्रवनगर के बीच अमरसागर नामक एक बडी विशाल गहरी झील विद्यमान है जिसमे जैसलमेर शहर को पेयजल पहुचाया जाता है। इसके किनारे गणेशजी का एक प्राचीन मन्दिर है झील के दूसरे किनारे पर भ आदिनाथ का एक विशाल प्रस्तर जिनालय विद्यमान है जो कला और इतिहास दोनो ही दृष्टि से बडा ही महत्वपूर्ण है।

इस तरह जैसलमेर जैन शिल्प का अटूट अपार भडार है पर इस बहुमूल्य वपौती से बहुत से लोग अपरिचित हैं। जिन्हे बोध कराना हम सबका पुनीत कर्तव्य है। इसके अतिरिक्त भी यहा बहुत सी सामग्री एव सास्कृतिक विरासत पडी है जिसका विवेचन करना यहा प्रासगिक न होगा।

मुक्तक

इधर चलती कषायें उधर चलती हाथ मे माला,
है मन मे और कहते और करते और कुछ लाला
अरे महावीर के अनुयायियो अब तो जरा चेतो—
तुम्हारे आचरण ने धर्म को बदनाम कर डाला

--काका बुन्देलखण्डी

राम कथा की सीता एक महत्वपूर्ण पात्र है। भारत की सन्नारियों में उसका एक विशिष्ट स्थान है। जैनो ने भी सीता को महासती के रूप में स्वीकार किया है। उसके जीवन चरित्र के सम्बन्ध में जैनेतरों मे ही नहीं जैनों में भी विभिन्न मतमतान्तर हैं। प्रस्तुत निबन्ध मे विद्वान् लेखक ने उन्ही सब मतों का विशद विवरण प्रस्तुत किया है। आशा है निबंध पाठकों को रुचिकर तो होगा ही उनके ज्ञान मे भी इस सम्बंध मे पर्याप्त वृद्धि करेगा।

प्र० सम्पादक

प्राचीन जैन राम-साहित्य में सीता

* डा० लक्ष्मीनारायण दुबे, सा० रत्न, सागर

जैन राम-साहित्य

जैन वाङ्मय मे विपुल राम कथा तथा राम काव्य मिलता है। जैन राम-कथा सामान्यतया आदि कवि वाल्मीकि मे प्रभावित है। जैन राम साहित्य प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश तथा कन्नड मे मिलता है। यह इसका पुरातन रूप है।

विमल सूरि की परम्परा में निम्नलिखित साहित्य मिलता है —

प्राकृत मे चार ग्रन्थ लिखे गये जिनमे सीता का चरित्र चित्रण सम्यक्रूपेण मिलता है—विमल सूरि का पउमचरिय, शीलाचार्य की रामलक्खण चरियं, भद्रेश्वर की कहावली मे रामायणम् और भुवनतुंग सूरि का रामलक्खणचरिय। संस्कृत मे रविषेण के पद्मचरित आचार्य हेमचन्द्र के जैन रामायण, जिनदास के रामदेव पुराण, पद्मदेवविजयगणि के रामचरित, सोमसेन के रामचरित, आचार्य सोमप्रभकृत लघु-त्रियशलाकापुरुष चरित मेघविजय गणिवर के लघुत्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। अपभ्रंश मे स्वयंभू का पउमचरिउ, रइधू का पद्मपुराण आदि प्रसिद्ध हैं। कन्नड मे नागचन्द्र के रामचरित पुराण, कुमुदेन्दु के रामायण, देवप के रामविजयचरित, देवचन्द्र के रामकथावतार और चन्द्रसागर के जिन रामायण को विस्मृत नहीं किया जा सकता।

जैन सीता-साहित्य

इसी परम्परा मे सीता को लेकर भी कतिपय काव्य लिखे गये थे जो कि विशेष उल्लेखनीय हैं-- भुवनतुंग सूरि का सीया चरित्र (प्राकृत) आचार्य हेमचन्द्र का सीता रावण कथानकम् (संस्कृत), ब्रह्मनेमिदत, शांत सूरि और अमरदासकृत सीताचरित्र (संस्कृत) हरिषेण का सीताकथानक। हस्तिमल्ल ने 'मैथिली कल्याण' नामक नाटक संस्कृत मे लिखा था।

जैन राम कथा की द्वितीय परम्परा के जनक गुणभद्र थे जिनका 'उत्तर पुराण' और कृष्णदास कवि कृत पुण्य चद्रोदय पुराण' सस्कृत में लिखा गया। प्राकृत में पुष्पदत का तिसट्टी-महापुरिस गुणालकार और कन्नड मे चामुण्डराय का त्रिषष्टि शलाकापुरुष पुराण लिखा गया।

जैन रामकथा मे विमलसूरि की परम्परा को अधिक प्रश्रय मिला है। यह श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनो सम्प्रदायो मे प्रचलित है परन्तु गुणभद्र की परिपाटी सिर्फ दिगम्बर सम्प्रदाय में ही मिलती है।

काव्य के अतिरिक्त सीता को लेकर नाटक साहित्य तथा कथा साहित्य भी लिखा गया।

जैन कवि हस्तिमल्ल ने सन् 1290 के आस पास सस्कृत मे'मैथिली कल्याण' को लिखा जिसका विवेच्य विषय शृंगार है। इसके प्रथम चार अको मे राम और सीता के पूर्वानुराग का चित्रण मिलता है। वे मिलन के पूर्व कामदेव मदिर तथा माधवी वन मे मिलते हैं। तृतीय तथा चतुर्थ अक मे अभिसारिका सीता का वर्णन मिलता है। पचम तथा अतिम अक मे राम सीता के विवाह का वर्णन है।

सघदास के 'वसुदेवहिण्डि' मे जैन महाराष्ट्रीय गद्य मे जो रामकथा मिलती है--उसमे सर्वप्रथम सीता का जन्मस्थल लका माना गया है। वह मदोदरी तथा रावण की पुत्री है परन्तु परित्यक्त होकर राजर्षि जनक की दत्तक पुत्री बन जाती है। सीता स्वयवर मे सीता अनेक राजाओ मे से राम का चयन एव वरण करती हैं। सघदास ने गुणभद्र को भी प्रभावित किया था क्योकि 'उत्तरपुराण' मे रावण की वशावली एव सीता की जन्म गाथा पर्याप्त रूप में 'वसुदेवहिण्डि' से सादृश्य रखती है।

जैन राम साहित्य के अग्रदूत -

कालक्रमानुसार प्राचीन जैन राम साहित्य के प्रमुख स्तम्भ निम्नलिखित महाकवि थे--

(क) विमल सूरि-'पउमचरिय' तृतीय चतुर्थ शताब्दी ई०) [ग्रथ प्रशस्ति के अनुसार प्रथम शती वि०स०]। (प्राकृत)

(ख) रविषेण-पद्मचरित' (660 ई०) प्राचीनतम जैन सस्कृत ग्रन्थ (सस्कृत)

(ग) स्वयभू-पउमचरिउ' या 'रामायण पुराण' (अष्टम शताब्दी ई०) (अपभ्रश)

(घ) गुणभद्र- उत्तर पुराण' (नवम शताब्दी ई०) (सस्कृत)

उपरिलिखित ग्रन्थो मे सीता के चरित्र के विविध पक्षो का सम्यक् उद्घाटन मिलता है।

विमल सूरि और गुणभद्र की सीता

विमल सूरि ने सीता-हरण का कारण इस प्रकार विवेचित किया है-शम्बूक ने सूयहास खड्ग की प्राप्ति के हेतु द्वादश वर्ष की साधना की थी। खड्ग के प्रकट होने पर लक्ष्मण उसे उठाकर शम्बूक का मस्तकोच्छेदन कर देते है। चन्द्रनखा पुत्र वियोग मे विलाप करती है। यह राम-लक्ष्मण की पत्नी बनना प्रस्तावित करती है। लक्ष्मण खरदूषण की सेना को रोक देते हैं। रावण सीता पर मुग्ध हो जाता है। वह अवलोकनी विद्या से जान लेता है कि लक्ष्मण ने राम को बुलाने हेतु सिहनाद का सकेत निश्चित किया है। इसलिए वह युक्तिपूर्वक सिहनाद करके सीता से लक्ष्मण को पृथक कर, सीता हरण करने मे सफल हो जाता है।

'पउम चरिय' के छियतरवें पर्व में लंका में श्रीराम प्रविष्ट होकर सबसे पहले सीता के पास आते हैं। दोनों का मिलन देखकर देवगण फूल बरसाते हैं और सीता के निष्कलंक तथा पुनीत सात्विक चरित्र का साक्ष्य देते हैं। इस ग्रन्थ में श्रीराम की किसी शंका या सीता की अग्नि परीक्षा का कोई उल्लेख भी नहीं है।

'उत्तर पुराण' में भी राम परीक्षा के बिना सीता को स्वीकार करते हैं। सीता अनेक रानियों के साथ दीक्षा लेती है। अन्त मे सीता को स्वर्ग मिलता है।

स्वयंभू की सीता—

स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' मे प्रारम्भ मे मूक सीता के दर्शन होते हैं। सागरवृद्धि भट्टारक तथा ज्योतिषी सीता के कारण रावण एवं राक्षसो के विनाश की भविष्यवाणी कर देते हैं

तेहिं हणेवउ रक्खु महारणे। जणय-णराहिव तणयहे कारणे।

और

आयहे कण्णहे कारणेण होसइ विणासु बहु रक्खहु ॥

वन मे सीता के चरित्र का विकास मौन रूप में होता है। सीता युद्धो के विपरीत है

कर चलण-देह-सिर खण्डणहु। णिब्भिण माए हउ मण्डणहु ॥
हउ ताए दिण्णी केहाहु। कलि-काल-कियन्तहु जेहाहु ॥

सीता-हरण के समय वह अपने को बडी अभागिनी मानती है

को सयवइ मइ को सुहि कहो दुक्खु महन्तउ।
जहिं जहिं नामि हउ त त जि पएसु पलिनउ ॥

रावण के प्रलोभनो तथा उपसर्गों से सीता का हिमालय जैसा अचल और गंगा जल जैसा पवित्र चरित्र रंच मात्र भी विचलित नही हो पाया। सीता अग्नि परीक्षा में सफल होती है

किं किजइ अण्णइ दिव्वे जेण विसुज्झहो महु मणहो।
जिह कणय लालि डाहुत्तर अच्छमि मज्झे हुआसहण हो ॥

अन्त मे सीता का विरागी मन स्त्री न बनने की घोषणा कर देता है

एवहिं तिह करेमि पुणु रहुवइ। जिह ण पाडिवारी तियमइ ॥

स्वयम्भू ने सीता के चरित्र को अनुपम तथा दिव्य स्वरूप प्रदान किया है।

जैन राम-साहित्य मे सीता-निर्वासन-प्रसंग

राम-कथा के समान सीता निर्वासन के आख्यान को प्रस्तुत करने का सर्व प्रथम श्रेय महर्षि बाल्मीकि को है।

गुणभद्र के 'उत्तर पुराण' मे सीता त्याग की कोई चर्चा नहीं मिलती। इसकी श्रृंखला मे महाभारत, हरिवंश पुराण, वायु पुराण, विष्णु पुराण नृसिंह पुराण और अनामक जातक भी जाते हैं जिनमे सीता निर्वासन-आख्यान का अभाव है। परन्तु सीता-त्याग को अधिकांश जैन राम-साहित्य स्वीकार करता है।

सीता-निर्वासन के मुख्य चार कारण थे '

(क) लोकापवाद : जैन राम-साहित्य मे इसका प्रतिपादन विमलसूरि के 'पउम चरिय' तथा रविषेण के 'पद्म चरित' में मिलता है। स्वयम्भू ने अपने महाकाव्य 'पउम चरिउ' मे इसकी पृष्ठभूमि का विश्लेषण करते हुए लिखा है अयोध्या की कतिपय पु श्चली नारियो ने अपने पतियो के समक्ष यह तर्क किया कि यदि इतने दिनो तक रावण के यहाँ रहकर आने वाली सीता राम को ग्राह्य हो सकती है तो एक-दो रात अन्यत्र बिताकर लौटने मे पतियो को आपत्ति क्यो हो ? इस चर्चा को लेकर नगर में सीता-विषयक प्रवाद फैलता है

पर पुरिसु रमेवि दुम्महिलउ देंति पडुत्तर पइ-यणहो ।
किं रामण मु जइ जणयसुय वरिसु वसेवि घरे रामण हो ॥

राम कुल की मर्यादा के कारण सीता को निष्कासित कर देते हैं। 'पउम चरिउ' अनेक मार्मिक तथा भाव-प्रवण प्रसगो से परिपूर्ण है परन्तु सीता-त्याग का प्रसग सर्वाधिक कारुणिक और विदग्ध है। विभीषण सीता के पवित्र चरित्र की निर्दोषिता सिद्ध करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। लका से त्रिजटा आकर गवाही देती है। अन्त मे सीता की अग्नि परीक्षा होती है। दूसरे दिन जब सीता को सबेरे सभा में लाकर आसन पर बैठाया जाता है, तब सीता वर-आसन पर सस्थित ऐसी शोभायमान होती है जैसे जिन आसन पर शासन-देवता--

सीय पइट्ठ णिवठ्ठ वरासणे ।
सासण देवए ज जिण-सासणे ॥

प्रखर तथा स्पष्टवादिनी सीता का शकालु तथा नारी-चरित्र की भर्त्सना करने वाले श्रीराम को कितना आत्माभिमान पूर्ण एव सतेज उत्तर है कि गगा-जल गदला होता है, फिर भी सब उसमे स्नान करते हैं। चन्द्रमा सकलक है, लेकिन उसकी प्रभा निर्मल, मेघ काला होता है परन्तु उसमे निवास करने वाली विद्युच्छटा उज्ज्वल। पाषाण अपूज्य होता है, यह सर्व विदित है परन्तु उससे निर्मित प्रतिमा मे चदन का लेप लगाते हैं। कमल पक से उत्पन्न होता है लेकिन उसकी माला जिनवर पर चढती है, दीपक स्वभाव से काला होता है लेकिन उसकी शिखा भवन को आलोकित करती है। नर तथा नारी मे यही अन्तर है जो वृक्ष और बेलि मे। बेलि सूख जाने पर भी वृक्ष को नही छोडती

साणुण केण वि जणेण गणिज्जइ। गगा णईहिं त जि ण हाइज्जइ ॥
ससि कलक तहिं जि पह णिम्मल। कालउ मेहु तहिं जें तणि उज्जल ॥
उवलु अपुइ जु ण केण वि छिप्पइ। तहिं जि पडिप चन्दणेण विलिप्पइ ॥
धुज्जइ पाउ पकु जइ लग्गइ। कमल-माल पुणु जिणहो बलग्गइ।
दीवउ होइ सहावें कालउ। वट्टि-सिहए मण्डिज्जइ आलउ।
णर णारिहि एवड्डउ अन्तउ। मरणे विवेल्लिण मेल्लिय तरुवरु ॥

अन्त मे सीता तपश्चरण के लिए प्रस्थित हो जाती हैं। स्वयभू ने सीता के चरित्र को सम्वेदनशीलता से आपूर्ण कर दिया है। वह पाठको की दया, समवेदना तथा सहानुभूति की अधिकारिणी बन जाती है।

स्वयभू के पूर्व विमलसूरि, रविषेण तथा आचार्य हेमचन्द्र ने सीता-त्याग के प्रसग का सम्यक् प्रतिपादन किया है।

'पउम चरिय' के पूर्व 92–94 में सीता त्याग का विस्तृत वर्णन मिलता है। लंका से लौट आने के समय की जनता के अपवाद की चर्चा मिलती है। श्रीराम स्वत गर्भवती सीता को वन में विभिन्न जैन चैत्यालय दिखला रहे थे कि अयोध्या के अनेक नागरिक उनके पास आये और अभयदान पाकर उन्होंने अपने आगमन का निमित्त निरूपित किया। उनसे श्रीराम को सीता का अपवाद विदित होता है और वे अपने सेनापति कृतांतवदन को जिन-मंदिर दिखलाने के बहाने सीता को गंगा पार के वन मे छोड़ आने का आदेश देते हैं। संयोग से वन में पुण्डरीकपुर के नरेश वज्रजंघ ने सीता का करुण क्रन्दन सुन लिया जिस पर वह उन्हे अपने भवन ले आया और उसके यहां सीता के दो पुत्र हुए।

'पद्मचरित' के छियान्नवे पर्व मे सीता के ग्रहण स्वरूप दुष्परिणामो में प्रजा का मर्यादा विहीन स्वरूप और नारियो का हरण, प्रत्यावर्तन तथा उनकी स्वीकृति बतलायी गयी है।

'योगशास्त्र' (द्वादश शताब्दी) मे सीता निर्वासन के तदनंतर एक घटना का वृतात मिलता है। तदनुसार श्रीराम अपनी भार्या के अन्वेषण मे वन गए हुए थे किन्तु सीता कही नहीं मिल पायी। राम ने यह विचार करके कि सीता किसी हिंसक पशु द्वारा समाप्त हो चुकी है, अतएव, उन्होने परावर्तित होकर सीता का श्राद्ध किया।

(ख) धोबी का आख्यान – जैन रामसाहित्य मे इसकी चर्चा नही मिलती।

(ग) रावण का चित्र—इस वृतान्त को प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम एव प्राचीनतम श्रेय जैन–राम साहित्य को है।

हरिभद्र सूरि के (अष्टम शताब्दी) उपदेश पद मे सीता द्वारा रावण के चरणो के चित्र निर्मित करने का सूत्र मिलता है। टीकाकार पुनिच्चन्द्र सूरि (द्वादश शताब्दी) के कथनानुसार सीता ने अपनी ईर्ष्यालु सपत्नी के प्रोत्साहन से रावण के पैरो का चित्र बनाया था। इस पर सपत्नी ने राम को यह चित्र दिखला दिया और उन्होने सीता का त्याग कर दिया।

भद्रेश्वर की 'कहावली' (एकादश शताब्दी) मे यह आख्यान आया है कि सीता के गर्भवती हो जाने पर ईर्ष्यालु तथा द्वेषमयी सपत्नियो के आग्रह पर सीता ने रावण के पैरो का चित्र निर्मित किया जिसे उन्होने सीता द्वारा रावण के स्मरण के प्रमाण स्वरूप राम के समक्ष उपस्थित कर दिया। राम ने इसकी उपेक्षा कर दी। सौतो ने रावण चित्र का किस्सा दासियो के द्वारा जनता मे फैला दिया। तत्पश्चात् राम गुप्तवेश धारण कर नगरोद्यान मे गये जहा उन्होने अपनी इस हेतु निंदा सुनी। गुप्तचरो ने भी लोकापवाद की चार्चा की। राम का निर्देश पाकर कृतांतवदन तीर्थयात्रा के बहाने सीता को वन में छोड आया। उसके बाद राम ने लक्ष्मण एव अन्य विद्याधरो के साथ विमान मे चढकर सीतान्वेषण किया परन्तु उन्हे न पाकर यह समझ लिया कि वे किसी हिंसक जानवर का ग्रास बन गयी हैं।

हेमचन्द्र के 'जैन रामायण' (द्वादश शताब्दी) मे भी यही गाथा है। नागरिको ने भी सीता के लोकापवाद की चर्चा की जिसे राम ने ठीक पाया।

देवविजयगणि के 'जैन रामायण' (सन् 1596) में नारियां राम से शिकायत करती हैं कि सीता रावण के चरणो की पूजा-अर्चना करती है—

स्वामिन् एषा सीता रावणे मोहिता रावणाही भूमौ लिखित्वा पुष्पादिभि पूजयति ।।

जैन रावण-चित्र-कथा का भारतीय रामायणों पर प्रभाव .

जैन राम-साहित्य मे आयी, सीता द्वारा रावण के चित्र के निर्माण की घटना का भारतीय रामायणो पर व्यापक प्रभाव पडता दिखलायी देता है ।

बगाल मे कृत्तिवास ओझा द्वारा लिखित रामकथा 'कृत्तिवास रामायण' या 'श्रीराम पाचाली' (पन्द्रहवी शताब्दी का अन्त) मे सखियो से प्रेरित होकर सीता रावण का चित्र खींचती है ।

सिक्खो के दशमेश गुरु गोविन्दसिंह ने 'रामअवतार कथा' या 'गोविन्द रामायण' (सन् 1698) में रावण-चित्र के कारण राम के सीता पर सदेह होने का वृत्तात मिलता है ।

सस्कृत की 'आनन्द रामायण'(पन्द्रहवीं शताब्दी)के तृतीय सर्ग में कैकयी के आग्रह पर सीता रावण के सिर्फ अ गूठे का चित्र बनाती है जिसे कैकयी पूरा करती है, और राम को बुलाकर नारी-चरित्र की आलोचना करती है—

> यत्र यत्र मनोलग्न स्मर्यते हृदि तत्सदा ।
> स्त्रियाश्च चरित्र को वेत्ति शिवाद्या मोहिता स्त्रिया ।।

'काश्मीरी रामायण' अथवा 'रामावतारचरित' (अट्ठारहवीं शताब्दी) मे दिवाकर भट्ट ने रावण के चित्र के ही कारण सीता-त्याग को चरितार्थ होते निरूपित किया है । राम की सगी बहिन सीता से चित्र बनवाती है ।

नर्मदा द्वारा रचित गुजराती रामायण 'रामायणनोसार' (उन्नीसवी शताब्दी) के अनुसार राम सीता को रावण का चित्र खीचते हुए और अपनी दासी से रावण का वृतात कहते हुए सुनते हैं ।

जैन हिन्दी रामकथा 'पद्म पुराण' (सन् 1661) मे दौलतराम ने भी रावण के चित्र का उल्लेख किया है ।

सम्राट जहागीर के समय में मुल्लाह् मसीह् या सादुल्ला कैरावनी तखल्लुस मसीह् ने फारसी मे लिखित "रामायण मसीही' अथवा "हदीस-इ-राम उ-सीता" के अनुसार राम की बहिन ने सीता से रावण का चित्र खिचवाकर कहा कि सीता रात-दिन इस चित्र की पूजा करती है ।

जैन रावणचित्र-कथा का लोकगीतों पर प्रभाव

इस मूल स्रोत को हमारे लोकगीतो ने भी स्वीकार किया है । लोकगीतो में सीता-परित्याग की घटना का अत्यन्त मार्मिक वर्णन तथा सीता का चरित्र-चित्रण मिलता है । एक अवधी सोहर लोकगीत में ननद के कहने से सीता ने रावण का चित्र बनाया था—

> ननद भौजाई दुइनो पानी गयी अरे पानी गयी ।
> भौजी जौन खन तुम्हें हरि लेइ ग उरेहि देखावहु हो ।।
> जौमे खना उरेहो उरेहि देखावउ, उरेहि देखावउना ।
> ननदी सुनि पइहैं बिरना तोहॅार तो देसवा निकरि हैं हो ।।
> लाख दोहइया राजा दसरथ राम मथवा छुवौ, राम मथवा छुवौना ।

भौजी लाल दोहइया लछिमन भइया जौ भइया बतावउ हो ।।
मागो न गांग गगुलिया गंगाजल पानी, गंगाजल पानी हो।
ननदी समुहे के ओबरी लियावउ तो खना उरेहों हो ।।
मांगिन गाग गंगुलिया गगाजल पानी, गंगाजल पानी हो।
हेइ हो, समुहें के ओबरी लिपाइन तौ खना उरेहैं हो ।।
हथवा उरेहीं सीता गोड़वा उरेंही अवर उरेही दुइनौ आंखि।
हेइ हो, आइ गये सिरीराम आबर छोरि मू दिनि हो ।।

लोकगीतो मे सर्वत्र सीता परित्याग का कारण रावण के चित्र का निर्माण ही बताया गया है। सीता पहले से ही चित्रकला विशारदा थी और लोकगीतो में विवाह के पूर्व भी कई स्थलो पर सीता के चित्रकला-प्रावीण्य का वृत्तांत मिलता है। अतएव, लका से लौटने के बाद सीता के द्वारा रावण के चित्र निर्माण में कोई अस्वाभाविकता आती प्रतीत नही होती। एक भोजपुरी लोकगीत सोहर मे भी इसी भावना की परम पुष्टि मिलती है--

राम अवरु लछुमन भइया, आरे एकली बहिनियां हइहों की।
ए जीवा रामजी बइठेले जेवनवा बहिन लइया लखे रे की ।।
ए भइया भौजी के दना बनवमवा जिनि खना उरहे ले की।
जिनि सीता भूखा के भोजन देली, ओर लागा के बहुतरवा ।।
होनी से हो सीता गहुबाइ रे आसापति, कइसे बनवासिन हो कि ।।

इसी प्रकार एक बुन्देली लोकगीत मे भी सीता निर्वासन का कारण रावण के चित्र का निर्माण है--

चौक चदन बिन आंगन सूनो कोयल बिन अमराई।
रामा बिना मोरी सूनी अजोध्या लछमन बिन ठकुराई ।।
सीता बिना मोरी सूनी रसोइया कौन करे चतुराई।
आम इमलिया की नन्ही नन्ही पतिया नीम की शीतल छाइ ।।
ओई तरें बैठी ननद भौजाई कर रही रावन की बात।
जौन खना भौजी तुमे हर लेगव हमे उरेइ बताव।
रावन उरे हो जबई बारी ननदी घर मे खबर न होय।
जो सुन पाहे तुम्हारे घर मे देंय निकार।
राम की सौंगध लखन की सौंगध दसरथ लाल दुहाई।
हमारी सौंगध खाओ बारी ननदी तुमको कहा घट जाई
अपनी सौंगध खात हो भौजी, सिजिया पावन देऊ।
सुरहन गऊ के गोबर मगाओ वैया मिटिया देव लिपाई।
हाथ बनाये, पाव बनाये और बत्तीसई दांत।
ऊपर को मस्तक लिखन नहिं पाओ, आ गए राजाराम।
स्याव ने वैया पिछौरिया लिखना देंय लुकाय ।।

जैन रावण चित्र कथा का विदेशी रामकाव्य पर प्रभाव—

जावा के 'सेरत काण्ड' में कैकयी स्वत सीता के पखे पर रावण का चित्र अंकित करती है और सुषुप्तावस्था मे लीन सीता के पर्यंक पर रख देती है। 'हिकायत सेरी राम' मे कीकवी देवी भरत शत्रुघ्न की सहोदरी है। सीता ने कीकवी देवी के आग्रह के कारण पखे पर रावण का चित्र खींच दिया। कीकवी ने उसे सोती सीता के वक्षस्थल पर रख दिया और यह आक्षेप किया कि सोने के पूर्व सीता ने उस चित्र का चुम्बन लिया था। राम ने कीकवी पर विश्वास कर लिया।

हिन्देसिया के 'हिकायत् महाराज रावण' में यह वृत्तात आया है कि रावण वध के उपरात राम तो लका मे रहते सात माह हो गये। रावण की पुत्री अपने पिता का चित्र सोती सीता की छाती पर रख देती हैं। सीता निद्रावस्था मे उस चित्र का चुम्बन करती है, उसी क्षण राम उनके पास आते हैं और उस दृश्य को देखकर राम क्रोध से आग बबूला हो जाते हैं।

हिन्दचीन अर्थात् खमेर वाङ्मय की सर्वाधिक सशक्त कृति 'रामकेर्ति' (सत्रहवी शताब्दी) है। इसके पचहत्तरवें सर्ग मे अतुलय राक्षसी सीता की सखी बनकर उससे रावण का चित्र अंकित कराती है और इस चित्र मे प्रविष्ट हो जाती है। इसके परिणाम स्वरूप सीता प्रयास करने के बाद भी उस चित्र को मिटा नही पाती है, और अ तत हताश होकर पलग के नीचे उसे छिपा देती है। तदुपरात राम के इस पलग पर लेट जाने पर उनको तेज बुखार हो जाता है। जब उन्हे उस चित्र का पता लगता है तो वे लक्ष्मण को सीता को वन मे ले जाकर मार डालने का आदेश देते हैं।

श्यामदेश की रचना 'राम कियेन' में अदुल नामक शूर्पणखा की पुत्री सीता से रावण का चित्र अकित करवाती है और तत्पश्चात् इसी चित्र मे प्रवेश कर जाती है जिससे सीता उसे मिटा नही पाती है।

श्याम के उत्तर पूर्वीय प्रातो के लाओ भाषा मे सोलहवी शताब्दी मे 'राम जातक' की रचना हुई थी जिसमे भी रावण चित्र के कारण सीता-त्याग होता है।

लाओस के 'ब्रह्मचक्र' या 'पोम्नचका' में शूर्पणखा स्वत छद्मवेश मे सीता के पास आकर उनसे चित्र बनवा लेती है।

थाईलैण्ड की 'थाई रामायण' म भी इसी चित्र की पर्याप्त चर्चा है।

सिंहली रामकथा मे उमा सीता के पास आकर उनसे केले के पत्ते पर रावण का चित्र अंकित करवाती है। अकस्मात राम के आगमन पर सीता इस चित्र को पलग के नीचे फेंक देती है। राम उस पलग पर बैठ जाते है और पलग कापने लगता है। कारण विदित होने पर राम अत्यन्त क्रुद्ध हो जाते हैं।

रावण के चित्र का मूल उत्स जैन-साहित्य है जिसने विदेशो मे जाकर बडा उग्र तथा विशिष्ट रूप धारण कर लिया है।

(घ) परोक्ष कारण—'पउम चरिय' के पूर्व १०३ मे यह कथा आयी है कि सीता ने अपने पूर्व जन्म मे मुनि सुदर्शन की बुराई की थी और इसके परिणामस्वरूप वह स्वय लोकापवाद की पात्र बन गयी।

समाकलन :

सम्पूर्ण जैन राम-साहित्य सीता की विभिन्न छवियो तथा बिम्बो से परिपूर्ण है। उनको जैन कवियो ने अपने धर्म-सम्प्रदाय तथा सिद्धान्त के अनुसार गढने का सफल प्रयास किया है। भारतीय वाङ्मय को जैन राम साहित्य का यह अप्रतिम प्रदेय है कि उसने सीता को धरती-पुत्री के समान ही आकलित किया।

हिन्दी की जैन रामकथा की मध्यकालीन परम्परा में मुख्य कृतियां निम्नलिखित हैं—

(क) मुनिलावण्य की 'रावण मन्दोदरी सम्वाद'

(ख) जिनराजसूरी की 'रावण मन्दोदरी सम्बाद' और

(ग) ब्रह्मजिनदास का 'रामचरित' या 'रामरास' और 'हनुमत रास'।

इनमें सीता के चरित्र के अनेक उज्ज्वल तथा सरस पार्श्वों को सफलतापूर्वक उद्घाटित कया गया है। ❖

श्वेत–श्री

❀ श्री सुरेश सरल, जबलपुर

हाँ वे !
जो, शरीर धोकर
ऊंची टहनी पर बैठे हैं,
बगुले हैं;
क्षण भर पूर्व
पोखर के
गदे कीचड मे लेटे थे।
जिनके लिये
कीचड और टहनी
दोनों 'फ्री' हैं,
समाज में भी ऐसे—
"श्वेत-श्री" हैं।

पंच मुक्तक

● पं० प्रेमचन्द्र "दिवाकर", सागर

पानी की सतह भू से ऊपर नही बढती ।
कि काठ की हडी चूल्हे पै नहीं चढती ।।
फिर भी यार दोस्तो जो सीमा से उफनता है—
स्वय मिटता आबरू हर जगह है घटती ।।1।।

भारत की तुम शान न पूछो, दात गिने शेरो के,
तन से निकली आंखें चाहे लक्ष्य सधे तीरो के ।
सत्रह बार छमा शत्रु को, फिर भी गर्व न करते,
ऐसे वीर इसी वसुधा के अन्तिम दम तक लडते ।।2।।

जो सहयोग करते हैं उन्हे सहयोग मिलता है,
जो आदर और का करते उन्हे आदर भी मिलता है ।
जो कर्तव्य करते हैं उन्हे अधिकार मिलता है,
जो सेवा "प्रेम" से करते उन्हे मेवा भी मिलता है ।।3।।

जिसके ज्ञान नही वह जानवर है
जिसके प्रेम नही वह पत्थर है ।
रुचि सगीत न हो जिसमे वह सहृदय नही,
स्वाभिमान की चाह न हो वह कायर है ।।4।।

जमाने को क्या कहे, कि गरजते तो हैं पर बरसते नही,
भाषणो की किताबो पर किताबे किन्तु कर दिखाया कुछ नही ।
उल्लू अगर सीधा न हुआ तो बगले छकने लगती हैं,
"प्रेम" से चने के छिलके फटकते तो हैं पर निकलते नही ।।5।।

❖❖

श्री सूरजमल बैद
प्रदर्शनी का उद्घाटन करते हुए

→

श्री माणकचन्द सोगाणी, सदस्य
राजस्थान विधानसभा,
श्री कपूरचन्द पाटनी 'समाज बंधु' को
विजय स्तम्भ प्रदान करते हुए—
साथ में सभा के अध्यक्ष
श्री राजकुमार काला भी हैं

←

फैन्सी ड्रेस- शा का एक दृश्य

→

हाल ही मे मुनिश्री विद्यानन्दजी के आशीर्वाद से डा. देवेन्द्रकुमारजी द्वारा सम्पादित होकर रयणसार नामक ग्रंथ कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित कहा जाकर प्रकाशित हुआ है। ग्रथ के सम्पादन में विद्वान् सम्पादक ने कठिन श्रम किया है इसमें सन्देह नहीं किन्तु रयणसार को असंदिग्ध रूप से कुन्दकुन्दाचार्य की रचना सिद्ध करने मे वे प्राय असफल रहे हैं। इस निबंध के विद्वान् लेखक ने पुष्ट युक्तियों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि रयणसार कुन्दकुन्दाचार्य की रचना नहीं हो सकती। समाज मे पहले भी ऐसे कई ग्रंथो का छानबीन द्वारा पता लग चुका है जो प्राचीन प्रसिद्ध प्रामाणिक आचार्यों के नाम से अन्यों ने लिखे हैं। सभवत रयणसार भी एसी ही रचना हो। विद्वानो को ऊहापोहपूर्वक इसका निश्चय करना चाहिये इसी पवित्र भावना से यह निबध हम यहां दे रहे हैं।

—प्र० सम्पादक

रयणसार के रचयिता कौन ?

❀ पं० बशीधरजी शास्त्री, एम० ए०, सवाईमाधोपुर

मुस्लिम शासनकाल मे भारत में ऐसी परिस्थितिया हो गई थी जिनके कारण दिगम्बर जैन साधु नग्न नहीं रह सके और इन्हे वस्त्र धारण करने पडे। ऐसे वस्त्र धारी साधु भट्टारक कहलाते थे। प्रारम्भ मे कतिपय भट्टारको ने साहित्य सरक्षण एव सस्कृति की परपरा बनाए रखने मे महत्वपूर्ण योगदान किया था। किन्तु वे वस्त्र, वाहन, द्रव्यादि रखते हुए भी अपने आपको साधु के रूप मे ही पुजाते रहे। वे पीछी कमण्डल भी रखते थे। चू कि दिगम्बर परपरा मे वस्त्रधारी व परिग्रहधारी साधु नही माना जा सकता इसलिए इन भट्टारको न अधिकाश साहित्य जो कि उस समय हस्तलिखित होने के कारण अल्प सख्या मे ही थे अपने कब्जे मे कर लिया। इन भट्टारको ने प्रमुख केन्द्रो मे अपने-अपने मठ बना लिए विभिन्न प्रकार से श्रावको से धन सचय करने लगे और उन श्रावक श्राविकाओ को शास्त्रो और आगम परपरा से दूर रखा। उन्होने धर्म के नाम पर मत्रतत्रादि का लोभ या डर दिखाकर कई ऐसी प्रवृतियां चलाई जो दिगम्बर जैन आगम के अनुकूल नही थी। इन्होने प्राचीन साहित्य अपने अधिकार मे कर लिया और नवीन साहित्य निर्माण करने लगे वह भी कभी-कभी प्राचीन आचार्यों के नाम पर ताकि लोग उन्हें प्रामाणिक समझकर उन प्रवृत्तियों का विरोध नही करें। ऐसे नव निर्मित साहित्य द्वारा उन नवीन प्रवृत्तियों का समर्थन किया गया। इन्होने त्रिवर्णाचार, सूर्य प्रकाश, चर्चासागर, उमास्वामी श्रावकाचार आदि आगम विरुद्ध ग्रन्थों का निर्माण किया था। स्व० प० जुगलकिशोरजी मुख्तार, प० परमेष्ठीदासजी जैसे विद्वानों ने इनकी समीक्षा कर स्थिति स्पष्ट कर दी है।

यह ठीक है कि आगरा-जयपुर के विद्वानो द्वारा ज्ञान के सतत प्रसार से उत्तर भारत में इन भट्टारको का अस्तित्व समाप्तप्राय हो गया है। फिर भी कुछ भाई, जिनमें विद्वान् एव त्यागी भी हैं, फिर भट्टारक परपरा को प्रोत्साहन देना चाहते हैं और उन भट्टारको द्वारा रचित ग्रन्थो का प्रचार करते हैं।

ऐसे ग्रन्थो में 'रयणसार' भी एक है यद्यपि इसे आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा विरचित बताया जाता है किन्तु इस ग्रन्थ की परीक्षा करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रन्थ अपने वतमान रूप मे कुन्द-कुन्दाचार्य द्वारा रचित नही हो सकता। अपने विचार प्रस्तुत करने से पूर्व मै कतिपय साहित्य मर्मज्ञ विद्वानो के मत उद्धृत करना आवश्यक समझता हूँ--

स्व० डा० ए० एन० उपाध्याय ने प्रवचनसार की भूमिका मे इस प्रकार लिखा है--

रयणसार ग्रन्थ गाथा विभेद विचार पुनरावृत्ति अपभ्रश पद्यो की उपलब्धि, गण गच्छादि का उल्लेख और बेतरतीबी आदि को लिए हुए जिस स्थिति मे उपलब्ध है उस पर से वह पूरा ग्रन्थ कुन्दकुन्द का नही कहा जा सकता। कुछ अतिरिक्त गाथाओ की मिलावट ने उसके मूल मे गडबड उपस्थित कर दी है और इसलिए जब तक कुछ दूसरे प्रमाण उपलब्ध न हो जाय तब तक यह विचाराधीन ही रहेगा कि कुन्दकुन्द इस रयणसार के कर्त्ता है।

पुरातन ग्रथो के पारखी स्व० प० जुगल-किशोरजी मुख्तार का रयणसार के सबध मे निम्न मत है- --

यह ग्रथ अभी बहुत कुछ सदिग्ध स्थिति मे स्थित है। जिस रूप मे अपने को प्राप्त हुआ है उस पर से न तो इसकी ठीक पद्य सख्या ही निर्धारित की जा सकती है और न इसके पूर्णत मूल रूप का ही पता चलता है। ग्र थ प्रतियों मे पद्य सख्या और उनके क्रम का बहुत बडा भेद पाया जाता है। कुछ अपभ्र श भाषा के पद्य भी इन प्रतियो मे उपलब्ध हैं। एक दोहा भी गाथाओं के मध्य मे आ घुसा है। विचारो की पुनरावृत्ति के साथ कुछ बेतरतीबी भी देखी जाती है, गण गच्छादि के उल्लेख भी मिलते हैं, ये सब बातें कुन्दकुन्द के ग्रथो की प्रवृति के साथ सगत मालूम नही होती, मेल नही खातीं। (पुरातन जैन वाक्य सूची प्रस्तावना)

स्व० डॉ० हीरालालजी जैन ने अपने 'भारतीय सस्कृति मे जैन धर्म का योगदान' शीर्षक ग्रन्थ मे रयणसार के सम्बन्ध मे इस प्रकार लिखा है

इसमे एक दोहा व छ पद अपभ्र श भाषा मे पाये जाते हैं या तो ये प्रक्षिप्त हैं या फिर यह रचना कुन्द कुन्द कृत न होकर उत्तरकालीन लेखक की कृति है, गण गच्छ आदि के उल्लेख भी उसको अपेक्षा कृत पीछे की रचना सिद्ध करते हैं।

पृ० 105

श्री गोपालदास जीवाभाई पटेल ने 'कुन्द-कुन्दाचार्य के तीन रत्न' शीर्षक पुस्तक मे रयणसार के सम्बन्ध मे निम्न मत प्रस्तुत किया है

यह ग्रन्थ कुन्द-कुन्दाचार्य रचित होने की बहुत कम सम्भावना है अथवा इतना तो कहना ही चाहिए कि उसका विद्यमान रूप ऐसा है जो हमे सदेह मे डालता है। इसमें अपभ्र शके कुछ श्लोक है और गण-गच्छ और सघ के विषय मे जिस प्रकार का विवरण है वह सब उनके अन्य ग्रन्थो मे नही मिलता। (पृ० 20)

प० पन्नालालजी साहित्याचार्य ने रयणसार को 'कुन्द-कुन्द भारती, नामक कुन्द कुन्द के समग्र साहित्य में इसलिए सम्मलित नही किया कि इसमे गाथा सख्या विभिन्न प्रतियो मे एक रूप नही है। कई प्राचीन प्रतियो में कुन्द-कुन्द का रचनाकार के रूप में नाम नही है।

स्व० डॉ० नेमीचन्दजी ज्योतिषाचार्य ने तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा के

दूसरे खण्ड में पृष्ठ 115 पर रयणसार के सम्बन्ध में डॉ० उपाध्ये का मत उद्धृत करते हुए लिखा है ' वस्तुत. शैली की भिन्नता और विषयों के सम्मिश्रण से यह ग्रन्थ कुन्द-कुन्द रचित प्रतीत नहीं होता।"

डॉ० लालबहादुर शास्त्री ने अपने 'कुन्द-कुन्द और उनका समयसार' नामक ग्रन्थ मे रयणसार का परिचय देकर लिखा है कि 'रयणसार की रचना गम्भीर नही है, भाषा भी स्खलित है, उपमाओ की भरमार है। ग्रन्थ पढने से यह विश्वास नही होता कि यह कुन्द-कुन्द की रचना है। यदि कुन्द-कुन्द की रचना यह रही भी होगी तब इसमे कुछ ही गाथा ऐसी होगी जो कुन्द-कुन्द की कही जा सकती हैं। शेष गाथा व्यक्ति विरोध मे लिखी हुई प्रतीत होती है। गाथाओं की सख्या 167 है। (पृ० 142) (इस ग्रन्थ का विमोचन उपाध्याय श्री विद्यानन्दजी के आशीर्वाद से हुआ है)

इस प्रकार उक्त विद्वानो व अन्य प्रमुख विद्वानो द्वारा भी रयणसार कुन्द-कुन्द की रचना नहीं मानी गयी है।

इस ग्रन्थ को कुन्द-कुन्दाचार्य कृत न मानने के कुछ और भी कारण है जिन पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

1 कुन्द-कुन्द के सभी 'सार' ग्रन्थो(प्रवचनसार, नियमसार, और समयसार) पर सस्कृत टीकाए उपलब्ध हैं जबकि इसी तथाकथित 'सार' (रयणसार) की सस्कृत टीका नही है। प्राचीन काल मे कुन्द कुन्द के उक्त तीनो ग्रन्थ नाटकत्रयी के नाम से विख्यात से है और यदि उनके सामने यह 'रयणसार' उपलब्ध होता तो नाटकत्रयी ही क्यो कहते ?

2 कुन्द कुन्दाचार्य से लेकर 17 वीं शताब्दी तक न तो इसकी कोई हस्तलिखित प्रति मिलती है, न किसी भी आचार्य या विद्वान् ने उस समय तक इसका कोई उल्लेख या उद्धरण दिया है। कुन्द-कुन्द के टीकाकार अमृतचन्द्र, पद्मप्रभुमलधारी, जयसेन आदि टीकाकारो ने भी इसका कहीं भी उल्लेख नहीं किया। प० आशाधर, श्रुतसागर आदि टीकाकारों ने भी अपनी टीकाओं मे इसका उल्लेख नही किया जबकि उनकी टीकाओ मे प्राचीन ग्रन्थो के उद्धरण प्रचुरता से मिलते हैं।

3 17 वी शताब्दि से पूर्व की इसकी कोई हस्तलिखित प्रति लेखनकाल युक्त अभी तक नही मिली। कोई व्यक्ति किसी प्रति को अनुमान से किसी भी काल की बता दे वह बात प्रामाणिक नही कही जा सकती।

4 कुन्द-कुन्दाचार्य की रचनाओ मे विषय को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया गया है जबकि इसमे प० जुगलकिशोरजी मुख्तार के शब्दो मे विषय बेतरतीबी से प्रस्तुत किये गये हैं। जैसे कहा यह जाता है कि 'रयणसार' की रचना प्रवचनसार और नियमसार के पश्चात् की गई थी (देखें-रयणसार प्रस्तावना डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री पृ० 21) किन्तु रयणसार एव इन ग्रन्थो की तुलना से विदित हो जाता है कि प्रवचनसार और नियमसार जैसे प्रौढ एव सुव्यवस्थित ग्रन्थो का रचयिता रयणसार जैसी सकलित, अव्यवस्थित, पूर्वापर विरुद्ध और आगम विरुद्ध रचना नहीं लिखेगा। (इसके आगम विरुद्ध मतव्यो का आगे विवेचन किया जायेगा)।

5 इसकी विभिन्न प्रतियो मे गाथा सख्याएं समान नहीं है, वे 152 से लेकर 170 तक हैं।

6 कुन्द-कुन्दाचार्य के ग्रन्थो में उच्चस्तरीय प्राकृत भाषा के दर्शन होते हैं, उनके काल में अपभ्रंश भाषा थी ही नही। उसका प्रचलन एव प्रयोग कुन्द-कुन्द के सैकडो वर्ष बाद हुआ है फिर अपभ्रंश की गाथाएं रयणसार में कैसे आ गई। डॉ० लालबहादुरजी शास्त्री के शब्दो मे इसकी

भाषा स्खलित है। इससे स्पष्ट है कि यह रचना कुन्द-कुन्द के बहुत काल बाद जब अपभ्रंश का प्रयोग होने लगा होगा अन्य किसी द्वारा लिखी जाकर कुन्द-कुन्दाचार्य के नाम से प्रचारित की गई होगी।

17 वी 18 वी शताब्दि मे अचानक इस ग्रथ का प्रादुर्भाव कैसे हुआ यह अभी तक स्पष्ट नहीं हो सका है। यह ठीक है कि मोक्षमार्ग प्रकाशक मे कुन्द-कुन्द का नाम बिना दिये 'रयणसार' की एक गाथा उद्धृत की गई है। पाठको को ध्यान रहे कि इस ग्रथ मे अजैन ग्रथो के उद्धरण भी यथा प्रसग उद्धृत किये गये हैं अत उसी प्रकार रयणसार की गाथा भी उद्धृत की गई हो तो क्या आश्चर्य है ? 18 वी 19वी शताब्दि मे हुए भूधरदासजी एव प० सदासुखजी ने इसे कुन्द कुन्द कृत कहा है। सम्भव है उस समय कुन्द कुन्द का नाम होने के कारण इस ग्रथ का विषय सिद्धान्त शैली आदि का विशेष विवेचन न किया गया होगा और इसे कुन्द-कुन्द की रचना लिख दी हो जैसा कि आज भी हो रहा है। कुछ लोग इसके प्रचार के कारण इसे कुन्द-कुन्द कृत मान लेते हैं और दूसरे से पूछते हैं इसे क्यो नही मानते ?

रयणसार को कुन्द-कुन्द की रचना सिद्ध करने के लिए इसमे मगलाचरण, अन्तिम पद व कई विषय ऐसे लिखे गये हैं जो कुन्द-कुन्द की रचना से साम्यता लिए हुए प्रतीत हो और दूसरी ओर कुन्द-कुन्द एव दिगम्बर मान्यता से असम्मत मत भी इसमे प्रस्तुत कर दिये गये हैं ताकि लोग उन असम्मत मतो को भी कुन्द-कुन्दाचार्य कृत मानले।

अब रयणसार की ऐसी गाथाओ पर विचार किया जाता है जो आगम परम्परा, कुन्द-कुन्दाचार्य कृत अन्य रचनाओ एव रयणसार की ही अन्य गाथाओ के विपरीत मान्यता वाली हैं।

दान के प्रसंग में पात्र और अपात्र का विचार न करने वाली निम्न गाथा उल्लेखनीय है

दाण भीयणमेत्त दिण्णइ धण्णो हवेइ सायारो।
पत्तापत्तविसेस सदंसणे कि वियारेण ॥4॥

यदि गृहस्थ आहार मात्र भी दान देता है तो धन्य हो जाता है साक्षात्कार होने पर उत्तम पात्र-अपात्र का विचार करने से क्या लाभ ?

इसी गाथा के आगे 15 से 20 वी गाथा मे उत्तम पात्र को ही दान देने का फल बताया है न कि अपात्र को दान देने का फल। कुन्द-कुन्दाचार्य कृत किसी भी रचना मे नही लिखा कि अपात्र को दान देना चाहिए।

प्रवचनसार की गाथा 257 मे अपात्र को दान देने का फल इस प्रकार बताया है

जिन्होने परमार्थ को नहीं जाना है और जो विषय कषायों मे अधिक है ऐसे पुरुषो के प्रति सेवा उपकार या दान कुदेव रूप मे और कुमानुष रूप मे फलता है।

वसुनन्दी श्रावकाचार में 242 वी गाथा मे अपात्र दान का फल निम्न प्रकार लिखा है

जिस प्रकार ऊसर भूमि मे बोया हुआ बीज कुछ भी नही उगता है उसी प्रकार अपात्र मे दिया गया दान भी फल रहित जानना चाहिए।

शास्त्रकारो ने मिथ्यादृष्टि को अपात्र कहा है और उसे दान देने का फल इस प्रकार बताया गया है दर्शन पाहुड की टीका में लिखा है कि मिथ्या दृष्टि को अन्नादिक का दान भी नही देना चाहिए। कहा भी है–मिथ्या दृष्टि को दिया गया दान दाता को मिथ्यात्व बढ़ाने वाला है। इसी प्रकार सागार धर्मामृत मे लिखा है—चारित्राभास को धारण करने वाले मिथ्या दृष्टियो को दान देना सर्प को दूध पिलाने के समान केवल अशुभ के लिए ही होता है। 21-64/149

उपासकाध्ययन मे उस दान को सात्विक कहा गया है जिसमे पात्र का परीक्षण व निरीक्षण स्वय किया गया हो और उस दान को तामस दान कहा गया है जिसमे पात्र अपात्र का ख्याल न किया गया हो । सात्विक दान को उत्तम एव सब दानो में तामसदान को जघन्य कहा गया है । (829 31)

पाठक विचार करें कि अपात्र के दान का इस प्रकार का फल होने पर कुन्दकुन्दाचार्य जैसा महान आचार्य कैसे कह देता कि पात्र-अपात्र का क्या विचार करना ?

वस्तुत ऐसी गाथा कोई भट्टारक या शिथिला-चारी ही लिख सकता है जो चाहता है कि लोग उसे आहार दान देते ही रहे चाहे उसके आचरण कैसे ही क्यो नहो । उनकी परीक्षा न करे और एक बार आहार देने पर उसकी फिर परीक्षा करना या शिथिलाचारी या अनाचारी मान लेने पर भी उसको प्रकाश मे लाना सम्भव नही हो सकेगा ।

यशस्तिलक चम्पू काव्य मे उक्त 14वी गाथा के आशय का निम्न श्लोक मिलता है—

भुक्तिमात्रप्रदाने हि का परीक्षा तपस्विनाम्
ते सन्त, सन्त्व सन्तो वा गृहदाने न शुद्धयन्ति । 36 ।।

उक्त चम्पू काव्य उत्तरकालीन रचना होने के साथ-साथ एक काव्य ग्रन्थ है जिसको आचार शास्त्र या दर्शन की मान्यता नही दी जा सकती । वैसे सिद्धान्त की दृष्टि से उक्त श्लोक भी आगम परपरा के प्रतिकूल ही है क्योकि सम्यग्दृष्टि गृहस्थ सच्चे साधु को ही वदना पूर्वक आहार दे सकता है वह असाधु की वदना नही कर सकता ।

आज भी शिथिलाचारियो के विरोध की बात पर उक्त गाथा की दुहाई दी जाती है और उनको दान देने का समर्थन किया जाता है । रयणसार की अन्य गाथाओ मे उत्तम पात्र को दान देने वाली जो गाथाएं हैं उन्हे उद्धृत नही किया जाता किन्तु 14 वी गाथा अवश्य उद्धृत की जाती है । समणसूत्र मे भी उक्त गाथा का समावेश किया है जब कि उत्तम पात्र को दान देने की प्रेरणा देने वाली न केवल रयणसार मे अपितु अन्य सभी शास्त्रो मे गाथाए हैं किन्तु वे गाथायें समणसूत्त मे नही दी गई हैं ।

इस प्रकार की गाथाओ से अपात्रो—मिथ्या दृष्टि शिथिलाचारी एव अनाचारी को प्रोत्साहन एव समर्थन मिलता है ऐसी गाथा कुन्दकुन्द जैसे आगम परपरा के सस्थापक की नहीं हो सकती ।

मुनि के आहार के पश्चात् प्रसाद दिलाने वाली निम्न गाथा भी विचारणीय है—

जो मुनिभुत्तवसेस भुजइ सो भुजए जिणुवदिट्ठ ।
ससार-सर सोक्ख कमसो णिव्वाणवरसोक्ख । 2 ।

जो जीव मुनियो के आहार दान देने के पश्चात् अवशेष अश को सेवन करता है वह ससार के सारभूत उत्तम सुखो को प्राप्त होता है और क्रम से मोक्ष सुख को प्राप्त करता है ।

क्षुल्लक ज्ञानसागरजी ने अवशेष अश के लिए लिखा है कि इसको प्रसाद समझकर ग्रहण करना चाहिए इसका दानसार मे महत्व बताया गया है ।

अब तक मैंने रयणसार की 4-5 मुद्रित प्रतिया देखी है उनमे यह गाथा उक्त रूप मे ही लिखी गई है । समणसुत्त मे भी उक्त गाथा इसी रूप मे सम्मिलित की गई है किन्तु अभी डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री द्वारा सम्पादित रयणसार इस गाथा मे आगत 'मुनिभुक्तवसेस, को मुणिभुक्ताविसेस लिखा गया है । यह परिवर्तन सभवत इसीलिए किया गया है कि प्रसाद खाने का जैन परपरा से किसी प्रकार औचित्य सिद्ध नही होता, अन्यथा इस परिवर्तन का कारण उन्होने नही बताया ।

निम्न गाथा मे मुनि के लिए देय पदार्थों की सूची दी गई है—

हिय मिय-मण्णं पाण णिरवज्जेसहिं णिराउल ठाणं।

सयणासणमुवयरण जाणिक्का देइ मोक्खरग्रो। 23।

मोक्षमार्ग मे स्थिर (गृहस्थ) (मुनि के लिए) हितकर परिमित अन्नपान, निर्दोष औषधि, निराकुल स्थान, शयन, आसन, उपकरण को समझकर देता है। (डा० देवेन्द्रकुमारजी ने भावार्थ मे उपकरण के बाद कोष्ठक मे "आदि" और लिखा है) मुनि के लिए शयन, आसन, उपकरण और आदि क्या है? आज मुनिगण अपने इन शयन आसन उपकरण आदि के नाम पर इतना परिग्रह रखते हैं कि उन्हे लाने लेजाने के लिए बड़ी २ बसें चाहिए। इतने परिग्रह को रखते हुए वे मुनि निर्ग्रथ दिगम्बर कैसे कहला सकते है?

निम्न गाथा मे सप्तक्षेत्रो मे दान देने का फल इस प्रकार बताया गया है—

इह णियसुवित्तबीय जो ववइ जिणुत्तसत्त खेत्तेसु।

सो तिहुवणरज्जफल भुजदि कल्लाणपचफल। 16।

इस लोक मे जो व्यक्ति निज श्रेष्ठ धन रूप बीज के जिनदेव द्वारा कथित सप्तक्षेत्रों मे बोता है वह तीन लोक के राज्य फल-पचकल्याणक रूप फल को भोगता है।

इन सप्तक्षेत्रो का किसी प्राचीन ग्रथ मे उल्लेख देखने में नही आया। डा० देवेन्द्रकुमारजी ने भावार्थ मे सप्तक्षेत्र इस प्रकार लिखे हैं। जिन पूजा 2 मन्दिर आदि की प्रतिष्ठा 3 तीर्थयात्रा 4 मुनि आदि पात्रो को दान देना 5 सहधर्मियों को दान देना 6 भूखे-प्यासे तथा दुखी जीवो को दान देना 7 अपने कुल व परिवार वालो को सवस्वदान करना। कुन्दकुन्दाचार्य उनके टीकाकार व अन्य आचार्यो के ग्रन्थो मे क्षेत्र के ये भेद देखने में नहीं आए। प्राचीन ग्रन्थों में उत्तम मध्यम एव जघन्य पात्रो के नाम से तीन भेद पात्रो के हैं फिर कुपात्र एव अपात्र हैं ये सप्तक्षेत्र कब से किस शास्त्रकार ने मान्य किए हैं, इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। इनमे अतिम चार क्षेत्र दत्तियों (पात्रदत्ति, समदत्ति, दयादति और अन्वयदत्ति) के नाम से आदिपुराण मे भरत चक्रवर्ती ने अवश्य बताए हैं। पुत्र परिवार को समस्त धन सपदा देना तीनलोक के राज्य फलस्वरूप पचकल्याण रूप फल अर्थात तीर्थंकर पद देता है ऐसा कुन्द-कुन्द या अन्य किसी आचार्य ने नही लिखा। सभी मनुष्य मरते समय या वैसे भी अपनी धन सपदा पुत्र परिवार को दे जाते हैं क्या वे तीर्थंकर प्रकृति के फल को पाते हैं? ऐसा कथन कर्म सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत है। स्वय डा० देवेन्द्रकुमारजी भी उक्त गाथा से सहमत नहीं दिखते है, इसी लिए उन्होने भावार्थ मे 'पचकल्लाणफल' का अर्थ नही दिया। उत्तम पात्र मुनि को धन देने के लिए कुन्दकुन्द जैसे निग्रथ तपस्वी कैसे कह सकते थे? उनकी गाथाओ मे तो मुनि को द्रव्य देना पापमूलक ही बताया गया है।

गाथा सख्या 2 मे सम्यग्दृष्टि का निम्न स्वरूप बताया है—

पुव्व जिर्णोहि भणिय जहट्ठिय गणहरेहि वित्थरिय।

पुव्वाइरियक्कमज त बोल्लइ सोहु सद्दिट्ठो।2।

(जो) पूर्वकाल मे सर्वज्ञ के द्वारा कहे हुए, गणधरो द्वारा विस्तृत तथा पूर्वाचार्यों के क्रम से प्राप्त वचन को ज्यो का त्यो बोलता है वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।

सम्यग्दृष्टि का ऐसा लक्षण इसी ग्रथ मे मिलता है अन्यत्र शायद ही मिले।

गृहस्थ के आवश्यक षट्कर्मों मे दान का अतिम स्थान है किन्तु रयणसार के कुन्दकुन्द दान को देव पूजा से भी पहले मुख्य स्थान देते हैं—

दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।

श्रावक के षट्कर्त्तव्यो का क्रम इस प्रकार है—देवपूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, सयम, तप और दान। दान का अन्तिम स्थान होते हुए भी स्वाध्याय, सयम, तपादि की सर्वथा उपेक्षा कर दान को प्रथम स्थान देना तथा 155 गाथाओ के ग्रथ मे दान की व्याख्या एव प्रशसा मे 30-31 गाथाए लिखना बताता है कि इस ग्रथकार को दान अतिप्रिय था। भट्टारकगण नाना प्रकारो से धन सग्रह किया करते थे। षट् कर्त्तव्यो मे दान को मुख्य एव प्रथम स्थान देना उसका सर्वोच्च फल-तीर्थकर पद एव निर्वाण आदि बताना केवल इसीलिए था कि भक्त लोग उन्हे दान देते रहे।

मेरा आशय यह नही है कि दान का कोई महत्व नही है। श्रावक के कर्त्तव्यो मे उसका अतिम स्थान है (जो कि तर्कसिद्ध एव बुद्धिगम्य भी है) उसको उसके बजाय प्रथम स्थान कैसे दिया गया ? इस ग्रथ मे श्रावक के अन्य आवश्यको, व्रतो, प्रतिमाओ का नामोल्लेख मात्र किया गया है।

इस ग्रथ की 7वी गाथा मे सम्यग्दृष्टि के चवालीस (सपादक के शब्दो मे दषण) न होना बताया है। 25 दोष, 7 व्यसन, 7 भय एव अतिक्रमण उल्लघन 5 इस प्रकार कुल 44 दोष बताए गए हैं। परम्परा मे सम्यग्दृष्टि के 25 दोषो का उल्लेख तो यथा प्रसग सर्वत्र मिलता है किन्तु इन 44 दोषो का उल्लेख अन्यत्र देखने मे नही आया। कुदकुदाचार्य के उत्तरवर्ती किसी आचार्य या टीकाकार ने इनका उल्लेख नही किया। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि उक्त आचार्यों के समक्ष यह रयणसार न रहा हो। अतिक्रमण-उल्लघन के 5 अतिचार कौन से हैं यह भी देखने मे नहीं आया। डा देवेन्द्रकुमार ने व्रत नियम के उल्लघनस्वरूप 5 अतिचार लिखे हैं। 12 व्रतो के 5–5 अतिचार होते हैं सो वे व्रत नियम के 5 अतिचार कौन से हैं यह स्पष्ट किए जाने की आवश्यकता है।

मुनि के लिए विभिन्न वस्तुओ में ममत्व का निषेध इस प्रकार किया गया है—

वसदी पडिमोवयरणे गणगच्छे समयसघजाइ कुले।
सिस्सपीड सिस्सछत्ते सुयजाते कप्पडे पुत्थे। 144
पिच्छे सत्थरणे इच्छासु लोहेण कुणइममयार।
यावच्च अट्टरुद्द ताव ण मु चेदी ण हु सोक्ख। 146

(यदि साधु वसतिका, प्रतिमोपकरण मे, गणगच्छ मे, शास्त्र सघ जाति कुल में, शिष्य-प्रतिशिष्य छात्र मे, सुत प्रपौत्र मे, कपडे मे, पोथी मे, पीछी मे, विस्तर मे, इच्छाओ मे लोभ से ममत्व करता है और जब तक आर्त्त रौद्र ध्यान नही छोडता है तब तक सुखी नही होता है।

क्या दिगम्बर जैन साधु कपडे, प्रतिमोपकरण, विस्तर आदि रखता है जो उनके प्रति ममत्व का फल बताया गया है। ये गाथाए किसी अदिगम्बर द्वारा लिखी हुई हो तो कोई आश्चर्य नही है। उक्त गाथा मे प्रयुक्त 'गण गच्छ' का गठन कुदकुद के बहुत काल बाद हुआ है। उमास्वामी ने अपने सूत्र 24 अध्याय 9 मे गणशब्द का प्रयोग उक्त गण-गच्छ के अर्थ मे नही किया है। डा० देवेन्द्रकुमारजी ने उमास्वामी के उक्त सूत्र का हवाला देते हुए कुदकुद कृत ही माना है किंतु उनके काल मे गण या गच्छो का गठन नही हुआ यह तो निश्चित ही है। उत्तरकालीन रचनाओ मे ही गण-गच्छ का प्रयोग मिलता है। इसीलिए डा० ए०एन० उपाध्ये, डा० हीरालालजी, प० जुगलकिशोरजी मुख्तार सदृश अधिकारी विद्वानो ने इस ग्रथ को कुदकुद की रचना मानने मे सदेह व्यक्त किया है।

ग्रथकार ने इस रयणसार को न पढने सुनने वाले को मिथ्या दृष्टि बताया है—

गथमिण जो ण दिट्ठइ ण हु मण्णइ ण हु
सुणेइ ण हु पढइ।
ण हु चितइ ण हु भावइ सो चेव हवेइ
कुदिट्ठी। 154।

जो व्यक्ति इस ग्रथ को नही देखता, नहीं मानता, नही सुनता, नही पढ़ता, नही चिंतन करता, नही भाता है वह व्यक्ति ही मिथ्यादृष्टि होता है।

क्या कु दकुन्द जैसे महान ग्रथकार इस रचना को न देखने न पढने, न सुनने न मानने वाले को मिथ्यादृष्टि बताते ? ऐसी गाथा की रचना तो अपने ग्रथ की महत्ता दिखाने के लिए भट्टारक ही कर सकते हैं न कि ससार त्यागी आत्मसाधना मे लीन कु दकु दाचार्य ।

इस ग्रथ मे ऐसी ही अन्य गाथाए हैं जिनका सूक्ष्म परीक्षण करने से इनमे विषमताए एव विपरीतता मिलेगी।

डा० देवेन्द्रकुमारजी ने अपनी प्रस्तावना मे इसे कु दकु द कृत मानने का प्रयास किया है। उन्होने प्रस्तावना के पृ० 92 पर 'रचनाए' शीर्षक पैरा मे लिखा है कि श्री जुगलकिशोर मुख्तार ने आचार्य कु दकु द की 22 रचनाओ का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है। इस सूची मे रयणसार का नाम भी है। इस सूची के साथ रयणसार के सम्बन्ध मे श्री मुख्तार सा का उक्त मत उद्धृत नही किया इससे पाठक यही समझें कि मुख्तार सा रयणसार को कु दकु द कृत ही मानते थे जब कि वास्तविक स्थिति दूसरी ही है।

डा० देवेन्द्रकुमार जो ने अनेकात के जनवरी मार्च ७६ के अक मे 'रयणसार-स्वाध्याय परम्परा मे' शीर्षक लेख मे लिखा है—"रयणसार नाम की एक अन्य कृति का उल्लेख दक्षिण भारत के भण्डारो की सूची मे हस्तलिखित ग्रथो मे किया गया है। श्री दिगम्बर जैन म चित्तामूर, साउथ आरकाड मद्रास प्रात मे स्थित शास्त्रभण्डार मे क्रम स० 39 मे प्राकृत भाषा के रयणसार ग्रथ का नामोल्लेख है और रचयिता का नाम वीरनन्दी है जो सस्कृत टीकाकार प्रतीत होते है। इस टीका की खोज करनी चाहिए।" समझ मे नही आया कि डाक्टर सा ने ग्रथ को बिना देखे ही कैसे मान लिया कि वीर नन्दी सस्कृत टीकाकार प्रतीत होते हैं जबकि उन्होंने स्वय सूची मे रचयिता के स्थान पर वीरनन्दी का नाम स्पष्ट लिखा हुआ बताया है। चू कि प्रति सामने नही है अत अन्य कल्पना करना ठीक नही है। फिर भी प्राप्त सूचनानुसार सूची मे प्राकृत भाषा के रयणसार के कर्ता का नाम वीरनन्दी है न कि कुन्दकुन्द। जब तक इसे गलत सिद्ध नही किया जावे इस सूची के वर्णन को सही मानना समीचीन होगा। मध्यकाल में वीरनन्दी हुए हैं उन्होने आचारसार लिखा था सम्भव है रयणसार भी उन्हीं का लिखा हुआ हो।

विद्वान् सम्पादक डा० देवेन्द्रकुमारजी ने इसकी कई गाथाए प्रक्षिप्त बतलाकर मूल ग्रन्थ से अलग प्रस्तुत की है किन्तु फिर भी ग्रथ मे कुछ गाथाए ऐसी और हैं जिन पर क्षेपक लिखा हुआ है अत इसके मूल अ श और क्षेपकाश का निर्णय हो पाना सहज नही है।

अत अ तरग बहिरग परीक्षण से यह ग्रथ वीतराग परम तपस्वी दिगम्बर कु दकु दाचार्य द्वारा लिखा हुआ नही मालूम होता अपितु किसी भट्टारक या और किसी द्वारा उनके नाम पर लिखा हुआ प्रतीत होता है।

विद्वानो से मेरा नम्र अनुरोध है कि वे इस ग्रथ का सम्यक् प्रकार से तुलनात्मक अध्ययन कर अपना मतव्य प्रस्तुत करे ताकि लोगो को सही स्थिति ज्ञात हो जावे।

*इसमे विषयो का व्यवस्थित वर्णन नही है। दान, सम्यग्दर्शन, मुनि, मुनिचर्या आदि का क्रमश वर्णन न होकर कभी दान का, कभी सम्यग्दर्शन का, कभी पूजन का, कभी मुनि का वर्णन इधर उधर अप्रासगिक रूप से असबद्ध रूप से मिलता है।)
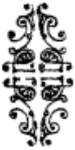
जैन भूगोल के अनुसार जम्बू द्वीप को भरत, हैमवत आदि सात क्षेत्रों में विभक्त करने वाले हिमवत्, महाहिमवत् आदि छह कुलाचल पर्वत हैं। प्रत्येक कुलाचल पर्वत पर एक-एक सरोवर है। उस सरोवर के मध्य में एक कमल है। हिमवन् पर्वतोपरि सरोवर का नाम पद्म है। इसके कमल में श्री देवी का सामानिक और पारिषद् जाति के देवों सहित निवास है। लौकिक परम्परा में श्री समृद्धि की प्रतीक है।

प्र० सम्पादक

प्राकृत साहित्य में श्री देवी की लोक परम्परा

❀ श्री रमेश जैन, बीकानेर

महावीर का झुकाव जन भावना को आदर देने का, अधिक रहा है। उन्होंने अपने शिष्यों को आदेश दिया था कि वे जिस जिस क्षेत्र और प्रदेश मे विहार करें, वहा की भाषा (क्षेत्रीय और प्रादेशिक) सीखे और प्रवचन करें। इसलिए उन्हे अठारह देशी भाषाओं का ज्ञाता होना आवश्यक कहा गया है। लोक-रुचि और लोक-भावना को आदर देने की मूलभित्ति पर जैन धर्म आधारित हैं। जैन-साधु और श्रावक के सीधे सम्पर्क, विभिन्न क्षेत्रो मे विहार करने के फलस्वरूप जैनाचार्यों द्वारा रचित साहित्य मे, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, लौकिक परम्पराओं एव धर्मों का आकलन, सहज ही हो गया है।

प्रजनन की दवी श्री के सन्दर्भ वैदिक साहित्य मे, प्रचुर मात्रा मे प्राप्त हैं। ईसा की 2री-3री शताब्दि तक श्री का श्रीलक्ष्मी मे समन्वय हो गया और श्री का मूल स्वरूप तिरोहित हो जाना प्रतीत होता है। किन्तु जैन साहित्य में प्राप्त सूचनाओं से ऐसा लगता है कि श्री देवी अपने मूल रूप मे लोक-परम्परा में सुरक्षित रहीं है। न केवल मूलस्वरूप की, अपितु पूजा-अर्चना, आयतन निर्माण इत्यादि की महत्वपूर्ण सूचनाए जैन साहित्य में सुरक्षित हैं। सर्वप्रथम हम वैदिक-साहित्य में वर्णित स्वरूप को प्रस्तुत करेंगे तत्पश्चात् प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य में श्री देवी के स्वरूप की विवेचना रखेंगे।

प्रजनन एवं समृद्धि की देवी श्री

प्रजनन की देवी के रूप मे सबसे पुराना उल्लेख 'वाजसनेयी संहिता' मे मिलता है। इसे कीचड में विकसित कमल से युक्त, समृद्धिदाता कहा गया है।[1]

ऐसा ही उल्लेख ऋग्वेद के खिल भाग मे आये श्री सूक्त (पावका मण्डल) में है जहां देवी को माता श्री क्ष्मा या पृथ्वी कहा है (देवी क्ष्मा या भूमि), श्री (देवी मातर श्रियम्)। इसे सब पशुओं की जनित्री और अन्नो की उत्पादियत्री कहा है (पशूनो रूपमन्नस्य मयि: श्री श्रयता यश)। यह कृषकों की सरक्षक देवी रही। इसके लिए 'आर्द्रा' विशेषण भी प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ ताजा, वृक्ष जैसा

हरा भरा, सजीव और इन गुणों द्वारा चेतना प्रदान करने वाली है।

इस प्रकार वैदिक साहित्य में इसे भौतिक समृद्धि दाता, कल्याणकारी, सौंदर्य, विजय, प्राभा, दैहिक सौंदर्य की अभिवृद्धि कर्त्ता, बीमारियों से रक्षा करने वाला आभूषण कहा है। अथर्ववेद में भी श्री देवी के समृद्धिदाता तथा पशु संरक्षक रूप की चर्चा है।[2] जहां इसकी प्रार्थना में गायों, खाद्य सामग्री, अन्न, समृद्धि, स्वर्ण दासी, स्वास्थ्य, सुख का निवेदन किया गया है।

रामायण के सुन्दर काण्ड (30/2) में हनुमान सीता को देखकर उन्हें पहले नन्दन वन का देवता समझ बैठते हैं (प्रवेक्षमाणस्ता देवी देवतामिव नन्दने)। इसमें भी मानव शरीर के सौन्दर्य-प्रतीक के रूप में श्री देवी का चित्रण मिलता है।

दूसरी ओर श्री और लक्ष्मी को विष्णु की पत्नी कहा गया है। महाभारत (विराट पर्व) में देवियों के परिगणन में विष्णु के साथ श्री, दामोदर के साथ लक्ष्मी, इन्द्र के साथ शचि का उल्लेख आया है। समन्वय की धारा शान्तिपर्व में भी दृष्टिगोचर होती है, जहां श्रीभूति और लक्ष्मी को एक कहा गया हैं। (भूतिलक्ष्मीति मामाहु श्रीरित्येवचवासव)।

प्राकृत साहित्य में श्री देवी

कुषाण कालीन प्राकृत ग्रन्थ अंगविज्जा' में श्री देवी को अभिलाषित या इच्छित की पूर्ति करने वाली देवी कहा है। अन्यत्र 'सिरिघर' या श्रीगृह का उल्लेख भी है।[3] मिलिन्द्र-प्रश्न', में (अ० ६/1) श्रीदेवता के धार्मिक सम्प्रदाय एव अनुयायियों की चर्चा है। ये अनुयायी 'भक्त' कहलाते थे। वृद्धवस में (II, 2/2) नन्द आराम में निर्मित 'सिरिघर' की चर्चा है।

'वसुदेव हिण्डी' में श्रीगृह का उल्लेख है जो रेवतक पर्वत के पास स्थित नन्दनवन में बना था। यहा पीठीका पर श्री देवी की प्रतिमा स्थापित थी। सत्यभामा ने आकर प्रार्थना की इच्छा पूरी होने पर समुचित पूजा-अर्चना करेगी। वसुदेव हिण्डी में श्री की मानवीय सौंदर्य के प्रतीक रूप में चित्रित किया गया है तथा सौन्दर्य के मापदण्ड के रूप में उसकी चर्चा है। श्रीवत्स युक्त प्रद्युम्न तथा धम्मिल आदि का वर्णन मिलता है।[4]

'कुवलयमालाकहा' में राजा दृढवर्मा की कुल परम्परा से चली आई भगवती राजश्री कुल-देवता का सन्दर्भ है। राजा कुलदेवी श्री की पूजा करके एक पुत्र पाने का वर पाते हैं। अर्थात् कुवलयमाला में हम सिरिदेवी या श्री देवी को सतानप्रदान करने वाली देवी के रूप मे पूजित होता पाते हैं। यहा इसे रायसिरि' और सिरी दोनो से सम्बोधित किया गया है।[5] धनपाल की तिलकमजरी में भी राजा द्वारा अपने (निजी उद्यान) प्रमदवन में श्री देवतागृह और उसमे स्थापित श्री की काष्ठप्रतिमा का उल्लेख है। यहा पुत्र-प्राप्ति के निमित्त श्री आयतन मे पूजा करने की, तथा श्री देवी द्वारा पुत्र प्रदान करने की चर्चा है। विशिष्ट बात यह है कि यहा भी राजश्री और श्री दोनों रूप में सन्दर्भ हैं।[6] अत ऐसा प्रतीत होता है कि जैन साहित्य में 'श्री' के अनेक रूप विकसित हुए। एक रूप राज्यश्री का था जो न केवल राज्य की समृद्धि का सूचक था अपितु राज परिवार की वृद्धि से सम्बद्ध था। अर्थात् श्री देवी प्रजनन की देवी की रूप मे लोक मे बराबर पूजित रही। दूसरी बात है, श्रीगृह या आयतन के निर्माण की श्रीदेवी के मन्दिर, आयतन को हम उद्यान में पाते हैं जो उसके प्रजनन-रूप की याद दिलाते हैं। जब उसका सम्बध आर्य-पूर्व से ही लोक में हरियाली, उत्पादन-की देवी के रूप में रहा। तीर्थंकर माता के स्वप्नों एव अष्टमगल द्रव्यों में से एक श्री देवी की परम्परा जैन साहित्य मे अक्षुण्ण रूप से मिलती है।

उद्यान मे श्री देवी का आयतन बनाने और

उसकी पूजा करके संतान प्राप्ति की लोक परम्परा की पुष्टि श्री चन्द के अपभ्रंश कहाकोसु (11 वी शती) से होती है।[7] पुत्र-प्राप्ति अथवा सन्तान-प्राप्ति के लिए मातृदेवी के रूप में पूजित इला देवी की चर्चा भी आख्यानमणिकोश प्राकृत ग्रन्थ मे आयी है।[8]

पुरातत्वीय या मूर्तिकला मे सिरि या श्री देवी अंकन बराबर मिलता रहा है। भरहुत (ई० पू० दूसरी शती) के पश्चिमी तोरण के एक स्तम्भ पर लेख सहित 'सिरिमा देवता' का अंकन प्राप्त है। डॉ० मोतीचन्द्र ने उस्मानाबाद के तेर स्थान से प्राप्त हाथीदांत पर उत्कीर्ण सिरिदेवी का उल्लेख भी किया है। देवगढ में भी श्रीदेवी का मातृदेवियों के रूप में अंकन प्राप्त है।[9]

इस प्रकार प्राकृत साहित्य में श्रीदेवी का स्वरूप मानवीय सौंदर्य के प्रतीक, एवं सन्तान प्रदान करने वाली देवी के रूप मे वर्णित है।

सदर्भ

1 तथा 2 'Shri' according to Mrs Hartmaun appears as distinct female deity in the 'Vajasneyi-Samhita' for the first time She was a pre Aryan goddess of fertility and other phenomena relating to it whose Symbol is the lotus growing in the mud and stirne and whose cult, Mythology and Iconography show a variety of true characteristics of the deities concerned with fertility and prosperity in general

—Dr Motichandra An-Ivory figure from Ter,
Lalit Kala No 8-Page one

3 'इट्ठे हि सिरी विण्णेया' अंगविज्जा अ 51 पृ० 205, तथा 'सुवकेसु सिरिघर गत बूया' अ० 57 पृ०222।

4 वसुदेवहिण्डी—डा० भोगीलाल जे० साडेसरा का गुजराती अनुवाद।

5 'अत्थि देवस्स महाराय-अस प्पसूया पुव्व पुरिस-सरोज्झा रायसिरि भगवई कुल-देवया तं समाराहिउ पुत्त वर पत्थेसु'ति।'—कुवलयमालाकहा–पृ० 13 पक्ति 28–29। और 'तओ सिरीए सलत्त'। 'नरवई वि लद्ध रायसिरि-वर-प्पसाओ विगओ देवहरयाओ'—पृ० 15 पक्ति 9 तथा 15।

6 विधेहितावन्मन्त्रजपविधिमाराधितप्रसन्नया राजलक्ष्म्या वितीर्णम्। आप्नोतु पुत्रवर-मियम्। धनपाल कृत–तिलक-मञ्जरी पृ० 33 तथा—'तत्र चातिप्रशस्तेऽहनि तथा योग्य मार्चित समस्त पूज्यवग परिपूर्णसर्वावयवा सर्वप्रतिमालक्षणोपेता सर्वालकारभूषितवपु-लता सर्वलोकनानन्दजननी सर्वदोष निर्मुक्तामत्युदारमुक्ताशैलदारु समवा भगवत्या श्रिय प्रतिकृति यथाविधि प्रतिष्ठाय।'—पृ०33-34।

7 'हिमगतपोमदह वासिणीए सिरियादेवीए सुहासिणीए' श्रीचन्द्रकृत 'कहकोसु' सधि 48 कडवक 4 से 6 तक विस्तार से देखें।

8 तत्थ इलादेवीए आययण विज्जइ जणपसिद्ध।
त च अणो कज्जथी पुत्ताइनिमित्तमच्चे इ। आख्यान मणिकोश पृ० 91 पक्ति 6 तथा विस्तार से देखें मेरा लेख—मातृदेवी इला परम्परा और विकास।

9 Dr Motichandra An Ivory figure from Ter,
Lalit Kala No. 8, Page one.

यह मानव जीवन

❀ कु० उषाकिरण, जबलपुर

यह मानव जीवन
है कितना दुर्लभ कितने हैं इसके आयाम
अस्तित्वों का ही
संघर्ष धरा पर
ढलती यूं ही जीवन की शाम
हर परिवेशों पर धूल जमी है
आत्विकता तो कूल पड़ी है
यह मन घृणा द्वेष के वातायन में
नित-प्रति रमता जाता है
मृगतृष्णा के भ्रमित नीर मे
खोजता फिरता पिपासा का निदान
कैशोर्य वयसंधि की गरिमा मे
पुरुषार्थ कहां त्याग क्षमा करुणा का धाम
बहुरंगी चुनरी के अवगुण्ठन मे
राष्ट्र की अवनति का धाम
सब अपनी ढपली ले
राग विहाग करे बेनाम
नारी जो लज्जावसना थी
सुखोपभोगो की दौड़ मे
विजयी होकर कैसी हो गई छलना
निज का ममत्व विसराकर करुणा
रत है देने मे रूप सौन्दर्य का दान
यूं ही आदर्शो की होड मे
बीता है अबतक जीवन लघुतम
यह मानव जीवन

विश्व के दर्शनों को मोटे रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है— 1 ईश्वरवादी और 2 अनीश्वरवादी। जैन और बौद्ध इस अर्थ में अनीश्वरवादी हैं कि वे इस विश्व का कोई कर्ता धर्ता एव मानवों को उनके अच्छे बुरे कर्मों के शुभाशुभ फलों का देने वाला कोई ईश्वर नहीं मानते। वे मानव की श्रम शक्ति पर विश्वास करते हैं। जीव जैसा कर्म करता है उसको वैसा ही फल स्वत मिलता है इसीलिए इनकी सस्कृति श्रम पर आधृत होने से श्रमण सस्कृति कहलाती है जिसका अर्थ है सब पर सम भाव रखने वाला परिश्रमशील तथा तपस्वी आदि। दूसरी धारा वैदिक है जो ईश्वरवादी है। लेखक के अनुसार दोनो धाराएं एक दूसरे की विरोधी न होकर परस्पर सहयोगी एव एक दूसरे की पूरक हैं।

प्र० सम्पादक

श्रम साधना और श्रमण संस्कृति

● डा० कृपाशंकर व्यास, शाजापुर (म. प्र.)

भारतीय सस्कृति की सरचना मे दो घटको का महत्वपूर्ण योगदान है। वे हैं (1) ब्राह्मण सस्कृति, (2) श्रमण सस्कृति। ब्राह्मण सस्कृति का सीधा सम्बन्ध वैदिक साहित्य से माना जाता है जिसमे याज्ञिक कार्यों का उल्लेख किया गया है। इस सस्कृति के प्रस्तोता के रूप मे वैदिक ऋषियो का उल्लेख मिलता है जबकि दूसरे घटक के पुरस्कर्ता के रूप मे चौबीस तीर्थंकरो का नाम लिया जाता है। श्रमण सस्कृति को वर्तमान रूप देने का श्रेय अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर को है। इन दोनो चिन्तन धाराओ ने यद्यपि भारतीय सस्कृति को सजाया, सवारा, और निखारा है किन्तु कुछ विद्वज्जन इन दोनो विचार सरणियो को एक दूसरे का सहयोगी मानने मे न केवल संकोच करते हैं अपितु एक दूसरे को परस्पर विरोधी विचारधारा वाली सस्कृति के रूप मे प्रतिपादित करने मे अपनी अहमन्यता मानते हैं। यह है भारतीय भूमि मे फलित दो सस्कृतियो का परिणाम। किन्तु यह शुभ सकेत है कि अनेक अनुसधित्सुओ ने यह सिद्ध करने का प्रशसनीय कार्य किया है कि दोनो चिन्तन धारायें एक दूसरे की विरोधी नही अपितु सहयोगी एव पूरक हैं और दोनो ने भारतीय सस्कृति के उदात्त महनीय, अनुकरणीय रूप को विकसित किया है जिसका प्रतिफल है कि आज भी विदेशी भारतीय सस्कृति के समक्ष श्रद्धावनत है।

व्याकरण सम्मत अर्थ

श्रमण सस्कृति ने भारतीय संस्कृति के उन्नयन मे कितना बहु आयामी एव बहु-सोपानी योगदान दिया है इसको स्पष्ट करने के लिये आवश्यक है कि "श्रमण" शब्द का व्याकरण सम्मत विवेचन

किया जाये। श्रमण शब्द की व्युत्पत्ति 'श्रम्' धातु से है जिसका अर्थ है स्वत परिश्रम करना, चेष्टा करना, प्रयत्न करना। "श्रम्" धातु मे अब 'धञ्' प्रत्यय लगता है तब "श्रम्" शब्द की सिद्धि होती है। 'श्रम्' धातु के साथ "युच्' प्रत्यय लगने पर विशेषण श्रमण बनता है जिसका अर्थ है परिश्रमी, मेहनती, सन्यासी आदि (विशेष द्रष्टव्य सस्कृत हिन्दी कोश-वामन शिवराम आप्टे पृ० 1135) इस व्याकरण सम्मत अर्थ के कारण श्रमण सस्कृति परिश्रमी व्यक्ति की सस्कृति की पर्याय सिद्ध होती है। यदि इसी अर्थवत्ता के आधार पर "श्रमण सस्कृति" का मूल्याकन किया जाये तो इस सस्कृति को पूर्ण-रूपेण भौतिकवादी सस्कृति होना चाहिये था किन्तु यथार्थता इससे परे है।

जैन ग्रन्थ और श्रमण शब्द

श्रमण सस्कृति नैतिक आध्यात्मिक व्याख्या पुरस्सर करने वाली सस्कृति है। अत श्रमण शब्द का प्रयोग इस सस्कृति के सदर्भ मे किस रूप मे प्रतिपादित किया गया है इसका अवलोकन जैन ग्रन्थो मे करना नितात आवश्यक है। जैन ग्रन्थो में भगवान महावीर के लिये 'समण' शब्द का प्रयोग किया गया है। "समणे भगवन् महावीरे"। भगवान् महावीर के लिये श्रमण शब्द विशिष्ट अर्थ एव ध्वनि वाला है। उत्तराध्ययन मे—

"समयाए समणो होइ"

का स्पष्ट उल्लेख है जिसकी ध्वनि है कि समता के सिद्धान्त का परिपालन करने वाला ही यथार्थत श्रमण पद का अधिकारी है। इसी मत की पुष्टि उत्तराध्ययन की चूर्णिका मे भी की गई है। कथन है—

"समो सव्वत्थ मणो जस्स भवति स समणो" जिसका मन सर्वत्र समभाव से स्थित रहता है वही समण (श्रमण) है।)

कालान्तर मे "समण" शब्द अपने प्रतिपाद्य अर्थ से दूर न हो जाये सम्भवत इसी कारण से अनुयोग द्वार सूत्र में "समण" शब्द की विस्तृत व्याख्या की गई है। कथन है—

"तो समणो जइ सुमणो, भावेण य जइ ण पावमणो"
सयणे म जणे म समो, समो म माणाव-
माणेसु" अनु 132

(जो मन से सु-मन (निर्मल मनवाला) है सकल्प मात्र से भी जो कभी पापोन्मुख नही होता, स्वजन तथा परजन मे, मान एव अपमान मे सदा सम रहता है वही "समण" होता है।

महावीर और श्रमण शब्द

उपरिविवेचन से स्पष्ट है कि अन्य तीर्थंकरो की अपेक्षा भगवान् महावीर के जीवन एव कार्य-कलापो मे समता का स्थान सर्वोपरि था। उनके हृदय मे स्वकल्याण की अपेक्षा पर कल्याण की भावना विशेष बलवती थी। सभी जीवो के प्रति उनकी दृष्टि कारुण्यमयी उदात्त थी। ऊच-नीच छोटा-बडा किसी भी प्रकार का विभेदात्मक विचार उनके विशाल हृदय को छू भी नही पाया था। ससार के सभी प्राणियों को जन्म मरण के भव-चक्र से मुक्त कराने के लिये सतत् उनका अन्तस्तल छटपटाता रहता था। जीवन मे जब कभी किसी प्राणी को उनकी दयामयी दृष्टि की आवश्यकता पडी वे सदा उसके रक्षक रूप मे प्रस्तुत रहे। चन्दनबाला की मुक्ति गाथा उनकी इसी उदात्तमयी भावना की ही प्रतीक है।

जैन ग्रन्थो मे भगवान महावीर के लिये न केवल "समण" शब्द का प्रयोग मिलता है अपितु 'महासमण" भी प्राप्त है। जो कि भगवान् महावीर की 'सर्वजन हिताय" भावना का ही द्योतक माना जा सकता है। भगवान् अपने जीवन मे अनेक झझावातो से जूझते हुये कभी भी "समता" के सिद्धान्त से विचलित नही हो सके। चण्डकौशिक सर्प की गाथा इसी 'महा समता" की गाथा है।

श्रमण शब्द की उपरि व्याख्या के अतिरिक्त यदि व्याकरण सम्मत अर्थ परिप्रेक्ष्य में भी श्रमण संस्कृति के उन्नायक भगवान महावीर के जीवन की घटनाओं का मूल्यांकन किया जावे तो भी "श्रमण संस्कृति" अपनी गरिमामयी अर्थवत्ता से अलग नहीं होती है। श्रमण संस्कृति दूसरों को कष्ट देने में और स्वत सुख के उपभोग में विश्वास नही करती है अपितु इसके विपरीत "स्वत के श्रमसाध्य फल प्राप्ति" के अमोघ मंत्र के प्रति पूर्ण निष्ठा रखती है। व्यक्ति उन्नति के चरम सोपान पर उसी समय पहुच सकता है जब वह आस्थावान होकर श्रम करे, परावलवन का हिमायती न बनकर स्वावलबन को जीवन का आदर्श माने। आलस्यमयी जीवन से सदा दूर रहे अन्यथा 'श्रमण" होकर के भी व्यक्ति "पापी हो जायेगा।

पावापुरी के अ तिम प्रवचन मे तो भगवान महावीर की स्पष्ट उक्ति है—

"जे कई उ पव्वइए, निद्दासीले पगामसो।
भोच्चा पिच्चा सुह सुमइ पावसमणे त्ति वुच्चई ।।

जो व्यक्ति प्रव्रजित होकर भी रातदिन निद्रा लेता रहता है, आलस्य मे सदा आमग्न रहता है और खा पीकर मस्त रहता है वह चाहे श्रमण ही क्यो न हो ऐसे श्रमहीन श्रमण "पापी श्रमण" कहलाते है।

श्रम की प्रतिष्ठा में इससे अधिक सुन्दर और महनीय कथन और क्या सभव है। महावीर ने जीवन मे जो कुछ अनुभव किया उसे शब्दों मे अभिव्यक्त कर प्राणीमात्र को सचेत किया है कि जीवन की सार्थकता "श्रम" मे ही है। "श्रम" ही एक मात्र माध्यम है जिससे प्राणी अपने गन्तव्य पर पहुच सकता है। बाह्याडबर एव आलस से मनुष्य चाहे भिक्षु का चोगा क्यो न पहिन ले किन्तु वह यथार्थ मे 'श्रमण" पद का अधिकारी नही हो सकता है। इसी कारण उन्होने श्रम की महत्ता प्रतिपादित की है और श्रम को अपने जीवन मे अक्षरश उतारा था। तभी वे "महाश्रमण" के महनीय पद के यथार्थ अधिकारी बने।

श्रम का आध्यात्मिक अर्थ

कुछ विद्वत्जन 'श्रम' शब्द का आध्यात्मिक अर्थ 'तप" करते हैं। उन्होने सात्विक श्रम को तपश्चर्या माना है। उनके मतानुसार व्यक्ति तप द्वारा शरीर को तपाता है, कसता है और वही श्रमण पद का अधिकारी होता है। जैन दर्शन मे तप का अर्थ केवल "उपवास" या मात्र ध्यान लगाना नही है अपितु 'तप" शब्द का एक विशिष्ट विस्तृत अर्थ है जो कि जीवन की प्रत्येक समस्या का हल प्रस्तुत कर सकता है। अत व्यक्ति आध्यात्मिक उन्नति हेतु तप का सम्बल ले यही जैन दर्शन का अभिप्राय है। यह अवश्य है कि तप के साथ अन्य नैतिक आस्थाये भी जुडी हैं जिन्हे मानना व्यक्ति के लिए आवश्यक है। इस प्रकार तप और श्रम की एकरूपता सिद्ध होती है।

कर्म और श्रम

'श्रम' शब्द की अर्थवत्ता विवेचन पश्चात् यह स्पष्ट है कि 'श्रम" का सीधा सबध व्यक्ति के 'कमभाव से है। व्यक्ति जैसा कर्म करेगा फल भी उसे वैसा ही मिलेगा। कर्म करने का श्रम ही व्यक्ति को उन्नति या पतन के मार्ग पर ले जाने मे समर्थ है। यदि व्यक्ति का श्रम उदात्तमयी भावना स होता है तो श्रम शील का आध्यात्मिक कल्याण सभव है किन्तु इसके विपरीत भावना से प्रेरित श्रम व्यक्ति को पतनोन्मुख कर सकता है। इसी कारण भगवान महावीर श्रम के साथ उदात्तमयी भावना के भी हिमायती थे। उनकी भावना थी जन कल्याण की। उनकी इसी भावना के कारण ही प्रबुद्ध विचारक आचार्य समन्तभद्र ने महावीर के उदात्तमय श्रम को सर्वोदय शासन कहा है—

"सर्वापदामन्तकर निरन्त सर्वोदयं तीर्थमिद तवैव"

इसी जन कल्याणमयी भावना की प्रस्तुति अथर्ववेद मे भी मिलती है—

"श्रमेण लोकास्तपसा पिपर्ति"

अथर्व 11-5-4 (सूक्ति त्रिवेणी)

(ब्रह्मचारी अपने श्रम एव तप से लोगो की अथवा विश्व की रक्षा करता है।)

यदि आज मानव इस बहुअर्थी श्रम के सिद्धात को जीवन मे साकार रूप दे दे तो समाज एव राष्ट्र ही नहीं अपितु विश्व की मानव जाति में एक रूपता आ सकती है और वर्तमान मे राष्ट्रो का जो विध्वसक रूप है वह भी अतीत का विषय बन सकता है। तभी प्रत्येक मानव सच्चे अर्थ में भारतीय सस्कृति (श्रमण सस्कृति) का अनुयायी होकर श्रमण शब्द का अधिकारी हो सकता है कथन है—

"समे य जे सव्वपाण भूतेषु से हु समणे"

प्र व्या 2-5

जो समस्त प्राणियो के प्रति समभाव रखता है वस्तुत: वही श्रमण है। ●

: : कब वे दिन दिखेंगे : :

श्री मंगल जैन 'प्रेमी' जबलपुर

पानी और दूध ···
घनिष्ठ मित्र
मिलकर एक रूप होते हैं,
एक दूसरे के अनुरूप होते हैं,
अग्नि पर तपते समय—
(दुखो को झेलते समय)
पानी दूध के साथ·
सच्ची मित्रता निभाता है,
स्वय वाष्पीकृत हो उडता··
पर दूध को जलने से बचाता है,
दूध मित्रता का·
बोध कराता है··
पानी को उड़ते देख,
अपने से विलग होते देख,
उफना उठता है,
मित्र को रोकने आतुर हो उठता है,
तब पानी के चद छींटे—
दूध का उफान शात करते हैं,
जैसे मित्र, मित्र से—
गले मिलते है,
तब लगता है··
कब दिन वे दिखेगे ?
जब—
मानव,
मानव के मित्र बनेगे ?

जैन मेला 1976

सभा की कार्यकारिणी के सदस्यो की सगीत कुर्सी प्रतियोगिता का एक दृश्य ↓

↑ महिलाओ की सगीत कुर्सी प्रतियोगिता का एक दृश्य

बालको की जलेबी दौड का एक दृश्य
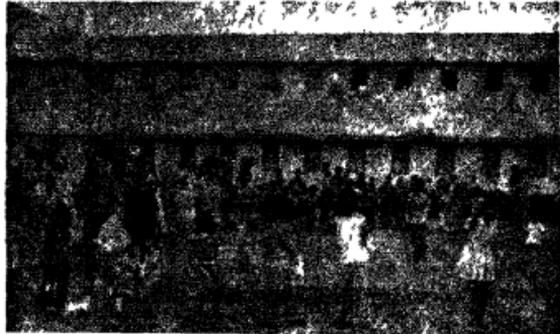
डा० पाठक उन अध्ययनशील अजैन विद्वानों में से एक हैं जिन्होंने भगवान महावीर पर शोध प्रबन्ध लिखकर पी. एच. डी. की डिग्री प्राप्त की है। अपना यह शोध प्रबन्ध आपने मुद्रित भी करा दिया है। प्रस्तुत लेख में भगवान महावीर सम्बन्धी कुछ मूर्तिलेखों का और शिलालेखों परिचय प्रस्तुत करते हुए ऐसे लेखों के उजागर करने की आवश्यकता प्रतिपादित की है। वास्तव में जैन मूर्तिलेखों का इतिहास की दृष्टि से बहुत बड़ा महत्व है। भारतीय इतिहास की कई विलुप्त कड़ियां इससे जोड़ी जा सकती हैं। खेद है इस महत्वपूर्ण कार्य की ओर समाज ने नहीं के बराबर ध्यान दिया है।

—प्र० सम्पादक

भगवान महावीर: मूर्तिलेखों व शिलालेखों में

डा० शोभनाथ पाठक, मेघनगर

सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य के सम्बल से समाज को सवारने वाले २४वें तीर्थंकर भगवान महावीर की लोक व्यापकता को आकना आसान नही है। भारतीय जन-जीवन मे समाविष्ट उनकी समष्टिगत गरिमा को कलाकारो ने अपने आन्तरिक उफान के छलकाव को विविध मूर्तिलेखो व शिलालेखों के रूप मे उकेर कर उजागर किया है, जिसका सक्षिप्त विवरण यहा प्रस्तुत किया जा रहा है।

मूर्तिलेखो मे महावीर की महत्ता शतधा होकर प्रस्फुटित हुई है। अतीत के उथल पुथल से हमारी यह थाती अस्त-व्यस्त हो गई, पर सजगता के साथ खोजी गई कुछ उपलब्धियां अद्वितीय हैं। मूर्ति रूप में तराशी गई महावीर की प्रतिमा देश के कोने-कोने में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी है, आज आवश्यकता है शोध व उत्खनन के आधार पर उसे उजागर करने की। हा उक्त आधार पर कुछ उपलब्धियों का सक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत है।

मथुरा के कङ्काली टीले की खुदाई में महावीर से सम्बन्धित अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। महावीर के जन्म वृत्तान्त का विवेचन प्लेट न. १८ की मूर्ति से होता है जिस पर विशेष प्रकाश डा० बूहलर ने डाला है।[1] इसी प्रकार वर्धमान के साधुत्व जीवन पर प्रकाश प्लेट नं 17 (XVII) से पडता है जिसमे वे उपदेश देते हुए बताये गये हैं। मूर्ति में तीन श्रोताओं का स्पष्ट आभास होता है। महावीर की हाथ उठाये हुए मुद्रा-गांभीर्य-सत्यशील की द्योतक मानो पांचों महाव्रतों को उगल रही है। इसी मूर्ति के साथ अर्थात् प्लेट न० 17 के समीप महावीर अन्य तीन तीर्थंकरो के साथ बडी बारीकी से शान्त मुद्रा मे उकेरे गये हैं।[2] दिल्ली सग्रह के क्र. 48-413 की महावीर प्रतिमा भी अनूठी है।

ककाली टीले से महावीर की एक अति सुन्दर प्रतिमा लगभग 53 ई. पू. की मिली है। मथुरा सग्रहालय की महावीर प्रतिमा क्र 2126 जो 9 इन्च ऊंची एक पीठिका पर प्रतिष्ठित है,

अत्यधिक शान्त मुद्रा में दर्शकों को मोह लेती है। इसके पादपीठ में खुदे हुए अधूरे लेख में वर्द्धमान नाम स्पष्ट है, किन्तु समय निश्चित नहीं हुआ है।[3]

महावीर की मूर्तियों मे उनका प्रतीक सिंह भी यह पहचान कराता है कि यह महावीर प्रतिमा ही है ककाली टीले से प्राप्त प्लेट क्र LXXXV की प्रतिमा बिना सिंह प्रतीक के बरबस ही पारखियो को असमंजस मे डाल देती है। कङ्काली की प्लेट क्र. LXXXVII की मूर्ति जो बिना सिर की है, इसके हाथों की भाव मुद्रा से स्पष्ट हो जाता है कि यह महावीर की मूर्ति है। इसी प्रकार प्लेट क्र. XC तीन तीर्थंकरो की प्रतिमा मे मध्यवाली सिंह प्रतीक संजोये महावीर महत्ता को उजागर करती है।[4]

तेईस तीर्थंकरों से घिरी हुई कङ्काली टीले के प्लेट क्र XCIV की महावीर प्रतिमा अत्यधिक सुघर सलोनी है।[5] मथुरा के कङ्काली टीले से प्राप्त महावीर की अनेक पद्मासन मूर्तिया अत्यधिक आकर्षक हैं। यहा पुरातत्व का पर्याप्त भण्डार है।

भारत कला भवन वाराणसी मे संगृहीत क्र 161 की मूर्ति जो ध्यान मुद्रा में आसीन है, और पीठिका मे धर्मचक्र तथा उसके दोनो ओर सिंह हैं, उनके गांभीर्य भाव को उजागर करती है।[6] उडीसा से प्राप्त महावीर की, ऋषभदेव के साथ खडी प्रतिमा प्रथम व अन्तिम तीर्थंकर की गरिमा पर प्रकाश डालती है।[7]

प्राचीनकाल मे भगवान महावीर की वीतराग मूर्ति का पर्याप्त प्रचार था, यह तथ्य हाथी गुम्फा, खण्डगिरि, उदयगिरि आदि की महावीर प्रतिमाओ से स्पष्ट होता है। कागली जि बेलारी से प्राप्त महावीर की खड्गासन (खडी) प्रतिमा तथा दूसरी पीठिका पर धातु की पद्मासन प्रतिमा अत्यधिक आकर्षक है। दक्षिण मे अनेक आकर्षक महावीर की प्रतिमाए प्राप्त हुई हैं।[8]

दमोह मध्यप्रदेश की महावीर प्रतिमा अत्यधिक आकर्षक है। म प्र के अन्य भागों में भी तथा देश के कोने-कोने में महावीर की प्राचीनतम मूर्तियां शोध का विषय बनी हुई हैं। इन सबका समन्वित संग्रह तैयार कराने की आवश्यकता है।

शिलालेखो मे महावीर

पाषाण शिलाओं में महावीर कथा के अनेक भाव सजोये गये हैं। यहा प्रमुख शिलालेखो पर प्रकाश डाला जा रहा है। हाथीगुम्फा के शिलालेख इस क्षेत्र मे अग्रगण्य है। एक शिलालेख में खारवेल के शारीरिक सौन्दर्य की तुलना महावीर के सौन्दर्य से की गई है।[9]

बाडली (राजस्थान) से प्राप्त महावीर विषयक शिलालेख अति प्राचीन है जिसे काशीप्रसाद जायसवाल ने 374 ई० पू० का माना है।[10] राजगृह के मणियार मठवाले शिलालेख मे यद्यपि महावीर का उल्लेख नही है, परन्तु उसका सबध उनसे अवश्य है। महावीर का प्रथम उपदेश विपुल पर्वत पर हुआ था, जहा पर प्राप्त एक शिलालेख पूर्ण तो नहीं है किन्तु उसका निम्न भाग विचारणीय है जो इस प्रकार है।

'पर्वतो विपुल राजा श्रेणिक" इससे स्पष्ट होता है कि यह राजा श्रेणिक का महावीर के समवशरण में जाने से सम्बद्ध है।

कङ्काली टीला मथुरा से अनेक महावीर विषयक शिलालेख प्राप्त हुए हैं जिस पर उनकी स्तुतियां की गई हैं।[11] आडूर (धारवाड) के कीर्तिवर्मा प्रथम के शिलालेख में महावीर को लक्ष्यकर मगलाचरण किया गया है।

दानसाले के (1103) ई० चालुक्य सामन्त सान्तारदेव तैल जो भगवान पार्श्व के वंश में जन्मे थे, उनके शिलालेख में महावीर व गौतम गणधर का उल्लेख है।[12]

लगभग 1209 ई० के रट्टवंश के राजा लक्ष्मी देव की रानी चन्द्रिकादेवी ने, अपने असाध्य रोग से मुक्ति पाने की कामना से, भगवान महावीर का एक मन्दिर बनवाया तथा उसमे महावीर की मूर्ति प्रतिष्ठित कर नित्य आराधना करती। महावीर के प्रति असीम श्रद्धा व भक्ति के परिणामस्वरूप वे रोग मुक्त हो गई।[13]

भीनमाल मे सन् 1277 ई० का एक स्तम्भ लेख जयकुप झील के उत्तरी किनारे पर है, जिसमे महावीर के श्रीमाल नगर मे आने का उल्लेख है।[14] इस लेख को कायस्थो के नैगमकुल के वाहिका राज्याध्यक्ष श्री सुभट आदि ने महावीर की वार्षिक पूजा व रथयात्रा के प्रसग में उत्कीर्ण कराया था।[15]

श्रवण बेलगोल के सिद्धरवस्ती के स्तम्भ लेख मे महावीर का स्मरण किया गया है यथा: -

वीरो विशष्टाम विनयायराती
मिति त्रैलोकेरमिवष्टनंतेय: ।
निरस्तकम्मा निखिलार्थवेदी
पायादसौं प्रश्चिम तीर्थ नाथि ।
तस्याभवन् सदसि वीर जिनस्य
सिद्ध सप्तर्द्धयो गणधरा .
ये चार्यान्त शुभ दर्शन
बोध वृत्ते मिथ्यात्र्ययादपि ... .

देश के कोने कोने में महावीर विषयक अनेक मूर्ति व शिलालेख अभी अतल के गर्भ में उजागार होने की बाट जोह रहे हैं।

---

1 "The Jain stupas and other Antiquities of Mathura"
(By V. A Smith Plate XVIII Page 25-26)
2 वही प्लेट XVII पृष्ठ 24
3 'नवनीत' मासिक बम्बई जून 1973 पृष्ठ 78
4 Jain stupa and other Antiquities of Mathura Page 46
5 " " " Page 52
6 नवनीत मासिक बम्बई जून 1973 पृष्ठ 78
7 प्रिन्स अल्वर्ट एण्ड विक्टोरिया सग्रहालय, लदन
8 अहिंसा वाणी, अप्रेल-मई, 1956
9 i e. one who like (Prine) Vardhman in his boy hood
JBORS, Vol XIII 1927 P. 224, K P J.
10 जर्नल आव दी विहार एण्ड उडीसा रिसर्च सोसायटी भा. 16 (1930)
11 'नमो अरहन्तो वर्द्धमानम' जैन शिलालेख सग्रह भाग 2
12 "वर्द्धमान स्वामिगल तीर्थवर्त्ति....... पूर्व पृ. 369-370
13 इन्सक्रप्सन्स इन नार्दर्न कर्णाटक पृ 15
14 य पुरात्र महास्थाने श्रीमाले सुसमागत । सदेव श्री महावीर...... ...
15 दी गजेटियर आफ दी बम्बई प्रेसीडेन्सी, भाग 1, खड 1, पृष्ठ 480

एक सत्य का द्वार

—श्री भवानीशंकर, जबलपुर

एक दृष्टि है जिसमे दृश्य सभी चलते हैं
एक हृदय है जिसमें सुख-दुख सब पलते हैं
एक आइना है जिसमे हर बिम्ब उभरता.
एक बिन्दु है जिसमे सिन्धु सभी ढलते हैं.

एक लहर है जिसमें दुनिया लहराई है.
एक सतह है जिसमे असीम गहराई है
एक बूंद है जो हर प्यास बुझा देती है.
एक किरण है जो सारे तम पर छाई है

एक सत्य का द्वार युगो से खुला हुआ है.
एक प्राण सबकी सांसो में घुला हुआ है
लेकिन हम सब भूल गए हैं उस दीपक को
जो कि हमारे ही कमरे मे जला हुआ है

हम अतृप्तियो को जीते हैं जीवन-जल में
हम डूबे रहते हैं आने वाले कल में.
कागज के फूलो का है विश्वास हमारा.
हम सुख की सुगन्ध अनुभव करते हैं छल मे.

मृगमरीचिकाओ मे शान्ति नहीं मिलती है
विश्वासों की उम्र यहा तिल-तिल जलती है.
अंधकार के पार द्वार खोलो प्रकाश का
सुबह जहां विस्तार दिवस का ले चलती है

खारवेल का हाथी गुम्फा वाला लेख जैन इतिहास की दृष्टि से ही नहीं भारतीय इतिहास की दृष्टि से भी बड़ा महत्वपूर्ण है। यह अब तक प्राप्त शिलालेखों में प्राचीनतम है। विद्वानों को इसके ठीक ठीक पढ़ने में ही सौ वर्ष का दीर्घ काल लगा। धन्य हैं वे लोग जिन्होंने इतना श्रम साध्य कार्य सम्पन्न किया। उसी महत्वपूर्ण लेख की संस्कृत छाया और हिन्दी अनुवाद श्री नीरज और डॉ अग्रवाल ने मिल कर बड़े परिश्रम से तैयार किया जिसे पाठक स्मारिका के गतांक में पढ़ चुके हैं। उसी कड़ी में यह निबन्ध है। विद्वान् लेखकों ने कड़े परिश्रम द्वारा कई पुष्ट प्रमाणों से खारवेल का राज्यारोहण काल ईसा पूर्व प्रथम शती के अन्तिम चरण में 20 ईसा पूर्व के आसपास सुनिश्चित किया है।

प्र सम्पादक

खारवेल की तिथि

❀ श्री नीरज जैन, एम ए,
तथा डॉ. कन्हैयालाल अग्रवाल, सतना

दो हजार वर्ष प्राचीन हाथीगुम्फा अभिलेख खण्डगिरि-उदयगिरि पर्वत के दक्षिण की ओर लाल बलुवे पत्थर की एक चौड़ी प्राकृतिक गुहा में उत्कीर्ण है। इसमे सत्रह पंक्तियां हैं। यह अभिलेख पहली बार स्टर्लिंग द्वारा 1820 ई० मे प्रकाश मे आया। तब से 1927 ई० तक इसके सशोधित पाठ समय-समय पर प्रकाशित होते रहे। इस प्रकार पुरातत्त्ववेत्ताओ को विवेच्य अभिलेख पढने और समझने मे लगभग एक शती (1820 ई० से 1927 ई०) का दीर्घकाल लगा। इस अभिलेख मे कलिंग चक्रवर्ती जैन सम्राट खारवेल के व्यक्तित्व और शासनकाल की घटनाओ का विस्तृत परिचय दिया गया है। इसकी एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमे खारवेल के शासन के प्रतिवर्ष की घटनाओ का उल्लेख किया गया है जिसका वर्णन हम महावीर जयन्ती स्मारिका, 1975 में प्रकाशित अपने 'हाथीगुम्फा अभिलेख की विषयवस्तु' शीर्षक लेख मे कर चुके हैं। लेख शृ खला की दूसरी किश्त महावीर जयन्ती स्मारिका, 19 ·6 मे 'खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलख' शीर्षक से प्रकाशित हुई थी। इस लेख मे शिलालेख का मूलपाठ सस्कृतच्छाया और हिन्दी अनुवाद दिया गया था। उसी क्रम में यह तीसरा शोध लेख प्रस्तुत है जिसमे खारवेल की राज्यारोहण तिथि पर विचार किया गया है।

प्राचीन भारतीय इतिहास की सम्पूर्ण समस्याओ में शासकों की तिथियां अत्यन्त विवादास्पद हैं। इसका मुख्य कारण साहित्यिक या पुरातात्त्विक सामग्री मे संवत् आदि का उल्लेख न होना ही है। अनिर्णीत तिथियो की इसी शृ खला में खारवेल की तिथि भी है। हाथीगुम्फा अभिलेख से खारवेल के जीवनचरित पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। अभिलेख उसके जीवन की प्रतिवर्ष की

घटनाओं का तो वर्णन करता है किन्तु उसकी राज्यारोहण तिथि के सम्बन्ध में वह मौन है। तो भी, परोक्षरूप से अभिलेख मे कुछ ऐसे सन्दर्भ उपलब्ध हैं जिनके आधार पर हम किसी निष्कर्ष तक पहुच सकते हैं। उक्त सन्दर्भों के पाठ प्राय सभी विद्वानो ने स्वीकार कर लिये हैं अत उन्हें असदिग्ध कहा जा सकता है। ये निम्नांकित हैं .—

1 चौथी पक्ति मे 'सातकर्णि' का उल्लेख है कि 'उसकी कुछ चिन्ता न करते हुए उसने पश्चिम दिशा की ओर आक्रमण करने के लिये अश्व, गज, पैदल और रथवाली एक विशाल सेना भेजी।'

2 बारहवीं पक्ति मे कहा गया है कि 'मगधराज वृहस्पतिमित्र से चरणवन्दना करायी। नन्दराज द्वारा ले जायी गयी कलिंग-जिन (की प्रतिमा) को स्थापित किया।'

3 पक्ति छ मे वर्णन मिलता है कि पाचवें वर्ष मे नन्दराज द्वारा 300 वर्षों (ति वस-सत) पूर्व बनवायी गयी तृणसूर्य मार्गीया प्रणाली को नगर (राजधानी) तक लाया।'

उपरिवर्णित 'सातकर्णि' 'वहसतिमित' और 'नन्दराज' मे से किसी एक की भी पहचान खारवेल की तिथि निश्चित करने में सहायक हो सकती है। अत अब हम उन पर विचार करेंगे—

सातकर्णि

हाथीगुम्फा अभिलेख मे उल्लिखित सातकर्णि का अभिज्ञान आन्ध्र-सातवाहन वश के तीसरे शासक सातकर्णि प्रथम से किया गया है।[1] इस सातकर्णि के सम्बन्ध मे निम्नांकित तथ्य विचारणीय है

1 वह नागनिका के नानाघाट अभिलेख मे उल्लिखित सिमुक का पुत्र या भतीजा और दक्खन का राजा था जिसे लेख मे 'दक्षिणापथपति' कहा गया है।

2 वह पश्चिम का राजा था और उसकी रक्षा कलिंग नरेश खारवेल ने की थी।

3 वही सॉंची अभिलेख का राजा सातकर्णि था।[2]

4 पेरिप्लस मे उसका उल्लेख हुआ है।

5 वह भारतीय साहित्य मे वर्णित प्रतिष्ठान का राजा और शक्तिकुमार का पिता था।

6 वह मुद्राओं का 'सिरि-सात' है।

उपरिवर्णित तथ्यो मे से तीसरे तथ्य के सम्बन्ध मे मार्शल का कथन है कि नानाघाट और हाथीगुम्फा अभिलेखो मे उल्लिखित सातकर्णि ई० पू० दूसरी शती मे हुआ। उस समय साची पर शु गो का आधिपत्य था। अत साची पर शु गो का स्वामित्व सम्भव नही प्रतीत होता। किन्तु हाथीगुम्फा अभिलेख ई० पू० पहली शती का है, तब तक शु गो का पतन हो चुका था और कण्व वश वहा शासन कर रहा था। इसी वश का अन्तिम शासक सुशर्मा सातवाहन वश के पहले शासक सिमुक द्वारा अपदस्थ कर दिया गया। सिमुक के बाद उसका भाई कृष्ण गद्दी पर बैठा। सातकर्णि उसी का उत्तराधिकारी था।

अगर प्रस्तुत सातकर्णि का समय या सिंहासनारोहण तिथि ज्ञात की जा सके तो खारवेल की तिथि की समस्या हल हो सकती है। पौराणिक साक्ष्य से विदित होता है कि 30 राजाओं ने

460 वर्षों तक शासन किया और सातवाहन सत्ता का पतन 225 ई० के लगभग हुआ।[3] अत (460–225)=235 ई० पू० में सातवाहन शक्ति का अभ्युदय हुआ और इसी समय उनका पहला शासक सिमुक गद्दी पर बैठा। अतः 235 ई० पू० में प्रथम दो शासको का शासनकाल (23+18) घटाने पर 194 ई० पू० की तिथि शेष बचती है। इसी समय सातकर्णि प्रथम सत्ता मे आया। किन्तु इस तिथि पर गम्भीर आपत्तिया व्यक्त की गयी हैं। पहली, सातवाहन वश के सम्पूर्ण शासको और उनकी शासनावधि के सम्बन्ध मे सभी पुराण एकमत नहीं हैं। उदाहरणार्थ मत्स्यपुराण मे 19 राजाओ का उल्लेख किया गया है किन्तु उसमे तीस नाम गिनाये गये हैं। इसी प्रकार अन्य पुराणो की पाण्डुलिपियो में यह सख्या 28 से 31 तक बतायी गयी है। वायु, ब्रह्माण्ड, भागवत और विष्णु सभी 30 शासक बताते हैं, लेकिन 30 नामो का वर्णन नही करते। वायु 17, 18 या 19, ब्रह्माण्ड 17, भागवत 23 और विष्णु 22 या 24 और 23 शासको का उल्लेख करते हैं।[4] आर० जी० भण्डारकर[5] का मत है कि लम्बी सूची में ऐसे राजकुमारो का भी नाम सम्मिलित कर लिया गया है जिन्होने कभी शासन नही किया या अगर शासन किया भी तो प्रान्तीय शासको के रूप मे। इसलिये डा० हेमचन्द्र रायचौधरी[6] का कथन है कि यदि सातवाहन वश मे केवल 19 शासक ही हुए थे तथा उनका शासनकाल केवल 300 वर्षों तक ही चला था तो यह स्वीकार कर लेने मे कोई आपत्ति नही होना चाहिये कि सिमुक अन्तिम कण्व राजाओ के समय, या ईसा पूर्व पहली शती में हुआ था। यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि सिमुक का शासन तीसरी शती ई० तक उत्तरी दक्खन से समाप्त हो चुका था।

दूसरे, पौराणिक कालक्रमानुसार शुंगवश का शासन चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्याभिषेक 322 ई० पू० के 137 वर्ष बाद प्रारम्भ हुआ। इस वश ने 112 वर्ष शासन किया। अन्तिम शुंग शासक अपने अमात्य द्वारा अपदस्थ कर दिया गया। इस प्रकार कण्व वश प्रारम्भ हुआ जिसने 45 वर्ष शासन किया। अन्तिम कण्व शासक सुशर्मा सातवाहन सिमुक द्वारा शासन च्युत कर दिया गया। इस प्रकार (322–(137+112+45)=28 ई० पू०) मे सिमुक शासन कर रहा था। यदि यह स्वीकार किया जाय कि सिमुक का राज्यकाल 28–27 ई० पू० मे समाप्त हो गया तो सिमुक के उत्तराधिकारी के 10 वर्ष के शासन के बाद सातकर्णि प्रथम 17 ई० पू० में सिंहासन पर बैठा। चू कि खारवेल ने दूसरे शासन वर्ष मे सातकर्णि पर आक्रमण किया था अत उसकी राज्यारोहण तिथि 20–19 ई० पू० हुई जिसे हम 20 ई० पू० मान सकते हैं।

बहसतिमित :

अभिलेख से ज्ञात होता है कि बारहवें वर्ष खारवेल ने मगधराज बहसतिमित (बृहस्पतिमित्र) से चरण वन्दना करायी। ई० सन् के पूर्व और पश्चात् की शतियो मे निम्नांकित बृहसतिमित नामधारी राजाओ ने शासन किया .

1 मोरा अभिलेख[7] (मथुरा) मे बृहस्पतिमित्र की पुत्री यशमिता द्वारा एक मन्दिर निर्माण का उल्लेख है।

2 पभोसा अभिलेख[8] (इलाहाबाद) मे आषाढ़सेन को बहसतिमित का मातुल बताया गया है। यह अभिलेख उडाक के दसवें शासनवर्ष का है।

3 कौशाम्बी से प्राप्त मुद्राओं पर दो भिन्न बृहस्पतिमित्रों के नाम मिलते हैं। इनमे से

एक का सिक्का दूसरे के द्वारा पुनर्मुद्रित किया गया है।[9]

4 लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित बृहस्पतिमित्र के सिक्के को पांचाल सिक्कों की श्रेणी बताया गया है।[10]

5 दिव्यावदान[11] की एक अनुश्रुति मे वृहस्पतिमित्र को प्रशोक के पौत्र सम्प्रति के उत्तराधिकारियो मे से एक कहा गया है।

6 वृहस्पतिमित्र एक नवमित्र राजवश का राजा था जिसने कण्वो के बाद शासन किया।[12]

डा० काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार खारवेल की राज्यारोहण तिथि 182 ई० पू० है। डा० जायसवाल का यह मत मूलत पुष्यमित्र की वृहस्पतिमित्र के साथ की गयी पहचान पर आधारित है। उनके अनुसार वृहस्पति नक्षत्र का अधिपति पुष्य (तिष्य भी) है। अत. बहसतिमित पुष्यमित्र का पर्यायवाची है।[13] डा० रमेशचन्द्र मजूमदार[14] का कथन है कि हाथीगुम्फा अभिलेख मे उल्लिखित बहसतिमितम या बहपतिमितम को यदि शुद्ध पाठ मान लिया जाय तो पुष्यमित्र को वृहस्पतिमित्र या वृहस्पति कहा जा सकता, किन्तु पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री के अभाव मे इसे स्वीकार नही किया जा सकता। इस सन्दर्भ मे यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि दिव्यावदान[15] में बृहस्पति या पुष्यमित्र[16] को अलग-अलग बताया गया है और पुष्यमित्र के विरोधी खारवेल की राजधानी राजगृह मे स्थित बतायी गयी है।[17]

मोरा और पभोसा अभिलेखो के वृहस्पतिमित्रो को एक मानकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है और उनका तादात्म्य मुद्राओ के वृहस्पतिमित्रों से स्थापित किया गया है। एलन[18] ने इस सन्दर्भ मे गम्भीर आपत्ति करते हुए इसे असम्भव बताया है। प्राय सभी विद्वान् इस तथ्य से सहमत हैं कि वृहस्पतिमित्र एक नवमित्र राजवश का शासक था। इस सन्दर्भ में डा० राय चौधरी का कथन है कि "ई० सन् के प्रारम्भ होने के पूर्व की शताब्दी मे सभवत मगध तथा समीपवर्ती भूभागो पर मित्रवशो का शासन था। जैन ग्रन्थो में बलमित्र और भानुमित्र राजाओ का पुष्यमित्र का उत्तराधिकारी कहा गया है। इससे मित्रवश के शासन का अस्तित्व प्रमाणित होता है। डा० बरूआ ने मित्र राजाओ की एक सूची तैयार की है। इस सूची मे वृहस्पतिमित्र, इन्द्राग्निमित्र, ब्रह्ममित्र, वृहस्पतिमित्र, विष्णुमित्र, वरूणमित्र, धर्ममित्र तथा गोमित्र राजाओ के नाम मिलते हैं। इनमे से इन्द्राग्निमित्र, ब्रह्ममित्र तथा वृहस्पतिमित्र निश्चितरूप से मगध के राज्य से सम्बन्धित थे। शेष कौशाम्बी और मथुरा से सम्बन्धित थे। किन्तु इससे यह पता नही चलता कि ये मित्रवशी राजा आपस में या कण्व तथा शुग वशो से किस रूप मे सम्बन्धित थे।"[19] डा० बरूआ[20] उपर्युक्त मत का समर्थन करते हुए कहते है कि ई० पू० पहली शती के मध्य में कण्व शासन की समाप्ति के बाद मगध मे नवमित्र वश ने राज्य किया। इस वश के इन्द्राग्निमित्र और ब्रह्ममित्र खारवेल के समकालीन वृहस्पतिमित्र के पूर्वाधिकारी थे। अगर इसे ठीक माना जाये तो खारवेल की तिथि पहली शती ई० पू० के अन्तिम चरण (20 ई० पू०) में मानी जा सकती है।

यवनराज डिमित.

अभिलेख की आठवी पक्ति मे 'यवनराज डिमित' पाठ का अनुमान किया गया है। यहां पर कहा गया है कि खारवेल के राजगृह पर आक्रमण करने के समाचार को सुनकर भयवश यूनानी

राजा डिमित अपनी सेना तथा वाहन छोड़कर मथुरा भागने को विवश हुआ। डा० जायसवाल[21] इस यवनराज डिमित का तादात्म्य हिन्द-यूनानी शासक यूथीडेमस के पुत्र डेमेट्रियस से स्थापित करते हैं। डा० बनर्जी[22] और डा० कोनो[23] उपर्युक्त पाठ और अभिज्ञान से सहमत हैं। तो भी, डा० कोनो सन्देह व्यक्त करते हुए कहते हैं कि 'यवनराज' के बाद केवल 'म' अक्षर ही स्पष्ट है। अत: 'डिमित' पाठ अनुमान के आधार पर ही पूरा किया जा सकता है। डा० टार्न[24] का भी ऐसा ही मत है। अनेक विद्वान जिनमे डा० बरूआ[25], रायचौधरी[26] और सरकार[27] प्रमुख हैं, का मत है कि अभिलेख मे 'डिमित' का उल्लेख नही है। डा० नारायण[28] का मत है कि अगर हम 'यवनराज डिमित' पाठ को स्वीकार भी कर लेते है, तो भी, हम यूथीडेमस के पुत्र डेमेट्रियस को पहली शती ई० पू० के उत्तरार्द्ध में नही रख सकते। अत खारवेल की राज्यारोहण तिथि निश्चित करने में 'यवनराज डिमित' पाठ से हमे कोई सहायता नही मिलती।

ति-वस-सत -

अभिलेख की चौथी पक्ति में 'ति-वस-सत' पद मिलता है। इस पद का अनुवाद निम्न-प्रकार से किया गया है—

1 भगवानलाल इन्द्रजी[29] इस पद का अनुवाद 'उसने नन्दराज के त्रिवर्षीय सत्र का उद्घाटन किया' करते है। उनकी यह अवधारणा सभी विद्वानो द्वारा अस्वीकार कर दी गयी है।

2 प्रो० लूडर्स[30] का मत है कि 'वह नन्दराज द्वारा 103 वर्ष पूर्व बनवायी नहर नगर मे लाया।'

3 जायसवाल और बनर्जी[31] का कथन है कि 'वह नन्दराज द्वारा 300 वर्ष पूर्व बनवायी नहर राजधानी तक लाया' कालान्तर में उन्होने अभिलेख के पाठ और अनुवाद मे सशोधन किया और तब उक्त पद का अनुवाद 300 वर्ष के स्थान पर 103 वष स्वीकार कर लिया।

डा० जायसवाल उपर्युक्त अवतरण के वर्ष को नन्द सवत् मे अकित मानते हैं। अलबेरूनी ने इस सवत् का उल्लेख किया है। पार्जिटर चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्याभिषेक 322 ई० पू० मे मानते हुए और नदवश की समस्त शासनावधि 80 वर्ष उसमे जोडकर 402 ई० पू० में पहले नन्द शासक का राज्यारोहण स्वीकार करते है। उनके अनुसार नन्द शासक द्वारा कलिंग में (402—103)=299 ई० पू० मे नहर बनवायी गयी। किन्तु यह असमव प्रतीत होता है। अगर पौराणिक साक्ष्य को मानकर नन्दो की शासनावधि 100 वर्ष भी स्वीकार कर ली जाये तब (322+100—103)=319 ई० पू० नहर का निर्माण वर्ष निर्धारित होता है। लेकिन इस तिथि के पूर्व ही चन्द्रगुप्त मौर्य मगध का शासक बन चुका था, अत उपर्युक्त तिथि प्राचीन भारतीय शासको के मान्य कालक्रम के विपरीत होने से स्वीकार नहीं किया जा सकती।

राखालदास बनर्जी का मत है कि नहर का निर्माण खारवेल के पांचवे शासनवर्ष के 103 वर्ष पूर्व नन्दवश के प्रथम शासक के राज्यकाल मे हुआ। डा० जायसवाल से सहमति प्रकट करते हुए वे कहते हैं कि नन्द सवत्=458 ई० पू० मे प्रारम्भ हुआ। अत नहर का निर्माण (458—103)=355 ई० पू० में कराया गया। यह तिथि चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यारोहण के 33 वर्ष पूर्व की होने के कारण समीचीन हो सकती है। किन्तु इस मत की सबसे बड़ी कमी यह है कि

बनर्जी महोदय ने 103 वर्ष का समय खारवेल और नन्दराज के राज्यकालों का अन्तराल न मानकर एक पूर्व प्रचलित संवत् का वर्ष मान लिया है। इस समय इस प्रकार के किसी संवत् के प्रयोग की पुष्टि किसी स्रोत से नहीं होती। अशोक के समान ही खारवेल शासनवर्ष का ही उल्लेख करता है, किसी संवत् वर्ष का नहीं। अत बनर्जी का कथन स्वीकार नहीं किया जा सकता।

डा० रायचौधरी[32] का मत है कि 'ति-वस-सत' की व्याख्या पौराणिक कालक्रमानुसार सही प्रतीत होती है। मौर्यों ने 137 वर्ष शुंगो ने 112 वर्ष और कण्वो ने 45 वर्ष शासन किया। इस प्रकार कुल अवधि 294 वर्ष हुई जिसे 300 वर्ष माना जा सकता है। अगर पद का अर्थ 103 वर्ष किया जाये तो खारवेल का राज्यारोहण नन्दराज के (103 – 5) = 98 वर्ष बाद या 322 – 98 = 224 ई० पू० मे हुआ। किन्तु इस समय कलिंग पर मौर्यों का शासन था। इसलिये ति-वस सत का अर्थ 103 के स्थान पर 300 वर्ष करना उचित है। डा० सरकार[33] का ऐसा ही मत है। डा० जायसवाल ने भी इस व्याख्या को स्वीकार किया था लेकिन उन्होंने खारवेल को पुष्यमित्र शुंग का समकालीन सिद्ध करने के लिये नन्दराज का अभिज्ञान शैशुनाग नरेश नन्दिवर्द्धन से किया था। इस नन्दिवर्द्धन के राज्य मे कलिंग सम्मिलित नहीं था। पुराणों से ज्ञात होता है कि महापद्मनन्द ही पहला शासक था जिसने कलिंग पर विजय प्राप्त की। उसने (322 + 12) = 334 ई० पू० तक शासन किया। अत (334 – 300) = 34 ई० पू० खारवेल की राज्यारोहण तिथि हुई। चूंकि इसके पूर्व हम खारवेल की तिथि 20 ई० पू० मान चुके हैं, अत यहां भी हम उसी तिथि को स्वीकार करते हैं। इस तिथि के आधार पर खारवेल का कालक्रम निम्न प्रकार होगा —

जन्म — 44 ई० पू० (24 + 16 + 8)
युवराज — 28 ई० पू० (20 + 8)
राज्याभिषेक— 20 ई० पू०

वाह्य साक्ष्य

खारवेल की तिथि निश्चत करने के सम्बन्ध में कुछ वाह्य प्रमाण भी उपलब्ध हैं। ये निम्नांकित हैं--

अभिलेख की लिपि

विद्वानो का मत है कि हाथीगुम्फा अभिलेख की लिपि सभवत नानाघाट अभिलेख और हेलियोडोरस के बेसनगर गरुड स्तम्भलेख को परवर्ती है।[34] ब्राह्मी लिपि के विकास के जो सात चरण बताये गये है उनमे से पाचवे चरण का प्रतिनिधित्व बेसनगर गरुड स्तम्भलेख, नागनिका के नानाघाट अभिलेख और धनभूति के भरहुत अभिलेख से होता है। छठवे चरण का प्रतिनिधित्व हाथीगुम्फा अभिलेख करता है।[35] राखालदास बनर्जी[36] का मत है कि नानाघाट अभिलेख की लिपि क्षत्रप और आद्य कुषाण शासको की लिपि से मिलती है। रैप्सन[37] का कथन है कि नानाघाट अभिलेख का 'द' अक्षर एक मुद्रालेख के 'द' अक्षर के समान है। इस मुद्रा का समय द्वितीय या पहली शती ई० पू० है। बुहलर[38] का भी मत है कि नानाघाट अभिलेख गौतमीपुत्र सातकर्णि और उसके पुत्र पुलुमावी के 100 वर्ष पहले का प्रतीत होता है। एन० जी० मजूमदार[39] अभिलेख की लिपि का समय 100–75 ई० पू० निर्धारित करते हैं।

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा[40] का कथन है कि हाथीगुम्फा अभिलेख मे अक्षरो के सिर

बनाने का यत्न किया गया है, परन्तु वे वर्तमान नागरी अक्षरों के सिरों जैसे लम्बे नहीं अपितु छोटे हैं। ये सिरे पहले पहल इसी लेख में मिलते हैं। 'मि' और 'लि' में प्रयुक्त 'इ' की मात्रा भरहुत लेख के सदृश है और 'बी' मे 'ई' की मात्रा के दाहिनी ओर की खड़ी लकीर को भी वैसा ही रूप दिया गया है। 'ले' मे ल के अग्रभाग को दाहिनी ओर नीचे झुकाया गया है और 'गो' मे 'ओ' की मात्रा नानाघाट अभिलेख के 'गो' की मात्रा की तरह व्यञ्जन के ऊपर उसे स्पर्श किये बिना ही आड़ी लकीर के रूप मे बनायी गयी है। पहले लिपि के आधार पर नानाघाट अभिलेख का समय द्वितीय शती ई० पू० निर्धारित किया गया था। अब विद्वानो ने यह स्वीकार कर लिया है कि इस लेख की तिथि बाद की है।[41] डा० सरकार[42] का मत है कि हाथीगुम्फा के ब, म, प, ह और य अक्षरो के कोणीय स्वरूप और सीधे आधार से इस अभिलेख का समय प्रथम शती ई० पू० का अन्तिम चरण प्रतीत होता है।

अभिलेख की लेखन पद्धति और भाषा शैली :

राजनीतिक दृष्टि से प्राचीन भारतीय अभिलेखो में प्रशस्तिपरक लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें राजा का नाम, वंशावली, प्रारम्भिक जीवन, विजय, शासनप्रबन्ध और उसके व्यक्तिगत गुणों का वर्णन होता है। इन्हे दो भागो में विभक्त किया गया है— शुद्ध प्रशस्ति और मिश्रित प्रशस्ति। शुद्ध प्रशस्ति का पहला उदाहरण खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख और मिश्रित प्रशस्ति का रुद्रदामा का गिरनार प्रस्तर अभिलेख (150 ई०) है। खारवेल से पूर्व के अनेक शासकों के अभिलेख प्राप्त हुए हैं। यद्यपि अशोक के अभिलेखो में प्रशस्ति के सभी महत्त्वपूर्ण तत्त्व विद्यमान हैं तथापि उनमे उद्देश्य, शैली और सजीवता का अभाव है। मौर्यों के बाद शुंगों का शासन प्रारम्भ हुआ। उनके शासनकाल का कोई भी प्रशस्ति अभिलेख उपलब्ध नही है। खारवेल के बाद रुद्रदामा का ही अभिलेख प्राप्त हुआ है जो मिश्रित प्रशस्ति प्रकार का है। अगर यह माना जाय कि शुद्ध प्रशस्ति के विकास मे 100 वर्ष और फिर मिश्रित प्रशस्ति के लिये 50 वर्ष लगे तो यह कुल समय 150 वर्ष का हो जाता है। अत शुद्ध प्रशस्ति के विकास का समय भी पहली शती ई० पू० का अन्तिम चरण निर्धारित किया जा सकता है।

सम्पूर्ण अभिलेख अपभ्रंश प्राकृत भाषा मे है जिसमें अर्धमागधी और जैन ग्रन्थों में प्रयुक्त प्राकृत का पुट है। डा० बरुआ[43] का कथन है कि प्रस्तुत अभिलेख न तो पालि त्रिपिटक शैली का है और न ही आद्य जैन आगम, वेद, ब्राह्मण, प्राचीनतर उपनिषद, कल्पसूत्र, नियुक्त और प्रातिसारव्य का। जहाँ तक इसकी गद्यशैली का सम्बन्ध है वह भारतीय साहित्य के इतिहास के मील का पत्थर है। अभिलेख की रचना मे ओज गुण से युक्त काव्य शैली का विकास परिलक्षित होता है जिससे इसके परवर्ती होने की पुष्टि होती है।[44]

उदयगिरि-खण्डगिरि का कला और स्थापत्य :

खारवेल की तिथि निश्चित करने में उसके शासनकाल में निर्मित कला तथा स्थापत्य के नमूनो से कुछ सहायता मिल सकती है। उदयगिरि-खण्डगिरि की गुहाओ की तिथि निर्धारण करते हुए सर जान मार्शल[45] हाथीगुम्फा को सभी गुफाओ में प्राचीनतम मानते हैं। यह असमान आकार की एक प्राकृतिक गुफा है, जिसकी पार्श्वभित्तियो को छेनी से उकेर कर सँवारा गया है। इतनी महत्त्वहीन गुफा के शीर्ष पर ही खारवेल के अभिलेख की विद्यमानता से अनुमान होता है कि गुफा

का निर्माण स्वयं सम्राट द्वारा कराया गया था। तिथिक्रम के अनुसार दूसरी गुफा मंचापुरी है। यह दो मंजिली है। निचली मंजिल में स्तम्भयुक्त बरामदा और उसके पीछे कोठरियाँ बनी हैं। इसी गुफा की ऊपरी मंजिल में खारवेल की रानी का लेख है और निचली मंजिल मे वक्रदेव और वदुख के लेख अंकित हैं। इससे अनुमान होता है कि ऊपरी मंजिल पहले बनायी गयी थी। इन दोनों गुहाओ की कला मे भरहुत, बोधिगया और सांची की कला का विकसित रूप प्रतिबिम्बित होता है।[46] प्रो० घोष[47] का मत है कि भरहुत स्तूप के तोरणद्वार पर उत्कीर्ण अभिलेख पुष्यमित्र शुंग के समय से एक शती बाद का या ई० पू० पहली शती के अन्तिम चरण का है। अत खारवेल की तिथि भी इसी समय रखी जा सकती है।

शिशुपालगढ़ उत्खनन

उदयगिरि-खण्डगिरि से 10 किलोमीटर दक्षिण-पूर्व मे शिशुपालगढ को अधिकाश विद्वान खारवेल की राजधानी कलिंगनगर मानते हैं।[48] हाथीगुम्फा अभिलेख से इस तथ्य पर कोई प्रकाश नही पडता कि कलिंगनगर उक्त पहाडियो से कितनी दूरी पर स्थित था। इन पहाडियों पर भिक्षुओं के निवास के लिये गुहाए बनाने का प्रयोजन यह प्रतीत होता है कि उनकी निर्जन और एकान्त पृष्ठभूमि साधु जीवन के लिये उपयुक्त वातावरण प्रदान करती थी। साथ ही यह कलिंग राजधानी से अधिक दूर न थी जिससे मुनिगण वहाँ सुविधापूर्वक धर्मप्रचार और आहार आदि के लिये जा सकते थे और उनके भक्तगण मुनियो के प्रति अपनी भक्ति जताने हेतु इस पवित्र साधनास्थल तक सुविधापूर्वक आ सकते थे। इस तथ्य को ध्यान मे रखते हुए कलिंगनगर का शिशुपालगढ से किया गया अभिज्ञान समीचीन प्रतीत होता है।

अभिलेख की तीसरी पंक्ति मे कहा गया है कि खारवेल ने "प्रथम शासनवर्ष मे, तूफान से गिरे हुए (राजधानी के) गोपुर और प्राकार निवास का जीर्णोद्धार कराया।" शिशुपालगढ के अतिरिक्त और कोई प्राकार युक्त नगर खण्डगिरि उदयगिरि के समीप नही मिला। शिशुपालगढ उत्खनन से ज्ञात होता है कि यहा पर तीसरी दूसरी शती ई० पू० मे नगर रक्षा के लिये एक दृढ दीवार का निर्माण किया गया था। यह दीवार चार चरण मे पूर्ण हुई थी। इसमें से तीसरे चरण मे निर्मित दीवार 3 से 4 फीट तक मोटी है जिससे ज्ञात होता है कि इस बार इसकी सुदृढता पर विशेष ध्यान दिया गया था। यह चरण पहली शती ई० के मध्य का प्रतीत होता है। दीवार का तृतीय चरण खारवेल के प्रथम शासनवर्ष मे पूर्ण हुआ होगा। अत इससे भी खारवेल का राज्यारोहण काल प्रथम शती ई० पू० का अन्तिम चरण समर्थित होता है।[49]

इस प्रकार खारवेल की तिथि से सम्बन्धित अन्तरग और वाह्य साक्ष्यो पर विचार करके हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि खारवेल का राज्यारोहण ई० पू० प्रथम शती के अन्तिमचरण मे 20 ई० पू० के आसपास ही हुआ। ❖

---

1 प्रा० भा० रा० इ०, पृ० 365–68
2. ए गाइड टु सांची, पृ० 13
3 डा० क० ए०, पृ० 37
4 वही, पृ० 36

5. प्रा० भा० रा० इ०, पृ० 357 पर उद्धृत

6 प्रा० भा० रा० इ०, पृ० 358

7 वोगल, ज० रा० ए० सो०, 1912, पृ० 120।

8 ए० इं०, खण्ड 2, पृ० 241

9. दे० एलन, के० क्वा० एँ० इ, पृ० XCVI और 150, ज० न्यू० सो० इ० खण्ड 4, पृ० 143

10 एलन, के० क्वा० एँ० इं पृ० CXVII, स्मिथ, के० क्वा० ई० म्यु०, खण्ड 1, पृ० 185

11 पृ० 433, ज० बि० उ० रि० सा०, खण्ड 2, पृ० 96, वही, खण्ड 3, पृ० 480, प्रो० क्रा० इ०, पृ० 273

12 पोलिटिकल हिस्ट्री, पृ० 352-53

13 ज० बि० उ० रि० सो०, खण्ड 3, पृ० 236-45, सांख्यायन गृह्यसूत्र 1 26.6

14. इ० एँ०, 1919, पृ० 189; दे० एलन, के० क्वा० एँ० इ०, पृ० XCVIII

15 इं० हि० क्वा०, 1929, पृ० 594 तथा आगे

16. पृ० 433-34

17 इ० हि० क्वा०, 1930, पृ० 23

18 के० क्वा० एँ० इं०, पृ० XCVII-VIII।

19 प्रा० भा० रा० इ०, पृ० 352-53

20 गया ऐण्ड बुद्धगया खण्ड 2, पृ० 74 तथा आगे

21 ज० बि० उ० रि० सो०, खण्ड 6, पृ० 5, वही खण्ड 13, पृ० 228

22 वही टिप्पणी 1, ए० इं० खण्ड 20, पृ० 76, 84

23 एक्टा ओरियण्टलिया खण्ड 1, पृ० 27

24 प्रो० बैं० इ० परिशिष्ट 5, पृ० 458

25 प्रो० क्रा० इ०, पृ० 17-18

26 ए० इ० यू० पृ० 208।

27. पो० हि० एँ० इ० पृ० 420

28 प्री० बैं० इ०, पृ० 43

29 इ० ओ० कां० प्रो०, (लाइडन), 1884, पृ० 135

30 ए० इ०, खण्ड 10, क्र०, 1345, पृ० 161

31 ज० बि० उ०रि० सो०, खण्ड 3, पृ० 425 तथा आगे; ए० इ० खण्ड 20, पृ० 71 तथा आगे

32. प्रा० भा० रा० इ०, पृ० 201
33 ए० इं० यू०, पृ० 216
34. सरकार, सै० इ०, खण्ड 1, पृ० 213–14, टिप्पणी 1
35 मे० प्रा० स० ब०, खण्ड 1, पृ० 10-15, इ० हि० क्वा०, 1929, पृ० 601 तथा आगे
36 मे० प्रा० स० ब०, खण्ड 11, भाग 3, पृ० 145
37 कै० प्रा० क्वा०, पृ० LXXVII
38 प्रा० स० बे० इ०, खण्ड 5, पृ० 65
39. मानुमेण्ट्स ऑव सांची खण्ड 1, पृ० 277
40 प्राचीन लिपिमाला, पृ० 52
41 प्रा० भा० रा० इ०, पृ० 354–55, अन्दा, मे० प्रा० स० इ०, क० 1
42. सै० इ० खण्ड 1 पृ० 213, टि० 1
43 ओ० भा० इ० पृ० 172
44 सै० इ० खण्ड 1, पृ० 214 टिप्पणी
45 कै० हि० इ०, खण्ड 1 पृ० 638–42
46 ओ० भा० इ० पृ० 307 तथा आगे
47 प्रो० इ० हि० कां० 1943, पृ० 169–16
48 एंश्यट इण्डिया, खण्ड 5, पृ० 66 तथा आगे
49 वही पृ० 74

भगवान् महावीर के समय वैदिक विद्वान् बोलचाल तथा ग्रन्थ रचना में संस्कृत का आश्रय लेते थे जिससे कि धर्म साधारण वर्ग का धर्म न समझ सके और जनता के कर्मकाण्ड आदि में पुरोहितों का एकाधिपत्य कायम रहे। भगवान् महावीर और बुद्ध ने इस एकाधिकार को समाप्त करने और जनता तक धर्म का रहस्य समझाने के लिए उस समय के जनसाधारण में प्रचलित बोलचाल की भाषा प्राकृत का सहारा लिया। धर्मग्रंथ भी इसी भाषा में लिखे गए। आज की हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में प्रचलित बहुत से शब्दों का आदि स्रोत प्राकृत में प्राप्त होता है। हिन्दी के विकास क्रम को भले प्रकार हृदयगम करने के लिए प्राकृत भाषा का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

— प्र० सम्पादक

भगवान् महावीर और बुद्ध की परम्परा में जन-भाषाओं का विकास*

❖ डा० प्रेम सुमन जैन, उदयपुर

ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे मानव ने विभिन्न क्षेत्रो मे आत्म-निर्भरता और स्वतन्त्रता प्राप्त की थी। लोकतन्त्र के विकास के साथ साथ उस समय धर्म और भाषा का क्षेत्र भी व्यापक हुआ था। उस समय के प्रमुख साधक और चिन्तक भगवान् महावीर तथा बुद्ध ने समग्र समाज को नैतिक-उत्थान के पथ पर आगे बढाने का प्रयत्न किया था। अत उन्होने अपने धर्म का प्रचार जन-सामान्य की ऐसी भाषा मे किया जो उस समय देश के बहुभाग मे प्रचलित थी। इस भाषा को बौद्ध एव जैन आगमो मे मागधी कहा गया है, जो आगे चलकर पालि तथा अर्धमागधी के नाम से जानी गयी है।

भगवान् बुद्ध का धर्म किसी वर्ग व जाति विशेष के लिए नही था। अत वे अपने धर्म के उपदेशो को किसी भाषा विशेष मे नही बाँधना चाहते थे। अगुत्तर निकाय के तिक-निपात के एक सुत्त में उन्होने कहा भी है कि तथागत द्वारा उपदिष्ट धम खुला हुआ (भाषा आदि के बन्धन से रहित) ही चमकता है, ढका हुआ नहीं।[1] मज्झिम निकाय के किन्ति सुत्त से ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध का जोर शब्दो पर नही था, अर्थों पर था।[2] न उन्हे सस्कृत से द्वेष था न मागधी से मोह। वे केवल ऐसी जीवित भाषा में उपदेश देना चाहते थे जिसे लोग आसानी से समझ सकें।[3] इसलिए उन्होने मागधी को अपने उपदेशों का माध्यम चुना था।

मगध जनपद की भाषा के प्रति बौद्ध धर्म में कोई आग्रह नही था। भाषा कोई भी, जन-जन के समझ मे आने वाली होनी चाहिये। भगवान् बुद्ध इस बात से परिचित थे कि एक ही वस्तु के लिए विभिन्न स्थानो की भाषाओ मे अलग-अलग शब्द

* उडीसा मे जनवरी 76 मे आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय बौद्ध एव जैनधर्म सम्मेलन मे प्रस्तुत निबन्ध।

प्रयुक्त होते हैं। अत उन्होने भिक्षुओ से कहा था कि अपने जनपद की भाषा के प्रयोग के प्रति ममता न रखकर जहा जैसा प्रयोग चलता हो, वहा उसी के अनुसार बरतना चाहिए।[4] जनभाषाओ के महत्व के प्रति भगवान् बुद्ध के इस प्रकार के विचार होने के कारण ही बौद्ध धर्म के इतिहास मे देश-विदेश की विभिन्न जन–भाषाओ का प्रयोग हो सका है।

यद्यपि भगवान् बुद्ध के समय मे भी जन भाषाओं को किसी धर्म विशेष की भाषा मानने में लोगो को आपत्ति थी। बौद्ध भिक्षु चमेलु और तेकुल इस बात से दुखी होते हैं कि नाना जाति और गोत्रो के मनुष्य अपनी-अपनी भाषा मे बुद्ध वचनो को रख कर उन्हे दूषित करते हैं।[5] अत वे बुद्ध वचनों को छान्दस् (वैदिक सस्कृत) मे रखने की भगवान् बुद्ध से अनुमति चाहते हैं।[6] किन्तु बुद्ध ऐसा करना 'दुष्कृत' मानते हैं। वे नहीं चाहते थे कि बुद्ध के उपदेश शिष्ट समुदाय के कुछ लोगो की भाषा मे सिमट कर रह जाय। अत उन्होने भिक्षुओं को अपनी अपनी भाषा मे बुद्ध–वचन सीखने की अनुज्ञा दी थी।[7] भगवान बुद्ध के इस उदार दृष्टिकोण के कारण ही बौद्ध धर्म जब तक भारत मे प्रभावशाली रहा, यहा की जनभाषाओ को समृद्ध करता रहा है।

बौद्ध राजाओ ने भी जनभाषाओ के महत्व को समझा है। बौद्ध धर्म के सच्चे भक्त होने के कारण वे बुद्ध की वाणी को जन–जन तक पहुचा देना चाहते थे। इसलिये उन्होने अपने अभिलेख आदि विभिन्न प्रान्तो की जन–भाषाओ मे प्रचारित किये हैं। अशोक के अभिलेख इस बात के प्रमाण हैं। यद्यपि अशोक के अभिलेखो मे पालि भाषा की प्रधानता है, किन्तु उनमें विभिन्न स्थानों की जन–भाषा के तत्व भी स्पष्ट हैं।[8] साची और सारनाथ के अभिलेख भी बौद्ध धर्म से प्रभावित हैं, जिनकी भाषा पालि है। बरमा के राजा धम्मचेति का कल्याणी–अभिलेख भी पालि मे है।[9] इस तरह बौद्ध धर्म के शासक भी भगवान् बुद्ध की विचार–धारा से प्रभावित रहे हैं।

बौद्ध धर्म में दार्शनिक साहित्य की प्रधानता है। दर्शन की विशिष्ट अनुभूतियो को जनभाषा मे प्रस्तुत करने से बहुत से नये शब्दों का भण्डार जनभाषा को प्राप्त हुआ है। पालि भाषा मे इस तरह के अनेक शब्द हैं, जो अन्य भाषाओ मे नहीं हैं तथा पालि से इन भाषाओ मे ग्रहण किये गये हैं। प्राकृत, अपभ्रंश आदि जन भाषाओ के साहित्य को समझने के लिए भी पालि की शब्द-सम्पत्ति का अध्ययन आवश्यक है। क्योकि पालि का विकास मगध जनपद की अनेक बोलियो के सम्मिश्रण से हुआ है। प्रारम्भ में पालि को मागधी ही कहा जाता था।[10] तथा इस मागधी भाषा को सब प्राणियो की मूल भाषा भी कहा गया है।[11] जो इसके जनभाषा होने का प्रमाण है। प्रारम्भ मे पालि बुद्धवचन के लिए प्रयुक्त शब्द था,[12] बाद मे बुद्धवचन की भाषा को पालि कहा जाने लगा है।

भारत में बौद्ध धर्म ने पालि भाषा को अपना कर मगध जनपद में प्रचलित जन-भाषा को समृद्ध किया है। तथा पालि भाषा के साहित्य द्वारा भारतीय साहित्य की अनेक विधाओ को पुष्ट किया है। बौद्ध धर्म मे जनभाषा को अपनाने की परम्परा निरन्तर बनी रही है। जब बौद्ध धर्म भारत के पडौसी देशो में गया तो वहा भी पालि-भाषा का प्रचार हुआ। किन्तु उन देशो की जन-भाषाओ में भी बौद्ध धम का पर्याप्त प्रचार हुआ हैं।

भारत के दक्षिण में बौद्ध धर्म सर्व प्रथम लका मे गया। लंका मे पालि त्रिपिटक के अतिरिक्त सिंहली भाषा मे निबद्ध त्रिपिटक का भी पर्याप्त प्रचार है। सिंहली भाषा मे बौद्ध धर्म के अन्य ग्रन्थ भी वहा लिखे गये हैं। जब यह धर्म बरमा पहुचा तो वहा की सस्कृति को इसने प्रभावित

किया। बरमी भाषा में बौद्ध धर्म के अनेक ग्रन्थ हैं। यद्यपि यहां लम्बे समय तक पालि ही बौद्ध साहित्य की भाषा बनी रही है। थाईलैण्ड और कम्बोडिया बौद्ध देश कहे जाते हैं। यहां का धर्म, साहित्य और भाषाए बौद्ध धर्म से अनुप्राणित हैं। बौद्ध धर्म की हीनयान शाखा का यहां पर्याप्त प्रचार है।[13]

बौद्ध धर्म की महायान शाखा का प्रचार चीन, तिब्बत, कोरिया, मगोलिया तथा जापान में अधिक है। चीन मे बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा मे हुआ है इससे चीनी भाषा की समृद्धि तो हुई ही है, जिन सस्कृत ग्रन्थो का यह अनुवाद है उनके अस्तित्व को प्रमाणित करने मे भी चीनी अनुवाद के ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं। आचार्य कुमारजीव एव परमार्थ ने चीनी अनुवाद के अतिरिक्त अन्य स्वतन्त्र ग्रन्थ भी चीनी भाषा मे लिखे है, जो बुद्ध धर्म एव उनके आचार्यों के सम्बन्ध मे विशेष प्रकाश डालते हैं।[14] तिब्बत मे बौद्ध धर्म के प्रचार ने एक ओर जहा भारत और तिब्बत के सम्बन्धो को दृढ किया है वहा तिब्बत की जनभाषा को भी समृद्ध किया है। बौद्ध ग्रन्थो का तिब्बती अनुवाद इतना सटीक हुआ है कि उसके आधार पर भारत के मूल सस्कृत ग्रन्थो का पुन उद्धार किया जा रहा है।[15] जापान मे प्रचलित बौद्ध धर्म से वहाँ अनेक बौद्ध सम्प्रदायों ने जन्म लिया है। इन सम्प्रदायो के साहित्य द्वारा जापानी भाषा की अधिक समृद्धि हुई है।[16] इस तरह बौद्ध धर्म देश विदेश मे जहाँ भी फला-फूला, वहा की जनभाषाओ को उसने अवश्य प्रभावित किया है। भगवान् बुद्ध के जनभाषाओ के सम्बन्ध में उदार-विचार, पालि भाषा की उत्पत्ति के मूल में जनभाषाओं का मिश्रण, बौद्ध राजाओ का लोकभाषाओ को प्रश्रय तथा बौद्ध आचार्यों द्वारा अनेक भाषाओ के ज्ञान की उपलब्धि आदि सबके कारण ही भगवान् बुद्ध की परम्परा मे विभिन्न जनभाषाए विकसित हो सकी हैं।

जैन धर्म में प्रारम्भ से ही लोकभाषाओं को महत्त्व दिया जाता रहा है। भगवान् ऋषभदेव एक लोक देवता के रूप मे प्रतिष्ठित हुए हैं।[17] उनके बाद की श्रमण-परम्परा का जो इतिहास मिलता है उससे स्पष्ट कि श्रमण-परम्परा तथा अर्हत् धर्म का शिष्ट समुदाय की भाषा सस्कृत से कोई घनिष्ट सम्बन्ध नही रहा है।[18] जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत पूर्व साहित्य की भाषा प्राकृत पर ही आधारित मानी गई है। वैदिक साहित्य के कई साक्ष्यो द्वारा भी महावीर के पूर्व जनभाषा के रूप में प्राकृत का प्रचलित होना प्रमाणित होता है।[19] पार्श्वनाथ एव महावीर द्वारा तो जनभाषा के प्रचार-प्रसार के स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं।[20]

भगवान् महावीर की साधना जन-सामान्य को धार्मिक समानता, सामाजिक प्रतिष्ठा तथा राजनैतिक स्वतन्त्रता उपलब्ध कराने मे सार्थक हुई है। मनुष्य की भाषा की स्वतन्त्रता पर महावीर ने विशेष बल दिया है। उनके जीवन में ऐसे कई प्रसग आये है जब उन्होने जन भाषा के विकास के लिए परम्परा से प्राप्त शास्त्र और भाषा की व्यवस्था को स्वीकार नही किया। कहा जाता है कि महावीर ने किसी को अपना गुरु नही बनाया। वे पाठशाला से वापिस लौट आये।[21] इस घटना की यह सार्थकता है कि व्यावहारिक शिक्षा ही आत्मज्ञान का प्रवेशद्वार नही है। अक्षर और व्याकरण ज्ञान से रहित व्यक्ति भी आत्मविकास के पथ पर आगे बढ सकता है। लोक की भाषा मे अपनी बात कह सकता है।

भाषा के दोष एव गुणो को जान कर ही उसका व्यवहार करने तथा भाषा की क्लिष्टता को हमेशा त्याग करने की बात महावीर ने कही है।[22] दशवैकालिक मे उन्होने कहा है कि जिससे अप्रीति उत्पन्न हो और दूसरा व्यक्ति शीघ्र कुपित हो ऐसी अहितकारी भाषा कभी नही बोलनी चाहिये।[23] ज्ञानवान् व्यक्ति सुनने वाले के हृदय

तक पहुंचने वाली भाषा का ही व्यवहार करें।[24] तथा यदि कोई व्याकरण की दृष्टि से भाषा बोलने में स्खलित हो जाय तो उसका उपहास नही करना चाहिये।[25] महावीर के इस प्रकार के विचार ही जन-भाषा के उत्थान में आधारभूमि रहे हैं। इन्ही से प्रेरित होकर महावीर की परम्परा में प्रत्येक युग और स्थान की जन-भाषा को महत्व प्रदान किया गया है।

महावीर के उपदेश की भाषा को दिव्यध्वनि कहा गया है।[26] इस भाषा की यही दिव्यता है कि वह सभी प्राणियो तक सम्प्रेषित होती थी। आध्यात्मिक दृष्टि से वह अनक्षरात्मक थी तथा व्यावहारिक दृष्टि से अक्षरात्मक।[27] उसमें आर्य-अनार्य सभी भाषाओ के तत्व सम्मिलित थे।[28] इसे सर्वभाषात्मक कहा गया है।[29] दिव्यध्वनि का यह स्वरूप इस बात का द्योतक है कि महावीर ने किसी ऐसी व्यापक जनभाषा में उपदेश दिये थे जिसमे विभिन्न बोलियां सम्मिलित थी। उस समय इस प्रकार की भाषा मगध जनपद मे प्रचलित थी। उसे जैन शास्त्रो मे अर्धमागधी[30] और शौरसेनी प्राकृत के नाम से जाना गया है। प्राचीन जैन आगम इन्हीं जन भाषाओ मे हैं।

पालि, अर्धमागधी व शौरसेनी मे बौद्ध एव जैनधर्म के आगम उपलब्ध हैं। इन भाषाओ को बुद्ध और महावीर के कार्य-क्षेत्र मे प्रचलित भाषाएं भी माना गया है। किन्तु उस समय वास्तव मे जन-साधारण में क्या ये भाषाएं बोली जाती थीं ? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। और यदि इनका प्रयोग जनता में होता था तो उसका स्वरूप क्या वही है, जो आगम या त्रिपिटक की भाषाओ का है? भाषाविदो ने इन जिज्ञासाओ का समाधान खोजने का प्रयत्न किया है। किन्तु कोई स्पष्ट उत्तर हमारे सामने नही है। अत यह मानकर चलना पडता है कि जब दो महापुरुषो ने जनसाधारण को उद्बोधित करने के लिए इन भाषाओं का प्रयोग किया तथा उस समय के राजाओं ने भी जनता तक अपनी बात पहुंचाने के लिए इन्ही भाषाओ मे अपनी राजाज्ञाएं प्रसारित की तो अवश्य ही इनका प्रयोग लोक में होता रहा होगा। साहित्य में आकर इन भाषाओं का कुछ परिष्कार हो गया होगा।

महावीर की परम्परा के आचार्यों ने अर्ध-मागधी व शौरसेनी के अतिरिक्त काव्य और कथा के लिए महाराष्ट्री एव पैशाची प्राकृत भाषाओ को भी अपनाया है। इससे पूर्व पश्चिम एव दक्षिण भारत की लोकभाषाओं की समृद्धि में वे अपना योग दे सके हैं। महाराष्ट्री प्राकृत क्रमशः साहित्य की भाषा बनते रहने से रूढ होने लग गयी थी। तब लगभग ईसा की छठी शताब्दी में अपभ्रंश नामक जनभाषा साहित्य के लिए प्रयुक्त होने लगी। जैन आचार्यों ने अपभ्रंश भाषा को अपनी रचनाओ से बहुत अधिक समृद्ध किया है। प्राकृत के दाय को अपभ्रंश जनभाषा ने अच्छी तरह सुरक्षित रखा है। आध्यात्मिक जीवन की जितनी अनुभूतिया इस अपभ्रंश साहित्य मे हैं, उतनी ही लोक संस्कृति की छबिया भी इसमें अंकित हैं। भारतीय साहित्य की एक सुदीर्घ परम्परा का इतिहास अपभ्रंश साहित्य मे है।[31]

मध्ययुग में जैनाचार्यों ने भारत की आधुनिक आर्य भाषाओं को अपनी रचनाओ से समृद्ध किया है। स्वभावत उनमें प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओ का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वस्तुत. आधुनिक भाषाओं का पोषण ही उनसे हुआ है। राजस्थानी भाषा मे अपरिमित जैन साहित्य लिखा गया है।[32] राजस्थानी भाषा ध्वनि परिवर्तन और व्याकरण दोनो की दृष्टि से मध्ययुगीन भाषाओ से प्रभावित हैं।[33] उसका शब्द एव धातुकोश प्राकृत-अपभ्रंश से समृद्ध हुआ है। कुछ क्रियाएं द्रष्टव्य हैं—

प्राकृत	राजस्थानी	प्राकृत	राजस्थानी
घडइ	घडै	जाचइ	जाचै
खवइ	खावै	धारइ	धारै
किदो	कीधो	होसइ	होसी

गुजरात में महावीर की परम्परा का अधिक प्रभाव रहा है। गुजराती भाषा का जैन साहित्य भाषा और संस्कृति की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध है।[34] मध्यदेश की शौरसैनी प्राकृत व अपभ्रंश का गुजराती पर अधिक प्रभाव है। शब्द-समूहों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं —

प्राकृत	गुजराती	प्राकृत	गुजराती
अ मोहलि	अ घोल	ओहल्ल	ओलक
उण्हा	ऊण्हा	छोयर	छोकरा
डब्ब	डाबु	रन्न	रान

पूर्वी भारत की आधुनिक भाषाओं में भोजपुरी मगही, मैथिली, उड़िया, बंगाली और असमिया प्रमुख हैं। इन भाषाओं के विकासक्षेत्र में प्राकृत व अपभ्रंश का पर्याप्त प्रभाव रहा है। जैनाचार्यों की विहारभूमि होने से उन्होंने इन भाषाओं को भी धर्मप्रचार का माध्यम बनाया है। इन भाषाओं में प्राकृत अपभ्रंश के अनेक पोषक तत्व उपलब्ध है, जिनका अध्ययन विद्वानों ने किया है।[35] यहां कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

(1)

प्राकृत	भोजपुरी	प्राकृत	भोजपुरी
जाहा	जीभ	चक्क	चाक
किसन	किसुन	किस्सा	खिस्सा
कड्ढ	काढइ	सिज्झ	सीझइ

(2)

प्राकृत	मैथिली	प्राकृत	मैथिली
कच्चहरिय	कचहरी	कद्दम	कादो
लोहाल	लोहार	सिक्कल	सिक्करी
टिलक	टिकुली	पिढिआ	पिरहिया

(3)

प्राकृत	उड़िया	प्राकृत	उड़िया
सिआल	शिआल	हिअअ	हिआ
सही	सही	नाह	नाह
ठाण	ठा	थण	थन
सवत्ति	सावत	भत्त	भात
वेज्ज	बेज	हत्थ	हाथ

दक्षिण भारत में भी जैन धर्म पर्याप्त विकसित हुआ है। जैनाचार्यों ने वहां की भाषाओं की समृद्धि में भी अपना योगदान किया है।[36] महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव मराठी भाषा पर स्पष्ट है। यथा—

प्राकृत	मराठी	प्राकृत	मराठी
अग्गिय	अगिया	उन्दर	उन्दीर
कोल्लुग	कोल्हा	अल्ल	आल
तुंड	तोंड	तक्क	ताक
नेऊण	नेऊन	मेहुण	मेवढ़ा
पुण्ह	पून	बाउल्ल	बाहुली

कर्णाटक में जैन धर्म का प्रसार वहां की संस्कृति के लिए वरदान सिद्ध हुआ है। न केवल वहां धर्म की भावना जागृत हुई अपितु जैनाचार्यों के सहयोग से तामिल एवं कन्नड साहित्य की समृद्धि भी पर्याप्त हुई है। साहित्य के अतिरिक्त दक्षिण की इन भाषाओं में प्राकृत के तत्व भी समाहित हुए हैं। कुछ शब्दों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं —

प्राकृत	कन्नड	प्राकृत	कन्नड
ओलग्ग	ओलग	कन्दल	कद
चवेड	चप्पालि	देसिय	देसिक
पल्लि	पल्ली	पिसुण	पिसुणिग
प्राकृत	तमिल	प्राकृत	तमिल
अक्क	अक्का	कड्प्प	कलप्पइ
कुरर	कोरि	पिल्लम	पिल्लइ

आज हम राष्ट्रभाषा के रूप में जिस हिन्दी भाषा का प्रयोग करते हैं उसका विकास कई अवस्थाओं से गुजर कर हुआ है। हिन्दी भाषा में जैन आचार्यों ने कई रचनाएं लिखी हैं।[37] महावीर की परम्परा का हिन्दी भाषा से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण हिन्दी की शब्द-सम्पत्ति में संस्कृत के अतिरिक्त बहुत से ऐसे शब्द भी हैं जो सीधे प्राकृत अपभ्रंश से उसमें आये हैं। हजारों वर्षों से इन शब्दों की सुरक्षा महावीर की परम्परा के साहित्य में होती रही है।[38] उदाहरणार्थ कुछ शब्द द्रष्टव्य हैं :—

प्राकृत	हिन्दी	प्राकृत	हिन्दी
अक्खाड	अखाड़ा	अरहट्ट	रहट
उक्खल	ओखली	उल्लुट	उल्टा
कोइला	कोयला	खल्ल	खाल
चाउला	चावल	चोक्ख	चोखा
छइल्लो	छैला	झाड़	झाड
डोरो	डोरा	चारौं	चारा
पत्तल	पतला	भल्ल	भला

हिन्दी भाषा में प्राकृत के शब्द ही नहीं, अपितु बहुत-सी क्रियाएं भी ग्रहण की गयी हैं।[39] यथा.—

प्राकृत	हिन्दी	प्राकृ	तहिन्दी
उड्ड	उडना	कुद्दति	कूदना
खुद्द	खोदना	चमक्क	चमकना
देक्ख	देखना	पिट्ट	पीटना
लुक्कइ	लुकना	बइट्ठ	बैठना आदि।

इस तरह स्पष्ट है कि महावीर की परम्परा ने प्रारम्भ से ही जनभाषा को महत्व दिया है तथा प्रत्येक युग और स्थान की जनभाषा को साहित्य तथा आध्यात्मिक चेतना से विकसित किया है।[40] भारतीय भाषाओं के भाषावैज्ञानिक, साहित्यिक एव सांस्कृतिक अध्ययन व अनुसधान के लिए यह अनिवार्य हो गया है कि महावीर एव बुद्ध की परम्परा तथा उसके सम्पूर्ण साहित्य का विधिवत् अध्ययन किया जाय। अब तक जो अध्ययन किया गया है उसका पुन. मूल्याकन कर समग्र रूप से बौद्ध एव जैन धर्म की परम्परा के स्वरूप एव उसके योगदान को स्पष्ट करने की नितान्त आवश्यकता है। तभी हम भारतीय सस्कृति की पूर्णता की ओर अग्रसर हो सकेंगे।

सन्दर्भ

1 अगुत्तर निकाय तिक निपात सुत्त, द्रष्टव्य, मिलिन्दप्रश्न (हिन्दी), पृ० 231

2 मज्झिम निकाय, किन्ति सुत्त, 3।1।3

3 उपाध्याय, भरतसिंह पालि साहित्य का इतिहास, पृ० 27

4. मज्झिम निकाय, अरण-विभग सुत्त, 3।4।9

5 'सकाय निरुत्तिया बुद्ध-वचन दूसेन्ति', विनय पिटक, चुल्लवग्ग

6 'हन्द मय भन्ते बुद्धवचन छन्दसो आरोपेमाति',

7 'अनुजानामि भिक्खवे सकायनिरुत्तिया बुद्धवचन परियापुणितु',

8 सेन, सुकुमार, ए कम्पेरेटिव ग्रामर आफ मिडिल इण्डो आर्यन लेंग्वेजेज।

9 उपाध्याय, वही, पृ० 681–90

10. 'सम्मासम्बुद्धेन वुत्तप्पकारो मागधको वोहारो'—समन्तपासादिका, बुद्धघोष तथा 'सा मागधी मूल भासा—सम्बद्धा चापि भासरे'—कच्चान व्याकरण।

11. 'सब्बेस मूल भासाय मागधाय निरुत्तिया'–चूलवंश, परिच्छेद 37 तथा 'मागधिकाय सब्बसत्तान मूलभासाय'–विशुद्धिमग्ग।

12. आचार्य बुद्धघोष की अट्ठकथाएं द्रष्टव्य।

13 वापट, बौद्धधर्म के 2500 वर्ष।

14. सोगन, यमकामी, सिस्टम्स आफ बुद्धिस्ट थाट, पृ० 72–79

15 राहुल सांकृत्यायन, तिब्बत में बौद्ध धर्म ।

16 सुजुकी, ऐसेज् इन जैन बुद्धिज्म, पृ० 222–331

17 द्रष्टव्य, लेखक का निबन्ध—'भगवान् ऋषभदेव एव शिव के व्यक्तित्व का विकास' ।

18. हस्तीमल जी महाराज, जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग 1

19. देवस्थली, जी० वी०, 'प्राकृतिज्म इन द ऋग्वेद' सेमिनार प्रकाशन पूना, 1969

20 देवेन्द्र मुनि, भगवान् पार्श्व एक समीक्षात्मक अध्ययन

21 आवश्यकचूर्णि पूर्वभाग, पृ० 246–47

22 भासाइ दोसे य गुणेण जाणिया ।
तीसे य दुट्ठे परिवज्जिए सया ।। —दशवैकालिक, 7।56

23 अप्पत्तिय जेण सिया आसु कुप्पेज्ज वा परो ।
सव्वसो त न भासेज्जा भास अहियगामिणि ।। —दश० 8।47

24 वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं ।

25 वई–विक्खलिय नच्चा न त उवहसे मुणी । —महावीर के हजार उपदेश

26 शास्त्री, नेमिचन्द्र–भगवान् महावीर की आचार्य परम्परा, भाग 1

27 गोमट्टसार जीवकाण्ड, 227।488।15

28. अट्ठारस महाभासा वि खुल्लयभासा विसत्तसतसखा ।
अक्खर अणक्खरप्पय सण्णी जीवाण सयलभासाओ ।। —तिलोयपण्णत्ति, 1।61

29 समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र, 97

30 भगव च ण अद्धमागहीए भासाए धम्म आइक्खइ । —समवायागसुत्त, 98

31 जैन देवेन्द्रकुमार, अपभ्रश भाषा और साहित्य ।

32 नाहटा, अगरचन्द, राजस्थानी साहित्य की गौरवपूर्ण परम्परा ।

33 जैन, प्रेम सुमन, राजस्थानी भाषा मे प्राकृत–अपभ्रश के प्रयोग ।

34 मुशी, कन्हैयालाल माणिकलाल गुजराती साहित्य, भाग 5

35 डाडेकर, आर० एन०–प्रोसिडिंग आफ द सेमिनार इन प्राकृत स्टडीज, 1969

36. शास्त्री, कैलाशचन्द्र, दक्षिण भारत मे जैनधर्म ।

37 शास्त्री, नेमिचन्द, हिन्दी का जैन साहित्य ।

38 जैन, जगदीशचन्द्र, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० 693–702 ।

39 जैन, प्रेम सुमन, प्राकृत–अपभ्रंश तथा अन्य भारतीय भाषाएं ।

40 कत्रे एस० एम०, प्राकृत लैंग्वेजेज एण्ड देयर कन्ट्रीब्युशन्स टू इण्डियन कल्चर ।

❖❖

जब हम तुमको देख सकेंगे

❀ श्री अनोखीलाल अजमेरा–इन्दौर

बीत चुके सपनो के वे दिन जो अतीत की याद दिलाते,
मगल गान उ सव स्वरूप जो हर्षित हो हम नित्य मनाते।
चित्रपटादि सज्जित मचो पर काव्य गोष्ठियों में भी देखा,
साहित्यिक की सूझ बूझ के कल्पित अ'बारो मे देखा।
कई योजनाओ को घडकर स्मृतिस्वरूप स्तूप बनाये,
पर न तुझे हम अपने मन के उस घट दर्पण से लख पाये।
कई स्वरूप तुम्हारे थे, पर तुम एक रूप हो रहे निरन्तर,
सिद्धारथ के राजपुत्र थे, त्रिसला की आंखो के वत्सल।
कु ड ग्राम, वैशाली में भी बचे प्यार से रहे निरन्तर,
पर वे भी पा न सके भिन्न भिन्न, रूपो का अन्तर।
तो हम फिर क्या देख सकेंगे युग युग बीता वह रूप तुम्हारा,
इन्द्रादिक भी न देख सके जो था मन मोहक रूप तुम्हारा।
मणि माणिक अ बार लगाकर स्वर्ण मजुषा खूब लुटादे,
सिंहासन पाषाण मूर्तियाँ चाहे हम नित प्रति बैठादें।
यह तो है सम्मान तुम्हारा जो है वह अपण करते हैं,
दर्पण को रख दूर कल्पना मे जो रमते हैं।
मणि माणिक कचन कामिनी क्या उस स्वरूप को देख सकेगी,
महलो का उज्ज्वल प्रकाश क्या उस ज्योति को झेलस केगी।
जो कैवल्य ज्ञान पद पाकर तुमने उज्ज्वल प्रकाश फैलाया,
तिमिर तोम युग युग मे भी तुमने था उज्ज्वल दीप जलाया।
वीतरागता के स्वरूप बन बीतराग को देख सकेंगे,
वही स्वरूप हमारा होगा, जब हम तुमको देख सकेंगे।

सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् श्री नाथूरामजी प्रेमी ने अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' नामक पुस्तक के 'पद्मचरित और पउमचरिय' नामक निबंध में 'पउमचरिय' के रचनाकार श्री विमलसूरि को जैनों की उस तृतीय धारा के होने की संभावना व्यक्त की थी जिसका प्रतिनिधित्व आगे चलकर यापनीय संघ ने किया। उसमें उन्होंने पांच कारण दिये थे। विद्वान् लेखक ने विमलसूरि को श्वेताम्बर सिद्ध करते हुए उनमे से चार कारणों के निरसन का प्रयत्न किया है किन्तु उन्होंने इसका कोई समाधान इस लेख में नहीं किया कि उसमें तीर्थंकर की माता के स्वप्नो की संख्या १५ है जबकि दिगम्बर १६ और श्वेताम्बर १४ मानते हैं। यह भी विचारणीय है कि दोनों ही सम्प्रदायों की मान्यतानुसार दिगम्बर श्वेताम्बर संघ भेद वि० स० १३६ या १३९ में हुआ जबकि पउमचरिउ वि० स० ६० की रचना है।

—प्र० सम्पादक

क्या विमलसूरि यापनीय थे ?

डॉ० कुसुम पटोरिया, नागपुर

विमलसूरि का पउमचरिय जैन साहित्य का शीर्ष ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ मे श्वेताम्बर–दिगम्बर दोनो ही सम्प्रदायो के विरोधी-अविरोधी तथ्य उपलब्ध होते हैं,[1] जो कि विमलसूरि के यापनीय होने की सम्भावना व्यक्त करते हैं।[2] पउमचरिय श्वेताम्बराचार्य विमलसूरि की कृति है, अनेक प्रमाण इस तथ्य को पुष्ट करते हैं।

पउमचरियकार ने ग्रन्थ की प्रशस्ति मे अपनी गुरुपरम्परा दी है। वे स्वसमय परसमय पारंगत आचार्य राहु के प्रशिष्य व नाइलकुलवंशनंदिकर आचार्य विजय के शिष्य हैं।[3] इस नाइलकुल का उल्लेख श्वेताम्बर ग्रन्थों में ही मिलता है। मुनि कल्याणविजयजी का कथन है कि सूत्रों के व्याख्या ग्रन्थो के उल्लेखों से इस कुल के मुनि स्वतन्त्र प्रकृतिवाले प्रतीत होते हैं।[4] श्वेताम्बर ग्रन्थो मे इस कुल का नामोल्लेख नाइलकुल को स्पष्टरूप से श्वेताम्बर प्रमाणित करता है। नन्दिसूत्र मे तो आचार्य भूतिदिन्न को स्पष्टरूप से नाइलकुलवंश-नंदिकर ही कहा गया है।[5] निश्चित ही नाइल-कुलवंश श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बद्ध है तथा विमलसूरि का नाइलकुलवंशी होना उनके श्वेता-म्बरत्व का प्रबल प्रमाण है।

आचार्य रविषेण के समक्ष जैन रामकथा की दो धारायें विद्यमान थी एक पउमचरिय की और दूसरी उत्तरपुराण की। दिगम्बराचार्य रविषेण ने उत्तरपुराण की कथा को छोड़कर पउमचरिय की कथा को अपने ग्रन्थ का आधार बनाया है। आचार्य रविषेण निश्चित ही पउमचरिय से बहुत अधिक प्रभावित है, तभी उन्होने अपना पद्मचरित पउमचरिय के पल्लवित छायानुवाद के रूप में लिखा है। आचार्य विमलसूरि के ग्रन्थ का उपयोग करने पर भी उन्होंने पउमचरिय अथवा विमलसूरि का नामोल्लेख नहीं किया है। निश्चित ही आचार्य विमलसूरि उनके सम्प्रदाय के अर्थात् दिगम्बर

सम्प्रदाय के नही थे, इसलिये रविषेणाचार्य उनके नामोल्लेख से कतरा गये हैं।

यापनीय सम्प्रदाय के अनुयायी स्वयभु ने भी अपने अपभ्रंश पउमचरिय के प्रारम्भ में लिखा है कि यह रामकथा रविषेणाचार्य के प्रासाद से उन्हे प्राप्त हुई है। यदि आचार्य विमलसूरि यापनीय होते तो स्वयभु निश्चित ही उनका बहुमानपूर्वक उल्लेख करते। स्वयभु पउमचरिय और विमलसूरि से परिचित न हो, यह बात असभव प्रतीत होती है।

आचार्य विमलसूरि द्वारा जैन मुनि के लिये सियवर या सेयबर शब्द का प्रयोग भी उनके श्वेताम्बरत्व को प्रमाणित करता है।[6]

पुष्पिका मे विमलसूरि को पूर्वधर बताया गया है, पूर्वधरो की सूची मे इनका नाम कही भी प्राप्त नही होता, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा भगवान महावीर के निर्वाणोपरान्त एक हजार वर्ष तक पूर्वधरो का अस्तित्व स्वीकार करती है। आचार्य विमलसूरि का पूर्वधर होना श्वेताम्बर परम्परानुकूल है।

आगमेतर श्वेताम्बर जैन साहित्य जैन महाराष्ट्री मे लिखा गया है, पउमचरिय भी जैन महाराष्ट्री मे रचित है, अत इसकी भाषा भी इसे श्वेताम्बर घोषित करती है।

स्त्रीमुक्ति[7] जैसे सिद्धान्त का समर्थन करने के कारण उन्हे दिगम्बर परम्परा का आचार्य तो माना ही नही जा सकता। यापनीय सम्प्रदाय अवश्य स्त्रीमुक्ति स्वीकार करता रहा है, किन्तु इनके यापनीय होने के भी साधक प्रमाण नही मिलते हैं, किन्तु जैसा कि डॉ० वी० एम० कुलकर्णीजी ने कहा है इनका नाइलकुलवश, श्वेताम्बर मुनि का उल्लेख तथा जैन महाराष्ट्री भाषा ये प्रमाण इनको श्वेताम्बराचार्य प्रमाणित करते हैं।[8]

पउमचरिय के जो उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा के विरुद्ध प्रतीत होते हैं उनमें से प्रमुख यह है कि गौतम गणधर तथा राजा श्रेणिक की वक्ता श्रोता योजना दिगम्बर परम्परा के अनुकूल है, महावीर के गर्भापहरण तथा विवाह की घटना का उल्लेख नही है आदि।

भगवान महावीर के जीवनकाल में ही गौतम आदि गणधर धर्मोपदेश दिया करते थे। आवश्यक चूर्णि मे भगवान महावीर की देशना के उपरान्त गौतम आदि गणधरों के धर्मोपदेश का उल्लेख है—

तित्थगरो पढमपोरुसीय धम्म ताव कहेंमि जाव पढमपोरुसी उग्घाडवेला।[9] उवरि पोरुसीए उट्ठिते तित्थकरे गोयमसामी अन्नो वा गणहरो बितीय पोरुसीए धम्म कहेति।[10]

राजा श्रेणिक भगवान महावीर के समकालीन प्रसिद्ध जैन सम्राट हुये हैं, जिन्होने गौतम गणधर से अपनी अनेक शकाओ का समाधान किया होगा, अत इन्द्रभूति गौतम तथा राजा श्रेणिक की वक्ता श्रोता योजना की परम्परा का आरम्भ हुआ। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भगवान महावीर पश्चात् प्रमुख शिष्य होने पर गौतम गणधर के स्थान पर सुधर्मा स्वामी को सघ का नेतृत्व प्राप्त हुआ। सुधर्मा स्वामी ने पट्टधर होने के काल मे जम्बू स्वामी की शकाओ का समाधान किया। इस प्रकार जैन सम्प्रदाय मे प्रथमत गौतम श्रेणिक व फिर आर्य सुधर्मा व जम्बूस्वामी की वक्ता श्रोता योजना का आरभ हुआ। इनमे से प्रथम को दिगम्बर सम्प्रदाय ने और दूसरी को श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने अपना लिया। पउमचरिय आरम्भिक शताब्दियो की रचना है, उस समय तक ये परम्परायें रूढ़ नही हुई होगी, अत पउमचरिय मे श्रेणिक गौतम गणधर की श्रोता वक्ता योजना मिलती है।

भगवान महावीर के विवाह के सम्बन्ध में भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय में दोनो मान्यतायें हैं। कल्पसूत्र व आवश्यक भाष्य, इन्हे विवाहित मानते हैं दूसरी ओर समवायांग स्थानाग व आवश्यक नियुक्ति मे इनके अविवाहित रहने की मान्यता है।

केवलज्ञान प्राप्ति के उपरान्त भगवान महावीर का भव्यो को प्रतिबोधित करते हुये विपुलाचल पर आगमन, तीर्थंकरत्व-प्राप्ति के 20 कारण, तीर्थंकर की माता के 14 स्वप्न, भरत चक्रवर्ती की 64 हजार रानिया आदि उल्लेख आचार्य विमलसूरि के श्वेताम्बर होने का समर्थन करते हैं। निश्चित ही विमलसूरि एक श्वेताम्बराचार्य हैं, उनका नाइकुलवश स्वयभु द्वारा स्मरण न किया जाना तथा उनके श्वेताम्बर साधु का आदरपूर्वक उल्लेख उनके यापनीय न होने के प्रबल प्रमाण है।

---

1 पउमचरिय भाग 1 Introduction Dr V M Kulkarni Page 18–22,

2 (पद्मचरित और पउमचरिय) जैन साहित्य का इतिहास श्री नाथूरामजी प्रेमी पृ० 98

3 पउमचरिय 118, 117, 118

4 पउमचरिय भाग 1 Introduction, 'Vimalsuri's life

5 नन्दिसूत्र गाथा 38

6 पउमचरिय 22/78–79

7 पउमचरिय 83/12

8 पउमचरिय Introduction Dr V M Kulkarni P. 22

9 आवश्यक चूर्णि . भाग 1 पृ० 332

10 आवश्यक चूर्णि , भाग 1 पृ० 333

असम्पृक्त लगाव

डॉ० नरेन्द्र भानावत

मतवाद,
स्वार्थ,
और कट्टरता से बंधी
घुटन भरी
तंग मुट्ठियों को
जरूरत है–
महावीर के
अनन्तधर्मा
सापेक्ष चिन्तन के
भ्रममुक्त खुलाव की ।

दिशा हीन,
बेमानी,
विक्षिप्त यात्रा को
तेज भागती
पेंडुलमी रफ्तार को
जरूरत है–
महावीर के
स्थितप्रज्ञ
अन्तर्मन के
विवेकदीप्त पड़ाव की ।

रक्तरंजित,
जहरीली
अंधेरी,
अनन्त लालसाओं से
त्रस्त, संतप्त
दुर्लभ जीवन सांसों को
जरूरत है–
महावीर के
तप संयममय
असम्पृक्त लगाव की ।

संगीत लहर

श्री उदयचन्द्र 'प्रभाकर' शास्त्री, इन्दौर

आम्र बल्लरिया
कोयल के
सरगम से गूंज उठी
आभास हुआ पत्तों को
ये कौन
पाण्डुर वस्त्रों के बीच
फिर भी खामोशी
दूर क्षितिज के कोने तक
चंचल मंद पवन फिर भी ललचाया
जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों को
धरती पर बिखराया
ममता ने समताभाव धराकर
छोटी सी कच्छी पहनाई
धर्म दीप की
ज्ञानदृष्टि अपनाई
ये मेरे नहीं
आज मैं जिनको कहता हूं
पर वो देखो
सुख को
जन जन में अब भी बाँट रहा
पता नहीं कैसी पहरी
झुरमुट से यों ताक रहा
संगीत लहर
ज्ञानामृत की सरिता में यों घोल रहा
तब क्या
मैं महावीर को जान सका ?

——

प्रिंस आफ वेल्स संग्रहालय, बम्बई का जैन कांस्य मूर्तियों के संग्रह के कारण अपना एक अलग ही महत्वपूर्ण स्थान है। इन मूर्तियों में से कुछ के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न समयों पर कई पत्र पत्रिकाओं में अपने निबन्ध प्रकाशित कराये हैं मगर आज तक एक भी ऐसा निबन्ध प्रकाशित नहीं हुआ जो वहाँ की सम्पूर्ण कांस्य मूर्तियों के सम्बन्ध में एक ही स्थान पर जानकारी उपलब्ध करा सके। विद्वान लेखक ने अपने इस निबन्ध द्वारा एक बहुत बड़े प्रभाव की पूर्ति की है। आशा है इस क्षेत्र के शोधार्थी छात्रों एवं अनुसंधित्सुओं के लिए यह निबन्ध बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा।

प्र सम्पादक

प्रिन्स आफ वेल्स संग्रहालय, बम्बई में कांस्य मूर्तियां

❀ डा० ब्रजेन्द्रनाथ शर्मा दिल्ली

प्रिन्स आफ वेल्स सग्रहालय, बम्बई में जैन कास्य प्रतिमाओ का बडा महत्वपूर्ण सग्रह है। इन प्रतिमाओ मे केवल दो को छोडकर जो चोपडा तथा श्रवण बेलगोला से प्राप्त हुई थी अन्य मूर्तियां पश्चिमी भारत मे बनी प्रतीत होती हैं। इन मूर्तियों पर सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० उमाकान्त प्रेमानन्द शाह तथा डा० मोतीचन्द व श्री सदाशिव गोरक्षकर आदि ने विभिन्न अग्रेजी की पत्रिकाओ में निबन्ध प्रकाशित किये हैं। प्रस्तुत लेख में हम समस्त जैन मूर्तियो को एक ही स्थान पर प्रकाशित कर रहे हैं जिससे जैन मूर्तिकला में रुचि रखने वाले विद्वान् एव विद्यार्थियो को उनकी जानकारी प्राप्त हो सके।

इस सग्रहालय की सबसे प्राचीन जैन कांस्यमूर्ति प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ का चौबीसी पट्ट है (न० 42) जो चोपडा, जिला खानदेश में कई वर्ष पूर्व प्राप्त हुआ था। दो फीट ऊंची एव आठवीं शती ई० में निर्मित इस अत्यन्त कलात्मक मूर्ति के मध्य में आदिनाथ एक पद्म पर जो त्रिरथ पीठिका पर स्थित है, कायोत्सर्ग मुद्रा में खडे हैं। इनके घुघराले केश दोनो ओर कन्धों पर लटक रहे हैं। इनके वक्ष पर सोने का श्रीवत्स चिन्ह अकित है तथा नीचे के अधो भाग में धोती पहिने है जिसकी गांठ सामने लगी है। इनके शीश के पीछे एक सुन्दर प्रभा बनी है तथा दोनो ओर एक-एक चवरधारी सेवक खडा है। इनके अतिरिक्त दोनो ओरही तीन-तीन तीर्थंकर ध्यान मुद्रा में हैं। आदिनाथ के शीश के पीछे बनी प्रभा के दोनो ओर चार-चार तीर्थंकर विराजमान हैं। इनके ऊपर एक पंक्ति में छ तथा उनके ऊपर अन्य पंक्ति में तीन अन्य तीर्थंकरों की ध्यानस्थ प्रतिमायें हैं। सबसे ऊपर की पक्ति के मध्य में पांच फणों की छाया में तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्ति है। मूल प्रतिमा के बाह्य भाग पर दोनों ओर नीचे से ऊपर तक क्रमश गज-शार्दूल, वीणा-वादक, मृदग वादक, ढपली वादक तथा हाथ जोडे दिव्य उपासिकायें तथा मालाधारी गन्धर्व उडते

दिखाये गये हैं और सबसे ऊपर मध्य में त्रिछत्र के ऊपर कलश बना है।

सिंहासन के दाहिनी ओर एक पेड के नीचे किरीटधारी यक्ष है जो देखने मे कुबेर प्रतीत होता है। इसके दाहिने हाथ मे बीजपूरक व बायें में नकुल है। इसी प्रकार दूसरी ओर सम्भवत यक्षी अम्बिका की मूर्ति है जो आम्र वृक्ष के नीचे दाहिने हाथ मे एक आम्रलुम्बि तथा बाये से एक बालक को पकडे हैं परन्तु इनका वाहन सिंह नही दर्शाया गया है। सिंहासन के मध्य मे धर्मचक्र स्थित है और एक-एक मृग है। इसके निचले भाग पर नवग्रह बने है। यह मूर्ति जैन मूर्तियो मे अद्वितीय है।

दूसरी दुर्लभ जैन प्रतिमा बाहुबलि की है जो कायोत्सर्ग मुद्रा मे खडे हैं (न० 105) यद्यपि एलोरा, बादामी, मध्य प्रदेश तथा अन्य स्थानो से भी ऐसी मूर्तिया ज्ञात हैं परन्तु श्रवणबेलगोला क्षेत्र से मिली चालुक्य युगीन 9वी शती ई० की यह कास्य मूर्ति जैन मूर्तिकला के क्षेत्र मे अद्वितीय स्थान रखती है। श्रवणबेलगोला जैनधर्म के अनुयायियो के लिए एक पुनीत स्थल है और यहा की विश्व प्रसिद्ध लगभग 57 फीट ऊची गोम्मटेश्वर की विशाल मूर्ति स्थित है जिसका निर्माण गग सेनापति चामुण्डराय ने लगभग 983 ई० मे करवाया था।

एक फुट आठ इञ्च ऊची इस नग्न कास्य मूर्ति मे उनके केश ऊपर की ओर हैं तथा जटायें कन्धो पर पडी हुई हैं। ससार त्यागने पर घोर तपस्या मे लीन होने के कारण उनके शरीर से अनेक लतायें लिपट गई थी, जिसको इस मूर्ति मे बडी सुन्दरता से कुशल कलाकार ने दर्शाया है। उनकी सीधी नासिका, नीचे का भारी होठ, लम्बे कान एव सुडौल शरीर की बनावट के कारण प्राय सभी कलाविदो ने इस मूर्ति की भरपूर प्रशसा की है।

मध्य काल मे राजस्थान तथा गुजरात मे जैन धर्म का काफी प्रचार था, जिसके फलस्वरूप अनेक जैन धर्म से सम्बन्धित देवी देवताओ की मूर्तियो का पूजा हेतु निर्माण हुआ। इस काल में अधिकतर लघु कास्य मूर्तियो का ही विशेष रूप से निर्माण हुआ जो कि न केवल मन्दिरो मे ही वरन् जैन उपासको के घरो मे भी प्रतिष्ठापित की गई। कला की दृष्टि से ये मूर्तियां एक ही प्रकार की हैं और अधिकतर पीतल की हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकारो ने मूर्तियो की बाह्य रचना पर विशेष ध्यान न देकर उन्हे केवल पूजा की वस्तु मान कर ही उनकी रचना की। यही कारण है कि राजस्थान व गुजरात मे बनी असख्य मूर्तियां अधिकतर एक ही प्रकार की हैं। राजस्थान मे वसन्तगढ तथा गुजरात मे अकोटा से जो धातु की प्रतिमाये मिली हैं उनमे मूर्तिकला की दृष्टि से प्राय अधिकतर विशेषतायें सामान्य ही हैं। अधिकतर मूर्तियो में बाह्य आडम्बर का प्रभाव प्रतीत होता है। इन मूर्तियो मे तीर्थंकर को त्रिछत्र के नीचे आसीन अथवा सिंहासन पर विराजमान दिखाया गया है और उनके दोनो ओर चवरधारी सेवक व ऊपर उडते गन्धर्वों का अकन है। पीठिका पर सामने धर्मचक्र को घेरे दो मृगो के अतिरिक्त नवग्रह का भी अकन मिलता है। इनके अतिरिक्त प्रत्येक तीर्थंकर का यक्ष एव यक्षिणी उनके आसन के दोनो ओर दिखाये गये है। आदिनाथ पार्श्वनाथ, सुपार्श्वनाथ की प्रतिमाओ के अतिरिक्त शेष तीर्थंकरो की पहचान के लिए मूर्तियो के पृष्ठ भाग पर उत्कीर्ण लेखो से ही सहायता लेनी होती है। इन लेखो मे मूर्ति के निर्माण काल के अतिरिक्त मूर्तियो के दान कर्ता की वशावली तथा कभी कभी कुछ विशेष 'गच्छो' के नामो का भी पता चलता है जो कि उस समय पनप रहे जैन धर्म के इतिहास के लिए भी परम उपयोगी है। ऐसी मूर्तियाँ जैन मन्दिरो के अतिरिक्त भारत एव विदेशो के अनेक सग्रहालयो में भी प्रदर्शित है। जो स्थिति मध्य युग मे बौद्ध धर्म की पूर्वी भारत मे थी, लगभग वही स्थिति इस काल मे

जैन धर्म की पश्चिमी भारत में भी थी। नालन्दा कुर्कीहार, फतेहपुर तथा अन्य स्थानो से प्रसस्य बौद्ध कास्य एव पाषाण मूर्तिया पूर्वी भारत से प्राप्त हुई हैं। राजस्थान व गुजरात के अनेक जैन भण्डारो मे तथा जैन मन्दिरो में तिथियुक्त जैन मूर्तियां उपलब्ध है जिनका विस्तार से अध्ययन आवश्यक है।

प्रिन्स आफ वेल्स सग्रहालय में इस समय पश्चिमी भारत से प्राप्त लगभग इक्कीस जैन प्रतिमायें उपलब्ध हैं जो ईसवी 887 से 1427 के समय की बनी हैं। कला की दृष्टि से इन मूर्तियो मे कोई विशेष अन्तर नही है इनमें तीर्थंकरो के अतिरिक्त कई त्रितीर्थी तथा पचतीर्थी प्रतिमायें भी है। पीतल की बनी इन सभी मूर्तियो मे तीर्थंकर को ध्यानमुद्रा में बैठे दिखाया गया और साथ मे उनके यक्ष एव यक्षिणीयो का अ कन हैं। इनका सक्षेप मे वर्णन इस प्रकार है।

प्रथम तीर्थ कर मूर्ति में 'जिन एक सिंहासन पर विराजमान है और इनके दोनो ओर एक-एक चवरधारी सेवक खडा है (न० ६७७)। पीठिका से निकलते हुए कमल के ऊपर दाहिनी ओर यक्ष एव बाईं ओर यक्षिणी का अङ्कन है तथा सामने अष्ट ग्रह व प्रभा के ऊपर मालाधारी गन्धर्व है। मूर्ति के पृष्ठ भाग पर उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होता है कि यह वि० स० ९४४ (८८७) ई० में बनी थी।

उपर्युक्त जिन प्रतिमा से काफी साम्यता रखती हुई भगवान् ऋषभनाथ की मूर्ति है जिनकी पहचान कन्धो पर पडे हुए उनके केशो से की जा सकती है। (न० ६७०६) मूर्ति पर्याप्त रूप से नष्ट है। सिंहासन के दोनो ओर इनका यक्ष गोमुख तथा यक्षी चक्रेश्वरी की लघु मूर्तिया है। यह लगभग ९वी शती ई० की कृति है।

प्रिन्स आफ वेल्स सग्रहालय मे पाश्वनाथ की नौ मूर्तियाँ विद्यमान हैं। इसमे सबसे प्राचीन प्रतिमा जो ९वी शती ई० की है (नं० ६७९), पार्श्वनाथ की सर्प फणो की छाया में ध्यान मुद्रा मे विराजमान हैं। पार्श्वनाथ की १०वी शती ई० की एक मूर्ति मे (६७२३) वे पांच फणो के नीचे बैठे हैं और यक्ष धरणेन्द्र तथा यक्षी पद्मावती जो तीर्थ कर मूर्ति के दोनो ओर हाथ जोड़े हैं के शरीर के नीचे का अधो भाग सर्प रूपी बना है जो सामान्यतया प्रस्तर प्रतिमाओ की अपेक्षा कास्य प्रतिमाओ में कम ही मिलता है।

पार्श्वनाथ की एक त्रितीर्थी प्रतिमा जिसके पृष्ठ भाग पर वि० स० ११११० (१०५३ ई० का अस्पष्ट लेख उत्कीर्ण है, के दोनो ओर ऋषभनाथ एव महावीर की कायोत्सर्ग मुद्रा मे मूर्तिया स्थित हैं और उनके पैरो के समीप पीठिका से निकलते हुए पद्मो पर धरणेन्द्र एव पद्मावती की आसन मूर्तिया बनी हैं। मूल प्रतिमा के शीश के ऊपर बने सर्प के सप्त फणो का अङ्कन बडी सुन्दरता से हुआ है। पाश्वनाथ के वक्ष पर अ कित श्रीवत्स चिन्ह मे चादी का प्रयोग हुआ है। (न० ६७१०)।

पार्श्वनाथ की कई त्रितीर्थियो के अतिरिक्त एक पचतीर्थी भी इस सग्रहालय मे विद्यमान है (न० ६७२४)। लगभग बारहवी शती ई० मे निर्मित हुई इस मूर्ति के मध्य मे पार्श्वनाथ मध्य मे सपफणो के नीचे ध्यान मुद्रा मे विराजमान हैं। इनके दोनो ओर कायोत्सर्ग मुद्रा मे खडे आदिनाथ एव महावीर मूर्तियो के ऊपर एक-एक अन्य तीर्थ कर की ध्यान-मुद्रा मे लघु मूर्ति स्थित है। नीचे सामने वाले भाग पर धरणेन्द्र व पद्मावती का अन्य मूर्तियो की भाति अ कन है।

इसी सग्रहालय मे नेमिनाथ की मूर्ति भी है जिसके पृष्ठ भाग पर वि० स० १२२८ (११-७१

ई०) का लेख उत्कीर्ण है (नं० ६७२०)। अन्य मूर्तियो की ही भाति इस मूर्ति में नेमिनाथ के दोनो ओर चवरधारी सेवको के अतिरिक्त उनके यक्ष एव यक्षी का अङ्कन प्राप्त है। नेमिनाथ की इस प्रकार की मूर्तिया कम ही प्रकाश मे आई हैं।

उपर्युक्त नेमिनाथ की मूर्ति से साम्यता रखती चौबीसवें तीर्थंकर महावीर की भी मूर्ति है। इसमें इनके शीश के पीछे पद्म-रूपी प्रभा है तथा इनकी आखो में चांदी लगी हुई है। कला की दृष्टि से यह मूर्ति कोई अच्छा उदाहरण नही मानी जा सकती है। मूर्ति के पीछे स० १२४३ (११८६ ई०) के लेख से ज्ञात होता है कि इसका निर्माण बोधरदेव एव पूनसिरि के पुत्र वहुडक ने किया था तथा वीरप्रभ सूरि ने इसकी प्रतिष्ठापना की थी (न० 67.19)।

यहां पर पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ की चौबीसी भी उल्लेखनीय है (नं० 67 17) जिसका निर्माण 15वीं शती ई० के पूर्वार्द्ध में हुआ था। मध्य में धर्मनाथ एक गज सिंहासन पर ध्यान मुद्रा में विराजमान हैं। इनके दोनो ओर एक-एक तीर्थंकर जो पार्श्वनाथ तथा सुपार्श्वनाथ प्रतीत होते हैं, सर्प फणों के नीचे कायोत्सर्ग मुद्रा मे खड़े हैं। शेष तीर्थंकर पक्तियो में प्रभा तोरण के ऊपरी भाग पर ध्यान मुद्रा में प्रदर्शित किए गए हैं। मूल मूर्ति के दोनो ओर यक्ष किन्नर तथा यक्षिणी कन्दर्पा का सुन्दर अकन प्राप्त है। मकर तोरण के ऊपरी भाग मे कलश बना है। मूर्ति के पीछे वि. स. 1484 (1427 ई०) का लेख उत्कीर्ण है।

महावीर की वाणी !

यदि जन जन के अन्तस् मे,
घुल जाये महावीर की वाणी !
झूठ, छल, कपट, काला बाजारी,
का हो जाये मुंह काला,
हिंसा, चोरी, अनाचार का
जग से निकल जाय दीवाला,
सबल-निबल के छुआ-छूत के।
भेदो पर पड जाये पाला,
असामाजिक तत्वों की
गति विधियो पर भी पड जाये ताला
सारा पाप पक घुल जाये
वह निकले धारा कल्याणी
यदि जन जन के अन्तस् मे
घुल जाये महावीर की वाणी !

(श्री ज्ञानचन्द्र 'ज्ञानेन्द्र' द्वारा)

भारत भर में जैन मूर्तियों के संग्रह की दृष्टि से मथुरा के पश्चात् लखनऊ संग्रहालय की गणना की जा सकती है। हमारे विद्वान् लेखक श्री रस्तौगी, जो कि वहां ही के एक अधिकारी हैं, प्रतिवर्ष स्मारिका के पाठकों को वहां की महत्वपूर्ण कलाकृतियों से परिचित कराते रहते हैं और वह परिचय भी सचित्र। इस वर्ष भी वे एक 11वीं शताब्दी की महत्वपूर्ण मनोज्ञ मूर्ति का सचित्र परिचय अपनी इन पंक्तियों में प्रस्तुत कर रहे हैं। मूर्ति के पाद लेख में वुस्तावट नामक स्थान का उल्लेख है जो प्रायः अज्ञात है। इससे प्राग्वाट (परवार अथवा पोरवाल) जाति का अस्तित्व 11वीं शताब्दी से सिद्ध है।

—प्र सम्पादक

एक विचित्र जिन-विम्ब

✽ श्री शैलेन्द्रकुमार रस्तोगी, लखनऊ

जिस प्रकार रत्नाकर के अन्तराल मे अगणित रत्न छिपे रहते हैं। उसी प्रकार से भारत के हृदय उत्तरप्रदेश की राजधानी लक्ष्मणपुरी या लखनऊ स्थित राज्य संग्रहालय के संग्रह सागर मे भी असख्य सुविख्यात एव अज्ञात कलारत्नछिपे हुए हैं।

अधुना ऐसी ही दुर्लभ एक मनोज्ञ जैनकला रत्नस्वरूपा प्रतिमा (जे–776) का परिचय प्राप्त करे। आलोच्य निदर्शन (3'–3½"×2'×1'–1") आकार का काले प्रस्तर पर तराशा गया है। इसे प्रदेश के आगरा जनपद स्थित मुस्लिम किले के समीप जमुना पुलिन से यहा लाया गया था। सौभाग्य से कुछ अ श को छोडकर सम्पूर्ण प्रतिमा पूर्ण सुरक्षित है। प्रतिमा की चरण चौकी के नीचे देवनागरी लिपि एव सस्कृत भाषा मे निबद्ध अधोलिखित लेख उत्कीर्ण है —

(1) ॐ सवत् 1063 माघसुदि 13 वुस्तावट वास्तव्य प्राग्वाट वणिक रिसिय [T]

(2) ककुणल्य सुतेन वीवक नाम्ना श्रावकेन कारितेय श्री मुनिमुव्र

(3) तस्य प्रतिमा ॥

अर्थात् सवत् 1063 की माघसुदि की त्रयोदशी को वुस्तावट (?) वासी प्राग्वाट वणिक रिसिय ककुणल्य पुत्र वीवाक या वीवक[1] नामक श्रावक ने इस मुनिसुव्रत की प्रतिमा को बनवाया।

इह सदर्भित "वुस्तावट" कहाँ है मुझे ज्ञात नही यदि विज्ञ इतिहासकारो को इसका परिचायक ज्ञात हो तो अनुरोध है कि इसकी भौगोलिक स्थिति से मुझे भी अवगत कराने की कृपा करें।

इसी प्रकार 'प्राग्वाट' भी विचारणीय पद है किन्तु इसका समाधान पोरवाल या परवार जाति के रूप मे ज्ञात हुआ।[2] यह जाति आज भी राजस्थान मे पायी जाती है।

यूं तो प्रतिमा लेख में श्री मुनिसुव्रत की प्रतिमा की स्थापना का उल्लेख है, किन्तु इस कलाकृति की विलक्षणताएँ, विशेषताएँ कुछ अधिक सोचने को विवश करती है। मूलनायक बीसवें तीर्थङ्कर मुव्रतनाथ का लाछन कच्छप (कछुआ) दायी ओर को मुँह किए सनाल कमल पर बना है। इसी की बाँयी ओर दाँयी ओर आमने-सामने मुँह किए वस्त्राभूषणो से सजे नमस्कार मुद्रा मे क्रमश स्त्री पुरुष विराजमान हैं। पुरुष के डाढी है। ठीक कच्छप के ऊपर ही षोडश आरो का चक्र है जिसके बीच से वस्त्र बाहर का निकला हुआ है। चक्र के ऊपर वृताकार मे नक्काशी का वेष्टन है।

तदुपरान्त आसन का भार वहन करने वाले दोसिंह बने हैं। जो एक पैर को उठाए हुए हैं तथा दोनो ही के मुँह सामने को खुले हुए हैं। इसके पास ही दोनो ओर एक-एक अलकृत स्तम्भ थे किन्तु दाँयी ओर का स्तम्भ टूट गया है। आसन चौकी पर सामने की ओर तीन बडे फूल हैं जो पाँच लघु पुष्पो के गुच्छे हैं बाकी भाग को छोटे खार-खानो से सजाया गया है और बीचोबीच मे मनको का अकन है। इसी के नीचे आसन का बिछा वस्त्र लटक रहा है जिस पर बक्र रेखाओ का मनोहारी विलेखन है और तीन कीर्तिमुखो के मुँह से निकलने वाली मुक्तालडियो को दर्शाया है। तत्पश्चात् कमल पर ध्यानस्थ मुनिसुव्रतनाथ को बैठाया गया है। मुनिसुव्रतनाथ के वक्षस्थल पर श्रीवत्स एव शिर पर घुँघराले केश है। मूल-नायकोचित भाव का सफल चित्रण है। मुख से शान्ति एव करुणा की प्रभा फूटी पडती है। मूल-नायक के बाँए एव दाँए एक जैसी वेश सज्जा वाले चॅवर धारियो का आलेखन है। दोनो ही के एक-एक हाथ खडित हो चुके हैं। पीठ के दोनो ओर सिंहासन के गजमुख बने हैं। मुनिसुव्रत की प्रतिमा के ऊपर की ओर दाँयी बाँयी ओर विद्याधर मिथुन बने है, मलनायक के शिर के पीछे अष्ट पद्मपत्रो से बना प्रभामडल है इसके ऊपर तेज मडल भी दर्शनीय है। प्रभामडल के दोनो ओर कैवल्य वृक्ष के एक एक पत्ते बने हैं। और प्रभामडल के मध्य मे त्रिछत्र दड बना है। ऊपर त्रिछत्र है नीचे मुनिसुव्रत सुशोभित हैं जिस पर अमृतघट तदपुरान्त देवदुदभिवादक का अकन है।

त्रिछत्र के बराबर दोनो ओर एक-एक सजे हुए हाथी (ऐरावत) जिन पर सवार हैं। बाँयी ओर दो सवार भी हैं पिछला सवार कलश लिए है ऐसा हो सकता है कि इन्द्र मूलनायक की अभ्यर्थना हेतु अमृत ला रहा हो। दूसरी तरफ भी ऐसा बना होगा किन्तु इस समय खडित ही है।

तदुपरान्त मूलनायक के अकन के ऊपर दो खम्भो का सहायता से मन्दिर या गर्भगृह बना है जिसके भीतर ध्यानस्थ जिन बने है। इनके दोनो ओर चतुर्भुजी एक-एक देव प्रतिमाएँ भी बनी है। बाँयी ओर की मूर्ति के हाथो मे गदा, शखादि बने हैं दाँयी तरफ की मूर्ति के सिर पर सर्पफण, हल, मूसल, पात्र आदि बने हैं। इस प्रकार क्रमश ये श्रीकृष्ण एव बलराम के रूप में पहचाने जा सकते है। अस्तु बीच मे ध्यानस्थ जिन नेमिनाथ भगवान स्वय सिद्ध हो जाते है। इन्ही बलराम श्रीकृष्ण के निकट ही वीणा एव बाँसुरी वादक भी बने हैं। नेमिनाथजी की वेदी के ठीक ऊपर बडा कीर्तिमुख है जिसके मुख से मोतियो की मोटी बटी हुई लडी दोनो ओर नीचे को जा रही है तथा नीचे एक-एक पुरुष इसे दृढता से पकडे बने हैं। यद्यपि इन पुरुषो के ऊपरी भाग टूट चुके हैं किन्तु निचले भाग शेष हैं।

तत्पश्चात् मुकुट, केयूर, अधोवस्त्रादि से परिवेष्टित कायोत्सर्ग मुद्रा में कमल पर दोनो ओर एक २ दिव्य पुरुष खडे हैं। इन पर त्रिछत्र या कैवल्य वृक्ष नही बना है। ये कौन हैं इन्हें पहचानना कठिन प्रतीत होता है। कहीं जीवन्तस्वामी या इन्द्र तो नहीं हैं ?[3] इन्हीं के नीचे दोनो ओर एक-एक कायोत्सर्ग मुद्रा मे कमल पर खडे तीर्थङ्कर हैं। इनके श्रीवत्स बना है, ऊपर त्रिछत्र एव कैवल्यवृक्ष है। अधोवस्त्र को भी दर्शाया है। इस प्रकार से यह प्रतिमा श्वेताम्बर मतानुसार बनायी गई प्रतीत होती है। इन तीर्थङ्कर प्रतिमाओ के मुखमडल से तप की तेजस्विता प्रस्फुरित होती है।

मूलनायक के परिकर के बॉयी ओर उपरोक्त कैवली प्रतिमा के नीचे सिंहवर अर्द्ध पर्यंकासीन द्विभुजी अम्बिका का अकन है जिनकी बायी तरफ गोद मे बालक है तथा दॉयी हाथ से पाश पकडे है। इनके पास चॅवरधारिणी बनी है जो ऊपर से खडित है। किन्तु हाथ मे चॅवर स्पष्ट है।

दायी तरफ मोडे पर द्विभुजी वरुण शासन देवता बैठे हैं जिनके एक हाथ मे नेवला तथा दूसरे मे निधिपात्र या बडा नीबू बना है। दायी ओर ही त्रिभगमुद्रा मे खडी, वस्त्राभूषणो से समलकृत द्विभुजी एक कर मे पुस्तक लिए तथा दूसरे मे वस्त्र या पाश ? जैसी वस्तु लिए देवी का आलेखन है।

देवी के हाथ मे पुस्तक का होना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि यह ज्ञान की देवी शारदा का ही अकन है। इन्हे श्रुतदेवी माना जा सकता है। ऐसा लगता है कि भगवान के श्रीमुख से निसृत अमृतवाणी के प्रसरण हेतु सरस्वती देवी को यहा पर रूपायित किया गया है।

इस प्रकार से यहा पर इतना स्पष्ट हो जाता है। पता नही कलाकर ने क्यो शासन देवता व शासनदेवी तथा सरस्वती इन सभी को वाहन-विहीन दर्शाया है।

जहा तक सरस्वती की वाहन हीनता का सबध है तो इसी सग्रहालय मे (जे-24) सरस्वती जो कुषाण कालीन हैं उस पर भी वाहन नहीं है। किन्तु जैन प्रतिमाशास्त्रीय मत का उल्लघन कलाकार का अभिप्राय नही प्रतीत होता अपितु ऐसा लगता है कि शासन देवता और देवियों को भक्तो के अधिक समीप लाने का प्रयास किया है क्योकि इन्ही से भक्त अपनी सीधे प्रार्थना कर सकता है। कई मुख भी शायद इसी कारण से नही पाते है। यद्यपि जैन प्रतिमा शास्त्रीय ग्रन्थो मे यहा बनी कृतियो के अनुसार वर्णन नही पाते हैं। यह भी सम्भव है कि अन्य मतो के प्रभाव के कारण इसी तरह से इन्हे बनाया हो।

अस्तु, यहा पर रूपायित आकृतियो के अलकरण, केश विन्यास भाव, मुद्रादि पर विचार करने पर यह कलाकृति चौहान युगीन प्रतीत होती है। क्योकि अन्य स्थलो से उपलब्ध इसी की शैली से परिपूर्ण प्रतिमाए चौहान राज कुलीन कला से सम्बद्ध कलाविदो द्वारा ठहरायी गई है।[4]

जैसा कि ऊपर निवेदित हो चुका है कि उपरोक्त निदर्शन जमुना के तट से प्राप्त हुआ है। इसी के निकट आज भी ऐतिहासिक किला खडा है। इस विषय पर मैने लब्ध प्रतिष्ठित जैन सस्कृति के मूर्धन्य विद्वान् डॉ० ज्योतिप्रसादजी जैन से फोन पर चर्चा की। उन्होने सदैव की भाति सरलता से मेरा पथ आलोकित कर दिया। उनका मत है कि आगरे का वर्तमान किला ही शीतलनाथ जी का प्राचीन मदिर था किन्तु मुस्लिमकाल में उसे ध्वस्त कर आज का आगरे का किला बना है। इसका उस समय "बादलगढ

का किला नाम था। यह विचार इस कृति के प्राप्ति परिवेश को सहज ही स्पष्ट कर देता है।

प्रतिमा के अभिलेख का सवत् 1063 का 1006 ई० पड़ता है जिस समय दिल्ली एव राजस्थान पर चौहान शासनकाल था। इस प्रकार से प्रस्तुत चौहानकालीन कलाकृति न निर्मम काल के प्रभाव को विफल करने मे सफल हुई अपितु मूर्ति भजको से भी सुरक्षित रही जो कम अचरज की बात नही हैं। अब तो यह राज्य संग्रहालय लखनऊ की अक्षय निधि है।

सक्षेप में यह कृति मुनिसुव्रत के अतिरिक्त तीन अन्य तीर्थङ्करों जिनमें एक नेमिनाथ तथा दो अन्य, के अलावा जीवन्तस्वामी या इन्द्र, यक्ष-यक्षी, सरस्वती आदि के समुपस्थिति के साथ ही तत्कालीन लोक सस्कृति को उन्मुख करने वाली वस्त्राभूषण, केशकलाप, चेहरों की भावभगिमा, यथा, मुद्राओं, उत्कीर्ण अभिलेख आदि से सुसम्पन्न होकर एक मनोज्ञ कला रत्न सहज ही सिद्ध हो जाती है। ऐसी अद्वितीय रचना को 'एक विचित्र जिन-विम्ब'' से सम्बोधित करना क्या उचित न होगा ? ●

---

1. यदि व को च मान लें तो।
2. इस सूचना हेतु मैं अपने पूज्य गुरुवर्य डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन का कृतज्ञ हू।
3. सुधी पाठको से निवेदन है कि यदि पहचान कर सूचित करें तो अनुगृहीत होऊ गा।
4. इस सुझाव के लिए मैं अपने परम मित्र डॉ० ब्रजेन्द्रनाथ शर्मा, कीपर, नेशनल म्यूजियम, नई दिल्ली का अति आभारी हूँ।

अहिंसा

नहीं है
हिंसा का
नकारात्मक बोध
अहिंसा
एक मौलिक शोध
चिन्त्य है जिसमें
दृष्टि से परे
दर्शन

जीवन से परे
आत्मा
जिसकी
मीमासा
अनेकान्त
भूमिका
सर्वोदय

—श्री सेठिया

श्रमण संस्कृति की प्राचीनता को पुष्ट प्रमाणों से प्रमाणित करते विदुषी लेखिका ने बताया है कि मोहनजोदडो और हडप्पा की खुदाई से प्राप्त अवशेषों से यह भली प्रकार प्रमाणित है कि आर्यों के कथित भारत आगमन से पूर्व भी यहां एक समृद्ध सभ्य और सुसस्कृत सभ्यता थी। लोग आत्मविद्या के प्रकाण्ड विद्वान् थे। वे लोग श्रमण संस्कृति से सम्बद्ध थे इस की प्रबलतम सभावना है।

प्र० सम्पादक

श्रमण संस्कृति की प्राचीनता

❀ श्रीमती चन्द्रकला जैन, जयपुर

मोहनजोदडो और हडप्पा के ध्वसावशेषो ने पुरातत्व के क्षेत्र मे एक नई हलचल पैदा कर दी है। जहा आज तक सभी प्रकार की प्राचीन सास्कृतिक धारणाए आर्यों के परिकर मे बन्धी थी वहा पर खुदाई से प्राप्त उन अवशेषो ने यह प्रमाणित कर दिया है कि आर्यो के कथित भारत आगमन के पूर्व यहा एक समृद्ध सस्कृति और सभ्यता थी। उस सस्कृति के मानने वाले मानव सुसभ्य, सुसस्कृत और कलाविद् ही नही थे अपितु आत्मविद्या के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। पुरातत्व विदो के अनुसार जो अवशेष मिले हैं, उनका सीधा सम्बन्ध श्रमण सस्कृति से है। आज यह सिद्ध हो चुका है कि आर्यों के आगमन के पूर्व ही श्रमण सस्कृति भारतवर्ष मे अत्यन्त विकसित अवस्था मे थी। पुरातत्व सामग्री से ही नही अपितु ऋग्वेद आदि वैदिक साहित्य से भी इस सम्बन्ध मे पर्याप्त सामग्री मिलती है।

आर्यों का आगमन—मोक्समूलर, मैकडानल तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानो की गवेषणाओं ने यह तो सर्वसम्मत रूप से प्रमाणित कर दिया है कि किसी युग मे उत्तरी क्षेत्रो से बहुत बडी सख्या में आर्य लोग भारतवर्ष मे आये। उन लोगो की एक व्यवस्थित सभ्यता थी। यहा के आदिवासी लोगो को उन्होने सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रो मे परास्त किया और उत्तर से दक्षिण तक समग्र देश मे अपनी सस्कृति का प्रभाव बढाया। यह वही सभ्यता है जिसे लोग वैदिक सभ्यता के नाम से अभिहित करते हैं।

प्राग् आर्य सभ्यता—इस गवेषणा के साथ-साथ अब तक यह तथ्य भी जुडा हुआ था कि आर्यों के आगमन से पूर्व इस भारतवर्ष मे कोई समुन्नत सभ्यता या सस्कृति नही थी। जैन और बौद्ध परम्पराए भी इसी सस्कृति की उत्क्रान्तियां-मात्र हैं। इन दिनो मे जिस प्रकार इतिहास करवट ले रहा है उससे यह स्पष्ट होता जा रहा है कि आर्यों के आगमन से पूर्व यहा एक समुन्नत सस्कृति और सभ्यता विद्यमान थी।[1] वह सस्कृति अहिंसा, सत्य और त्याग पर आधारित थी। यहा तक कि

उस संस्कृति में पले-पुसे लोग अपने सामाजिक, राजनैतिक आर्थिक एवं धार्मिक हितो के सरक्षण के लिए भी युद्ध करना पसन्द नहीं करते थे। अहिंसा उनके दैनिक जीवन-व्यवहार का प्रमुख अ ग थी।[2]

दैनिक जीवन की दिशा मे भी वे लोग प्रगति के शिखर पर थे। उनके आवास, ग्राम और नगर व्यवस्थित थे और वे हाथी व घोडो की सवारी भी करते थे। उनके पास आवागमन के साधन भी थे।[3] यहा तक कि उनमे भक्ति और पुनर्जन्म के विचारो का भी विकास था।[4]

श्रमण संस्कृति और पुरातत्व—सिन्धुघाटी के उत्खनन के सहयोगी श्री रामप्रसाद चन्दा ने अपने एक लेख मे लिखा है—मोहनजोदडो से प्राप्त लाल पाषाण की मूर्ति, जिसे पुजारी की मूर्ति समझ लिया गया है, मुझे एक योगी की मूर्ति प्रतीत होती है। वह मुझे इस निष्कष पर पहुचने के लिए प्रेरित करती है कि सिन्धुघाटी मे उस समय योगाभ्यास होता था और योगी की मुद्रा मे मूर्तिया पूजी जाती थी। मोहनजोदडो और हडप्पा से प्राप्त मोहरें जिन पर मनुष्य रूप मे देवो की आकृति अकित है, मेरे इस निष्कर्ष को प्रमाणित करती है।

सिन्धुघाटी से प्राप्त मोहरों पर बैठी अवस्था मे अकित मूर्तिया ही योग की मुद्रा में नही है किन्तु खडी अवस्था मे अकित मूर्तिया भी योग की कायोत्सग मुद्रा को बतलाती हैं। मथुरा म्यूजियम मे दूसरी शती की कायोत्सर्ग मे स्थित ऋषभदेव जिन की एक मूर्ति है। इस मूर्ति की शैली सिन्धु से प्राप्त मोहरो पर अकित खडी हुई देव मूर्तियो की शैली से बिल्कुल मिलती है। ऋषभ या वृषभ का अर्थ बैल होता है और ऋषभदेव तीर्थकर का चिह्न बैल है। मोहर न 3 से 5 तक की देव-मूर्तियो के साथ बैल भी अकित हैं जो ऋषभ का पूर्व रूप हो सकता है।

इसी पर डा राधाकुमुद मुकर्जी ने अपनी हिन्दु सभ्यता नामक पुस्तक मे लिखा है श्री चन्दा ने 6 अन्य मोहरो पर खडी हुई मूर्तियो की ओर भी ध्यान दिलाया है। फलक 12 और 118 आकृति 7 (मार्शल कृति मोहनजोदडो) कायोत्सर्ग नामक योगासन मे खडे हुए देवताओ को सूचित करती है। यह मुद्रा जैन योगियो की तपश्चर्या मे विशेष-रूप से मिलती है, जैसे मथुरा सग्रहालय मे स्थापित तीर्थकर श्री ऋषभदेव की मूर्तियाँ। ऋषभ का अर्थ है बैल जो आदिनाथ का लक्षण है। मुहर सख्या F G H फलक दो पर अकित देवमूर्ति मे एक बैल ही बना है। सम्भव है यह ऋषभ का ही पूर्व रूप हो। यदि ऐसा हो तो शैव धर्म का मूल भी ताम्र युगीन सिन्धु सभ्यता तक चला जाता है।[5]

वैदिक साहित्य मे श्रमण तत्व

व्रात्य—अथर्ववेद मे व्रात्य शब्द का कई बार प्रयोग हुआ है। हमारी दृष्टि से यह शब्द श्रमण परम्परा से ही सम्बन्धित होना चाहिए।

व्रात्य शब्द अर्वाचीन काल मे आचार और सस्कारो से हीन मानवो के लिए व्यवहृत होता रहा है। अभिधान चिन्तामणि कोश मे भी यही अर्थ किया गया है।[6] मनुस्मृतिकार ने लिखा है—क्षत्रिय, वैश्य और ब्राह्मण योग्य अवस्था प्राप्त करने पर भी असस्कृत हैं क्योकि वे व्रात्य हैं और वे आर्यों के द्वारा गर्हणीय हैं।[7] आगे लिखा है—जो ब्राह्मण, सतति उपनयन आदि व्रतो से रहित हो उस गुरु मन्त्र से परिभ्रष्ट व्यक्ति को व्रात्य नाम से निर्दिष्ट किया गया है।[8] ताण्ड्य ब्राह्मण मे एक व्रात्य स्तोत्र है जिसका पाठ करने से अशुद्ध व्रात्य भी शुद्ध और सुसस्कृत होकर यज्ञ आदि करने का अधिकारी हो जाता है।[9] इस पर भाष्य करते हुए

सायण ने भी व्रात्य का अर्थ आचारहीन किया है।[10]

उपर्युक्त सभी उल्लेखो मे व्रात्य का अर्थ आचारहीन बताया गया है जबकि इनसे पूर्ववर्ती जो ग्रन्थ हैं उनमे यह अर्थ नही हैं, अपितु विद्वत्तम, महाधिकारी पुण्यशील और विश्वसम्मान्य आदि महत्त्वपूर्ण विशेषण व्रात्य के लिए व्यवहृत हुए हैं।[11] व्रात्यकाण्ड की भूमिका मे आचार्य सायण ने लिखा है--इसमे व्रात्य की स्तुति की गई है। उपनयन आदि से हीन मानव व्रात्य कहलाता है। ऐसे मानव को वैदिक कृत्यो के लिए अनधिकारी और सामान्यत पतित माना जाता है। परन्तु कोई व्रात्य ऐसा हो जो विद्वान् और तपस्वी हो, ब्राह्मण उससे भले ही द्वेष करे परन्तु वह सर्वपूज्य होगा और देवाधिदेव परमात्मा के तुल्य होगा।[12] यह स्पष्ट है कि अथर्ववेद के व्रात्य-काण्ड का सम्बन्ध किसी ब्राह्मणेतर परम्परा से है। व्रात्य ने अपने पर्यटन मे प्रजापति को भी प्रेरणा दी थी।[13] उस प्रजापति ने अपने मे सुवर्ण आत्मा को देखा।[14]

प्रश्न उठता है कि यह व्रात्य कौन है जिसने प्रजापति को प्रेरणा दी ? डा सम्पूर्णानन्द व्रात्य का अर्थ परमात्मा करते है[15] और बलदेव उपाध्याय भी उसी अर्थ को स्वीकार करते हैं[16] किन्तु व्रात्य काण्ड का परिशीलन करने पर प्रस्तुत कथन युक्तियुक्त प्रतीत नही होता। व्रात्य काण्ड मे जो वर्णन है वह परमात्मा का नही अपितु किसी देहधारी का है। हमारी दृष्टि से उस व्यक्ति का नाम ऋषभदेव है। क्योकि भगवान ऋषभदेव एक वर्ष तक तपस्या मे स्थिर रहे थे। एक वर्ष तक निराहार रहने पर भी शरीर की पुष्टि और दीप्ति कम नही हुई थी।

व्रात्य शब्द का मूल व्रत है। व्रत का अर्थ धार्मिक सकल्प, और जो सकल्पो में साधु है, कुशल है, वह व्रात्य है।[17] डा हेवर प्रस्तुत शब्द का अर्थ लिखते हैं--व्रात्य का अर्थ व्रतों में दीक्षित है अर्थात् जिसने आत्मानुशासन की दृष्टि से स्वेच्छा-पूर्वक व्रत स्वीकार किये हो वह व्रात्य है।[18] यह निर्विवाद सत्य है कि व्रतो की परम्परा श्रमण सस्कृति की मौलिक देन है। डा. हर्मन जेकोबी की यह कल्पना कि जैनो ने अपने व्रत ब्राह्मणो से लिए हैं[19] निराधार कल्पना ही है। वास्तविक सत्य उसमे नही है। अहिंसा आदि व्रतो की परम्परा ब्राह्मण सस्कृति की नही, जैन सस्कृति की देन है। वेद ब्राह्मण और आरण्यक साहित्य में कही पर भी व्रतो का उल्लेख नही आया है उपनिषदो, पुराणो और स्मृतियो मे जो उल्लेख मिलता है वह सारा भगवान पार्श्वनाथ के पश्चात् का है। भगवान पार्श्व की व्रत परम्परा का उपनिषदो पर प्रभाव पडा और उन्होने उसे स्वीकार कर लिया। यही तथ्य श्री रामधारीसिंह दिनकर ने निम्न शब्दो मे बताया है—'हिन्दुत्व और जैनधर्म आपस मे घुलमिलकर इतने एकाकार हो गये है कि आज का साधारण हिन्दू यह जानता भी नही कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये जैनधर्म के उपदेश थे, हिन्दुत्व के नही।[20]

'व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापति समैरयत्" इस सूत्र मे "आसीदीयमान" शब्द का प्रयोग हुआ है। उसका अर्थ है—पर्यटन करता हुआ। यह शब्द श्रमण सस्कृति के सन्त का निर्देश करता है। श्रमण सस्कृति का सन्त आदि काल से ही पक्का घुमक्कड रहा है। घूमना उसके जीवन की प्रधानचर्या रही है। वह पूर्व,[21] पश्चिम,[22] उत्तर[23] और दक्षिण आदि दिशाओ मे अप्रतिबद्ध रूप से परिभ्रमण करता है। आगम साहित्य मे अनेक स्थलो पर उसे अप्रतिबन्ध बिहारी कहा है। वर्षावास के समय को छोडकर शेष आठ माह तक वह एक ग्राम से दूसरे ग्राम एक नगर से दूसरे नगर

विचरता रहता है।[24] भ्रमण करना उसके लिए प्रशस्त माना गया है।[25]

डा ग्रीफिथ ने व्रात्य को धार्मिक पुरुष के रूप मे माना है।[26] एफ आई सिन्दे ने व्रात्यो को आर्यों से पृथक माना है। वे लिखते है - वस्तुत व्रात्य कर्मकाण्डी ब्राह्मणो से पृथक् थे। किन्तु अथर्ववेद ने उन्हे आर्यों मे सम्मिलित ही नही किया, उनमें से उत्तम साधना करने वालो को उच्चतम स्थान भी दिया है।[27]

व्रात्यलोग व्रतो को मानते थे, अर्हन्तो (सन्तो) की उपासना करते थे और प्राकृत भाषा बोलते थे। उनके सन्त ब्राह्मण सूत्रो के अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय थे।[28] व्रात्यकाण्ड मे पूर्ण ब्रह्मचारी को व्रात्य कहा है।[29]

निष्कर्ष यह है कि प्राचीनकाल मे व्रात्य शब्द का प्रयोग श्रमण सस्कृति के अनुयायी श्रमणो के लिए होता रहा है। अथर्ववेद के व्रात्यकाण्ड मे रूपक को भाषा मे भगवान् ऋषभ का ही जीवन उट्ङ्कित किया गया है। भगवान् ऋषभ के प्रति वैदिक ऋषि प्रारम्भ से ही निष्ठावान रहे है और उन्हे वे देवाधिदेव के रूप मे मानते रहे है।[0]

अर्हन् जैन धर्मावलम्बियो के परमाराध्य देव है। इसी कारण अनादिनिधन मन्त्र मे इन्हे सर्वप्रथम नमस्कार किया गया है-'णमो अरहताण णमो सिद्धाण'। अरहत शब्द प्राकृत है। इसका सस्कृत रूप है 'अर्हन्'। 'अर्ह पूजायाम्'अर्थात्-पूजार्थक 'अर्ह' धातु से 'अर्ह प्रशसायाम्' पाणिनी सूत्र से प्रशसा अर्थ मे 'शतृ' प्रत्यय होकर 'अर्हत्' शब्द निष्पन्न होता है। प्रथमा के एक वचन मे 'उगिदचा' सर्वनामस्थाने धातो' पाणिनि से नुम्' का आगम होकर 'अर्हन्' पद बनता है। सम्बोधन एक वचन मे भी 'अर्हन्' रूप बनता है।

प्राकृत भाषा में 'शतृ' प्रत्यय के स्थान पर 'न्त' प्रत्यय होकर 'अर्हन्त' रूप बनता है। साथ मे प्राकृत व्याकरण के ई श्री ह्री क्रीत क्लान्त क्लेश म्लानस्वप्नस्पर्शहर्षार्हगषु' (प्राकृत प्रकाश 3 62), सूत्र के अनुसार र् ह् के मध्य इकार का आगम होकर 'अरिहत' तथा प्राकृत की परम्परा के अनुसार अकार का आगम होकर 'अरहत' रूप प्राकृत भाषा में बनते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्राकृत भाषा मे इसका एक रूप 'अरुह' भी प्रयोग किया है-'अरुहा सिद्धायरियो (मोक्ष पाहुड 6/104) सम्भवत इस अरुहा शब्द पर तमिल का प्रभाव हो।

'अर्हन्' शब्द के विभिन्न भाषाओ मे अनेक रूप इस प्रकार देखने मे आते हैं--

भाषा	रूप
सस्कृत	अर्हन्
प्राकृत	अरिहत तथा अरहत
पालि	अरहन्त'
जैन शौरसेनी	अरुह
मागधी	अलहत तथा अलिहत
अपभ्रंश	अलहतु तथा अलिहतु
तमिल	अरुह
कन्नड	अरुहत, अरुह

अरहत शब्द का अति प्राचीन इतिहास है। जैन वाङ्मय के अति प्राचीन ग्रन्थो मे तो इस शब्द का प्रयोग हुआ ही है, किन्तु वैदिक, बौद्ध एव सस्कृत वाङ्मय में भी इस शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है।

विनोबा भावे ने ऋग्वेद के एक मन्त्र का उद्धरण देते हुए जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध की है। वे कहते हैं—ऋग्वेद में भगवान की प्रार्थना मे एक जगह कहा गया है—अर्हन् इद दयसे विश्वम्भ्वम्' (ऋग्वेद 2।4।32।10) हे अर्हन् तुम इस तुच्छ दुनिया पर दया करते हो इसमे अर्हन् और दया दोनो जैनो के प्रिय शब्द हैं, मेरी तो मान्यता

है कि जितना हिन्दू धर्म प्राचीन है शायद उतना ही जैन-धर्म प्राचीन है ।[31]

ऋग्वेद का उपर्युक्त मन्त्र इस प्रकार है—
अर्हन् बिभर्षि सायकानि
धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम् ।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं
न वा ओ जीयो रुद्र त्वदन्यदस्ति ॥

— ऋग्वेद 2।4।33।10

'प्रतिष्ठातिलक' के कर्त्ता आचार्य नेमिचन्द्र ऋग्वेद के उपर्युक्त मन्त्र से अत्यन्त प्रभावित प्रतीत होते हैं। उन्होने उपर्युक्त मन्त्र के प्राय समस्त पदो को ग्रहण करके अर्हन्त के गुणो का निम्न प्रकार विस्तार से वर्णन किया है—

अर्हन् बिभर्षि मोहारिविध्वंसिनयमायकान् ।
अनेकान्तद्योतिनिर्बाध प्रमाणोदारधनु च ॥
ततस्त्वमेव देवासि युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।
दृष्टेष्टबाधितेष्टा स्यु सर्वथैकान्तवादिन ॥
अर्हन्निष्कमिवात्मान बहिरन्तर्मलक्षयम् ।
विश्वरूप च विश्वार्थे वेदित लभसे सदा ॥
अर्हन्निद च दयसे विश्वमभ्यतराश्रयम् ।
नृसुरासुरसघात मोक्षमार्गोपदेशनात् ॥
ब्रह्मासुरजयी वान्यो देश रुद्रस्त्वदस्ति ।32

हे अर्हन् आप ! मोह शत्रु को नष्ट करने वाले 'नय' रूपी बाणो को धारण करते हो तथा अनेकान्त को प्रकाशित करने वाले निर्बाध प्रमाण रूप विशाल धनुष के धारक हो। मुक्ति एव शास्त्र से अविरुद्ध वचन होने के कारण आप ही हमारे आराध्य देव हो। सर्वथा एकान्तवादी हमारे देवता नहीं हो सकते क्योकि उनका उपदेश प्रत्यक्ष एव अनुमान से बाधित है।

हे अर्हन्, आप ! ऐसी आत्मा को धारण करते हो जो निष्कछि अर्थात् आभूषण या रत्न की तरह प्रकाशमान है बाह्य और अन्त मल से रहित है और जो समस्त विश्व के पदार्थों को एक साथ निरन्तर जानता है। हे अर्हन्, आप[1] मनुष्य, सुर एव असुर सभी को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हो, अत. विश्व पर दया भाव से परिपूर्ण हो आप से अन्य कोई ब्रह्म अथवा असुर को जीतने वाला बलवान देवता नहीं है।'

ऋग्वेद के अन्य स्थानो पर भी अर्हन् शब्द का प्रयोग मिलता है—

अर्हन् देवान् यक्षि मानुषत् पूर्वो अद्य ।'33
अर्हन्तो ये सुदानवो नरो असामि शव स ।'34
अर्हन्ता चित्पुरोदधे शेव देवा वर्तते ।'35

ऋग्वेद के उपर्युक्त उद्धरणो से ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेदकाल मे जैन-धर्मावलम्बी अर्हन्त की उपासना करते थे।

वराहमिहिरसहिता,[36] योगवासिष्ठ,[37] वायु-पुराण,[38] श्रीमद्भागवत[39] पद्मपुराण[40] विष्णु पुराण[41] स्कन्दपुराण,[42] शिवपुराण[43] मत्स्यपुराण[44] और देवीभागवत[45] में भी अर्हन् मत का उल्लेख मिलता है।

विष्णु पुराण के अनुसार लोग आर्हत् धर्म को मानने वाले थे। उनको मायामोह नामक किसी व्यक्ति विशेष ने आर्हत धर्म मे दीक्षित किया था।[46] वे सामवेद, यजुर्वेद और ऋग्वेद मे श्रद्धा नही रखते थे।[47] वे यज्ञ और पशु बलि मे भी विश्वास नही रखते थे।[48] अहिंसा धर्म से उनका पूर्ण विश्वास था।[49] वे श्राद्ध और कर्मकाण्ड का विरोध करते थे।[50] मायामोह ने अनेकान्तवाद का भी निरूपण किया था।[51] ऋग्वेद मे असुरो को वैदिक आर्यों का शत्रु कहा है।[52]

बौद्ध वाङ्मय मे अरहन्त शब्द महात्मा बुद्ध के लिए प्रयुक्त प्रयोग है। अरहन्त के जो गुण पालि-साहित्य मे कहे गये हैं वे बहुत अंशों में जैन अरहन्त के गुणो से समानता रखते हैं। पालि भाषा के बौद्ध आगम (त्रिपिटिक), 'धम्मपद' में 'अरहन्त वग्गो' नामक एक प्रकरण है इसमें दश गाथायें हैं

अरहन्त का वर्णन किया है। धम्मपद के अनुसार अरहन्त वह है जिसने अपनी जीवन यात्रा समाप्त करली है, जो शोक रहित है, जो ससार से मुक्त है जिसने सब प्रकार के परिग्रह छोड दिये हैं और जो कष्ट रहित हैं—

> 'गतद्धिनो विसोकस्स विप्पमुत्तस्स सब्बधि।
> सब्बगन्थ पहीनस्स परिलाहो न विज्जति ।।"
>
> — धम्मपद अरहन्त वग्गो 92।

वातरशना

श्रीमद्भागवत पुराण मे लिखा है स्वय भगवान विष्णु महाराजा नाभि को प्रिय करने के लिए उनके रनिवास में महारानी मरुदेवी के गर्भ मे आए। उन्होने वातरशना श्रमण ऋषियो के धर्म को प्रकट करने की इच्छा से यह अवतार ग्रहण किया।[53]

> ऋग्वेद की ऋचाए इस प्रकार हैं —
> मुनयो वातरशना पिशगा वसने मला।
> वातस्यानु ध्राजिम् यन्ति यद्देवासो अविक्षत ।।
> उन्मदिता मौनेयन वाता आ तस्थिमा वयम्।
> शरीरेदस्माक यूय मर्तासो अभि पश्यथ ।।

अर्थात् अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते है जिससे पिंगलवर्ण वाले दिखाई देते है। जब वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं अर्थात् रोक देते है तब वे अपने तप की महिमा से दीप्तिमान होकर देवता स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। सर्वत्र लौकिक व्यवहार को छोड़कर वे मौनेय की अनुभूति मे कहते हैं। "मुनिभाव से प्रमुदित होकर हम वायु मे स्थित हो गये हैं। मर्त्यों! तुम हमारा शरीर मात्र देखते हो।" रामायण की टीका मे जिन वातवसन मुनियो का उल्लेख किया गया है वे ऋग्वेद मे वर्णित वातरशन मुनि ही ज्ञात होते हैं। उनका वर्णन उक्त वर्णन से मेल भी खाता हैं।[54] केशी मुनि भी वातरशन की श्रेणी के ही थे।[55]

तैत्तिरीयारण्यक मे भगवान् ऋषभदेव के शिष्यो को वातरशन ऋषि और उर्ध्वमंथी कहा है।[56]

वातरशन मुनि वैदिक परम्परा के नही थे क्योकि वैदिक परम्परा मे सन्यास और मुनि पद को पहले स्थान नही था।'

श्रमण

श्रमण शब्द का उल्लेख तैत्तिरीयारण्यक और श्रीमद् भगवान के साथ ही वृहदारण्यक उपनिषद[57] रामायण[58] में भी मिलता है। इण्डो ग्रीक और इण्डो सीथियन के समय भी जैन-धर्म श्रमण धर्म के नाम से प्रचलित था। मैगस्थनीज ने अपनी भारत यात्रा के समय दो प्रकार के मुख्य दार्शनिको का उल्लेख किया है। श्रमण और ब्राह्मण उस युग के मुख्य दार्शनिक थे।[59] उस समय उन श्रमणो का बहुत आदर होता था। काल ब्रूक ने जैन सम्प्रदाय पर विचार करते हुए मैगस्थनीज द्वारा उल्लिखित श्रमण सम्बन्धी अनुच्छेद को उद्धृत करतेहुए लिखा है कि श्रमण वन मे रहते थे सभी प्रकार के व्यसनो से अलग थे। राजा लोग उनको बहुत मानते थे और देवता की भाति उनकी पूजा और स्तुति करते थे।[60]

केशी

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के वर्णनानुसार भगवान ऋषभदेव जब श्रमण बने तो उन्होने चार मुष्टि केशो का लोच किया था। सामान्यत पाच मुष्टि केश लोच की परम्परा है भगवान केशो का लोच कर रहे थे। दोनो भागो का केश लोच करना अवशेष था। उस समय प्रथम देवलोक के इन्द्र शक्रेन्द्र ने भगवान से निवेदन किया इतनी सुन्दर केशराशि को रहने दे। भगवान ने इन्द्र की प्रार्थना से उसको उसी प्रकार रहने दिया।[61] यही कारण है कि केश रखने के कारण उनका एक नाम केशरियाजी हुआ। जैसे सिंह अपने केशो के

कारण केसरी कहलाता है वैसे ही भगवान ऋषभ केशी, केसरी और केशरियानाथ के नाम से विश्रुत हैं। ऋग्वेद में भगवान ऋषभनाथ की स्तुति केशी के रूप में की गई है।[62] वातरशना प्रकरण में प्रस्तुत उल्लेख आया है, जिससे स्पष्ट है कि केशी ऋषभदेव ही थे। अन्यत्र ऋग्वेद में केशी और वृषभ का एक साथ उल्लेख भी प्राप्त होता है। मुद्गल ऋषि की गाएं (इन्द्रियां) चुराई जा रही थी। उस समय केशी के सारथी ऋषभ के वचन से वे अपने स्थान पर लौट आयी। अर्थात् ऋषभ के उपदेश से वे इन्द्रियां अन्तर्मुखी हो गयी[63] ऋग्वेद मे भगवान ऋषभ का उल्लेख अनेक बार हुआ है।[64]

वैदिक आर्यों के आगमन के पूर्व भारत वर्ष में सभ्य और असभ्य ये दो जातिया थीं। असुर नाग और द्रविड ये नगरो में रहने के कारण सभ्य जातियां कहलाती थी और दास आदि जगलो में निवास करने के कारण असभ्य जातिया कहलाती थी। सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से असुर अत्यधिक उन्नत थे। आत्मविद्या के भी जानकार थे।[65] शक्तिशाली होने के कारण वैदिक आर्यों को उनसे अत्यधिक क्षति उठानी पडी। वैदिक वाङ्मय में देव-दानवों का जो युद्ध वर्णन आया है, हमारी दृष्टि से यह युद्ध असुर और वैदिक आर्यों का युद्ध है। वैदिक आर्यों के आगमन के साथ ही असुरों के साथ जो युद्ध छिडा वह कुछ ही दिनों में समाप्त नही हो गया, अपितु वह सघष 300 वर्ष तक चलता रहा[66] आर्यों का इन्द्र पहले बहुत शक्ति सम्पन्न नहीं था।[67] एतदर्थ आरम्भ मे आय लोग पराजित होते रहे थे।[68] महाभारत के अनुसार असुर राजाओ की एक लम्बी परम्परा रही है।[69] और वे सभी राजागण व्रत परायण, बहुश्रुत लोकेश्वर थे।[70] पद्मपुराण के अनुसार असुर लोग हार स्वीकार करने के पश्चात् नर्मदा के तट पर निवास करने लगे।[71]

उपर्युक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि श्रमण संस्कृति भारत की एक महान् सस्कृति और सभ्यता है जो प्राक् ऐतिहासिक काल से ही भारत के विविध अचलो मे फलती और फूलती रही है। जैन सस्कृति, जिसे श्रमण सस्कृति कहा गया है, वैदिक और बौद्ध सस्कृति से पूर्व की सस्कृति है, भारत की आदि सस्कृति है।

1 Ancient India (An Ancient History of India Part 1)
By Majumdar, Roy Chudhary and K C Datta, p 23.

2 The Religion of Ahinsa, By prof A Chakaravarti p 17

3 Mohan-Jo-dro and the Indus Civilization (1931) vol I p p 93-95.

4 Ancient India (An Ancient History of India, Part I)

5 प. कैलाशचन्द शास्त्री का लेख "श्रमण परम्परा की प्राचीनता" अनेकान्त वर्ष 28 कि 1 पृष्ठ 113-114।

6 व्रात्य सस्कारवर्जित। व्रते साधु कालो व्रात्यः। तत्र भवो व्रात्य प्रायश्चित्तार्हं सस्कारोऽत्र उपनयन तेन वर्जित।
—अभिधान चिन्तामणिकोष 3/518

7 अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृता।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः॥
—मनुस्मृति 1/518

8 द्विजातय सवर्णासु, जनयन्त्यव्रतांस्तु तान् ।
तान् सावित्री परिभ्रष्टान् व्रात्यानीति विनिर्दिशेत् । —मनुस्मृति 10/20

9 हीना वा एते । हीयन्ते ये व्रात्यां प्रवसन्ति । ... .. षोडशो वा एतत् स्तोम समाप्तुमर्हति ।

10 व्रात्यान् व्रात्यतां आचारहीनतां प्राप्य प्रवसन्त प्रवास कुर्वतः ।
—ताण्ड्य महाब्राह्मण सायण भाष्य

11 कश्चिद् विद्वत्तम महाधिकार, पुण्यशीलं विश्वसमान्य ।
ब्राह्मण विशिष्ट व्रात्यमनुलक्ष्य वचनमिति मतव्यम् ।।
--अथर्ववेद 15/1/1/1 सायण भाष्य

12 वही 15/1/1/1

13 व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत् । —अथर्ववेद 15/1/1/1

14. स प्रजापति सुवर्णमात्मन्नपश्यत् । वही 15/1/1/3

15. अथर्ववेदीय व्रात्यकाण्ड पृ 1 ।

16 वैदिक साहित्य और सस्कृति ए 229 ।

17 व्रियते यद् तद्व्रतम्, व्रते साधु कुशले वा इति व्रात्य ।'

18 Vratya as initiated in Vratas Hence Vratyas means a person who has voluntarily accepted the moral code of vows for his own spiritual discipline
—By Dr. Habar

19 The Sacred Books of the East vol XXII uitr p 24 It is therefore probable that the Jainas have borrowed their on vows from Brahamans, not from Buddhists

20 सस्कृति के चार अध्याय पृ 125

21 स उदतिष्ठत् स प्राचीदिशमनुव्यचलत् । अथर्व वेद 15/1/2/1

22. स उदतिष्ठत् स प्रतीचीं दिशमनुव्यचलत् ।। अथर्ववेद 15/1/2/15

23 स. उदतिष्ठत् स उदीचीं दिशमनुव्यचलत् । --अथर्ववेद
वैकालिक चूलिका 2 गा 11 ।

25 विहार चरिया इसिण पसत्था । —दशवैकालिक चूलिका 2 गा 5

26 "The Religion and philosophy of Atharva veda" Vratyas were outside the pale of the orthodox Aryans The Atharva veda not only admitted them in the Aryan fold but made the most righteous of them, highest divinity
—F I Sinde

27 ऋषभदेव : एक परिशीलन—देवेन्द्रमुनि शास्त्री ।

28 वैदिक इण्डेक्स दूसरी जिल्द 1958 पृ 343, मैकडानल और कीथ ।

29 वैदिक कोश, वाराणसेय हिन्दुविश्वविद्यालय 1963, सूर्यकान्त ।

30 भगवान परमर्षिभि प्रसादितो नाभ प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामा वातरशनाना श्रमणानाम् ऋषीणाम् उर्ध्वमन्थिना शुक्लया तन्वावतार भगवत पुराण 5/3/20

31. विनोबा भावे - श्रमण संस्कृति पृ० 57
32 आचार्य नेमिचन्द्र — प्रतिष्ठातिलक 374–78
33. ऋग्वेद 2/3/22/4/1
34. वही—4/3/9/52/5
35. वही – 3/86/5
36. दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देव ।'
वराहमिहिर सहिता 45/58
37 वाल्मीकि योग वासिष्ठ 6/173/34
वेदान्तार्हत सांख्य सौगतगुरुत्यक्षादि सूक्तादृशो ।"
38. ब्राह्म शैव वैष्णव चसौर शाक्तं तथार्हतम् ।"
वायु पुराण 104/16
39 श्रीमद्भागवत 5/3/20
40 पद्मपुराण 13/350
41. विष्णुपुराण 17–18 अध्याय
42 स्कन्दपुराण 36–37–38 अध्याय
43 शिवपुराण 5/4–5
44 मत्स्यपुराण 24/43–49
45. देवी भागवत—4/13/54–57
46 अर्हतैत महाधर्म माया मोहेन तेयत' ।
प्रोक्तास्त आश्रिता धर्ममार्हतास्तेन तेऽभवन् ॥ —विष्णु पुराण 3/18/12
47 विष्णु पुराण—3/18/13–14
48 वही 3/18/27
49 वही 3/18/25
50 वही 3/18/28–29
51 वही 3/18/8–11
52 ऋग्वेद 1/23/174/2–3
53 ऋग्वेद 10/11/136,2,3
54 वातरशना वातरशनस्य पुत्रा. मुनय· अतीन्द्रियार्थदर्शिनो जूतिवात जूतिप्रभृतय: पिशंगा पिशगानि कपिलवर्णानि मला मलिनानि वल्कलरूपाणि वासांसि वसते आच्छादयन्ति ।

—सायण भाष्य 10/136/2

55 वही 10/135–7
56 वातरशना हवा ऋषय. श्रमणा उर्ध्वमन्थिनो बभूवुः

—तैत्तिरीयारण्यक 2/7/1 पृ. 137

57. वृहदारण्यकोपनिषद 4/3/22
58. तपसा भुञ्जते चापि श्रमणा भुञ्जते तथा ।

—रामायण बालकाण्डे, सं 14 श्लोक 22

59. एन्शियन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाय मैगस्थनीज एण्ड एरियन, कलकत्ता 1926 पृष्ठ 97–98

60 ग्रन्सलेसन ग्राव द फ्रेग्मेन्टस ग्राव द इण्डिया ग्राव मैगस्थनीज, ग्रान, 1846, पृष्ठ 105

61. चउहिं ग्रट्टाहिं लोग्र करेइ। मूल

वृत्ति—तीर्थंकृतां पचमुष्टिलोच सम्भवेऽपि ग्रस्य भगवतश्चमुष्टिक लोचगोचर श्रीहेमाचार्यः कृत ऋषभचरित्राद्यभिप्रायोऽय प्रथमेकया मुष्ट्या श्मश्रु कूर्चयोंचि तिसृभिश्च शिरोलोचे कृत एकां मुष्टिमवशिस्यामाणा पवनान्दोलिता कनकावदातयो प्रभुस्कन्धयोरुपरि लुठन्तीमरकतोपमानभमा-विभुती परमरमणीया वीक्ष्य प्रमोदमानेन शक्रेण भगवन! मय्यनुग्रहं विधाय ध्रियतामियमित्थ-मेवेति विज्ञप्ते भगवताऽपि सा तथैव रक्षितेति। न ह्येकान्तभक्तानां याच्यामनुग्रहीतार खण्डयन्तीति"

—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति व सस्कार 2,सू 30

62 केश्यग्नि केशी विष विभर्त्ति रोदसी।
केशी विश्व स्वर्दृशे केशीद ज्योति रुच्यते॥

—ऋग्वेद 10/11/136/1

63 ककर्दवे वृषभो युक्त, ग्रासीदवावचीत्सार थिरस्य केशी दुधेयुक्तस्य द्रवत सहानस ऋच्छान्तिष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्।

—ऋग्वेद 10/9/102/6

64. ऋग्वेद 1/24/190/1, ऋग्वेद 2/4/33/15, ऋग्वेद 5/2/28/4, ऋग्वेद 6/1/1/8, ऋग्वेद 6/2/19/11, ऋग्वेद 10/12/166/1,

65 महाभारत शान्तिपर्व 227/13

66 ग्रथ देवासुर युद्धमभूद् वर्षशतत्रयम्। —मत्स्यपुराण 24/35

67 ग्रशक्त पूर्वमासीस्त्व कथचिच्छक्तता गत।
कस्त्वदन्य इमां वाच सुकरा वक्तुमर्हति॥ —महाभारत शान्तिपर्व 227/22

68. देवासुरमभूद् युद्ध, दिव्यमब्दशत पुरा।
तस्मिन् पराजिता देवा दैत्यैर्ह्रादं पुरागमे॥ —विष्णुपुराण 3/17/7

69. महाभारत, शान्ति पर्व 227/49–54

70. महाभारत, शान्ति पर्व 227/59–60

71. नर्मदासरितं प्राप्य स्थिता दानवसत्तमा। —पद्मपुराण 13/412

जयपुर अपनी स्थापना काल से ही जैनकला और संस्कृति का एक महत्व-पूर्ण केन्द्र रहा है। बड़े-बड़े विशाल जैन मन्दिर यहां हैं। भट्टारकों की गद्दी यहां रही हैं। आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी, सदासुखजी आदि विद्वानों के कार्यक्षेत्र होने का सौभाग्य भी जयपुर को ही है। बड़े विशाल शास्त्र भण्डार यहां हैं जिनमें हजारों की संख्या में जैनाजैन ग्रन्थ हैं। यहां जैनी बड़े बड़े ओहदों पर रहे हैं। शासन सचालन में उनका बहुत बड़ा हाथ रहा है। कई सामाजिक आन्दोलनों का यह केन्द्र रहा है। आज भी पर्याप्त सख्या में जैन विद्वान् यहां हैं। संख्या की दृष्टि से भी अनुमानतः यहां जैनों की संख्या भारत में सर्वाधिक है। इसीलिए प्रायः लोग इसे जैनपुर के नाम से भी सबोधित करते हैं। प्र० सम्पादक

जैनपुर–जयपुर

❀ डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर

राजस्थान की राजधानी बनने के पूर्व जयपुर नगर ढू ढाड प्रदेश की राजधानी था। इसके पूर्व इस प्रदेश की राजधानी आमेर थी। महाराज सवाई जयसिह द्वारा 18 नवम्बर सन् 1727 मे इस नगर की स्थापना की गयी। पहिले इस नगर का नाम जयनगर था। बाद मे यह सवाई जयपुर के नाम से प्रसिद्ध हो गया और अब केवल जयपुर के नाम से विख्यात है। इस नगर के निर्माण का सबसे अधिक श्रेय विद्याधर नामके व्यक्ति को है जिसे टाड ने जैन लिखा था लेकिन अधिकाश इतिहासकारो के अनुसार वह बगाली था।

विशाल मन्दिरो का नगर :

जयपुर नगर प्रारम्भ से ही विशाल मन्दिरो का नगर रहा है। यहा जितनी सख्या मे शैव, वैष्णव एव जैन मन्दिर हैं उतनी सख्या मे अयन्त्र कहीं भी नही मिलते। यही नही सभी मन्दिर विशाल एव कलापूर्ण हैं। चौडा रास्ता स्थित ताडकेश्वरजी का मन्दिर शैव मन्दिरो मे सबसे प्रसिद्ध एव प्राचीनतम मन्दिर है। इसी तरह गोविंददेवजी मन्दिर एव रामचन्द्रजी का मन्दिर यहा के प्रसिद्ध एव लोकप्रिय मन्दिरो मे से हैं। जयपुर नगर एव उपनगरो मे स्थित जैन मन्दिरो एव चैत्यालयो की सख्या पहिले 175 मानी जाती थी लेकिन वर्तमान मे कुछ नये मन्दिर और बन गये हैं और कुछ चैत्यालय कम हो गये हैं। नगर के अधिकाश जैन मन्दिर विशाल एव कलापूर्ण हैं। जिनमे अत्यधिक मनोज्ञ एव प्राचीन मूर्तिया विराजमान हैं। दिगम्बर जैन मन्दिर पाटोदी एव दिगम्बर जैन मन्दिर तेरहपन्थी बडा मन्दिर, यहा के प्राचीनतम मन्दिर हैं। इनका निर्माण जयपुर के निर्माण के साथ हुआ था। विशाल मन्दिरों मे जैन मन्दिर बड़ा दीवानजी, दिगम्बर जैन मन्दिर छोटा

दीवानजी, सिरमोरियों का मन्दिर, सघीजी का मन्दिर, खिन्दूकों का मन्दिर, ठोलियाँ का मन्दिर, महावीर स्वामी का मन्दिर, दारोगाजी का मन्दिर, बघीचन्दजी का मन्दिर, चाकसू का मन्दिर, चौबीस महाराज का मन्दिर, खानिया मे राणाजी का मन्दिर आदि के नाम उल्लेनीय हैं।

भट्टारक

राजधानी बनने के साथ ही जयपुर आमेर गादी के भट्टारको का केन्द्र बन गया। यही नही उन्होने अपनी गादी को भी आमेर से जयपुर स्थानान्तरित कर दिया। जयपुर की स्थापना भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के शासन काल में हुई थी। इनके पश्चात् सवत् 1792 मे भट्टारक महेन्द्रकीर्ति हुये। यद्यपि उनका पट्टाभिषेक देहली मे हुआ था लेकिन जयपुर नगर इनकी सास्कृतिक गतिविधियो का केन्द्र था। इनके पश्चात् भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति (सवत् 1815) भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति (सवत् 1822), भट्टारक सुखेन्द्रकीर्ति (सवत् 1852), भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति (सवत् 1880) एव भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति (सवत् 1883) के जयपुर मे ही पट्टाभिषेक हुये। इन भट्टारको के कारण ढूढाड प्रदेश मे जबरदस्त सास्कृतिक जागृति रही। मन्दिरो के निर्माण, बिम्ब प्रतिष्ठाओ का आयोजन तथा व्रत विधान उत्सव आदि मे इनका सबसे अधिक योगदान रहा। सवत् 1780 मे जयसिंहपुरा खोर मे मन्दिर का निर्माण होकर प्रतिष्ठा हुई जिसमे भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति का प्रमुख योगदान रहा। सवत् 1783 मे जो बासखो मे विशाल पचकल्याणक प्रतिष्ठा हुई थी उसमे भी भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति का ही आशीर्वाद था। इसके पश्चात् सवत् 1826 मे भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के निर्देशन मे सवाई माधोपुर मे सघी नन्दलाल गोधा ने जो पचकल्याणक प्रतिष्ठा करवायी थी वह अपने समय की सबसे प्रभावशाली प्रतिष्ठा थी। इसमे हजारो मूर्तियो की प्रतिष्ठा हुई। इसी तरह सवत् 1861 मे जयपुर मे भट्टारक सुखेन्द्रकीर्ति के निर्देशन मे एक और विशाल प्रतिष्ठा समारोह हुआ। इन प्रतिष्ठाओ से भट्टारको के प्रति जनता का सहज आकर्षण हुआ और धार्मिक गतिविधियो मे उनका सर्वोच्च स्थान माना जाता रहा।

विद्वान्

जयपुर नगर विद्वानो एव पडितो का नगर भी रहा। गत 250 वर्ष से यहा जितने विद्वान् एव साहित्य-सेवी हुये उतने अन्यत्र किसी भी नगर मे नही हो सके। यहा पडित टोडरमलजी हुये जिन्होने मोक्षमार्ग प्रकाशक जैसे ग्रन्थ की रचना की एव गोम्मट्टसार, लब्धिसार, क्षपणासार जैसे ग्रन्थो की भाषा टीका की। इसी समय महाकवि दौलतराम कासलीवाल हुये जिन्होने जयपुर मे हरिवशपुराण, पद्मपुराण, आदिपुराण आदि की भाषा टीका लिखकर जन-जन मे स्वाध्याय का जबरदस्त प्रचार किया। इसी समय कविवर बख्तराम हुये जिन्होने बुद्धिविलास एव मिथ्यात्वखडन जैसे ग्रन्थो का निर्माण किया। इनके बाद प० जयचन्द्र छाबडा हुये जिन्होने प० टोडरमलजी एव दौलतरामजी की परम्परा को जीवित रखा और 15 से भी अधिक ग्रन्थो की भाषा टीका निबद्ध की। इनमे समयसार भाषा टीका, सर्वार्थसिद्धि भाषा, अष्ट पाहुडभाषा, ज्ञानार्णवभाषा, आदि के नाम उल्लेखनीय है। उन्ही के समकालीन ऋषभदास निगोत्या हुये जिन्होने मूलाचार की भाषा टीका सवत् 1888 मे पूर्ण की थी। ऋषभदास निगोत्या के सुपुत्र पारसदास भी साहित्यकार थे जिन्होने ज्ञानसूर्योदय नाटक की सवत् 1910 मे भाषा टीका पूर्ण की। इसी नगर मे प० बुधजन हुये जो एक अच्छे कवि थे और जिन्होने अपने प्रसिद्ध कृति बुधजन सतसई सवत् 1879 मे समाप्त की थी। इनके दूसरे ग्रन्थ हैं तत्वार्थबोध, पचास्तिकाय एव बुधजन-

विलास। नगर में एक के पश्चात् दूसरे विद्वान्, पंडित होते गये। 19वीं शताब्दी में ही यहां थानसिंह कवि हुये जिन्होने सुबुद्धिप्रकाश की सवत् 1847 मे रचना की तथा पन्नालाल खिन्दूका ने सवत् 1871 मे चारित्रसार भाषा को पूर्ण किया। प० सदासुख कासलीवाल का जन्म सवत् 1852 मे हुआ। इन्होंने भी कितने ही ग्रन्थो की भाषा टीका लिखी। 'अर्थ प्रकाशिका' इनकी सबसे उत्तम कृति मानी जाती है। पारसदास निगोत्या इन्ही का शिष्य था। केशरीसिंह भी जयपुर के अच्छे विद्वान थे। इन्होने वर्द्धमानपुराण की भाषा टीका लिखकर स्वाध्याय की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। गत 50 वर्षों मे होने वाले विद्वानो मे प० चैनसुखदास न्यायतीर्थ का नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय है। इन्होने जैनदर्शनसार, पावन प्रवाह, षोडशकारण भावना जैसे ग्रन्थो की सस्कृत मे रचना की। पडितजी बडे क्रान्तिकारी विद्वान् थे और समाज को नवीन दिशा देने मे इनका प्रमुख हाथ रहा था। पडितजी के अतिरिक्त प० इन्द्रलालजी शास्त्री, प० जवाहरलाल शास्त्री, प० नानूलाल शास्त्री, प० श्रीप्रकाश शास्त्री एव प० ग्रानन्दीलाल शास्त्री के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होने साहित्य एव सस्कृति की प्रशसनीय सेवा की।

पंडित·

उक्त विद्वानो एव साहित्यकारो के अतिरिक्त यहाँ और भी अनेक पडित हुये हैं जिन्होने ग्रन्थो की प्रतिलिपिया करके उनके स्वाध्याय मे विशेष योग दिया था। ऐसे पडितो मे प० चोखचन्द, प० सुखराम, महा शभुराम, प० नैनसागर, प० रामचन्द्र, सेवकराम के नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। जयपुर के शास्त्र भण्डारो मे 200 से अधिक ऐसी पाण्डुलिपियां हैं जिनकी प्रतिलिपि इन्ही विद्वानो द्वारा अथवा इनके निर्देशन मे सम्पन्न हुई थी। यही नहीं कभी-कभी स्वयं विद्वान् भी अपनी कृतियों की प्रतिलिपियां करते थे। संवत् 1879 कार्तिक बुदी 14 को पं० सदासुख कासलीवाल ने ग्रथ सग्रह भाषा की प्रतिलिपि सम्पन्न की थी।[1] इसी तरह प० केशरीसिंह ने दर्शनसार की प्रति सवत 1850 मे समाप्त की थी।[2]

दीवान

जयपुर व राज्य के शासन मे भी जैनो का जबरदस्त योगदान रहा। यहां के अधिकांश दीवान जैन हुये। जिन्होने धर्म एव साहित्य की सेवा के साथ-साथ राज्य की भी अनुपम सेवाए की। इन दीवानो की पहुच दिल्ली दरबार तक थी। वे युद्ध क्षेत्र मे भी जाते और वहा वीरतापूर्वक युद्ध करते। महाराजा के वे विश्वस्त एव कृपापात्र होते थे। ऐसे दीवानो मे राव कृपाराम पाड्या, दीवान श्योजीलाल, दीवान अमरचन्द, दीवान रतनचन्द साह, दीवान नन्दलाल गोधा, कूथाराम सघी (सवत् 1881–1891) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

शास्त्र भण्डार

शास्त्र भण्डारो की दृष्टि से जयपुर नगर का देश मे सर्वोच्च स्थान है। अब तक के सर्वेक्षण एवं खोज के आधार पर नगर मे 20 से भी अधिक शास्त्र भण्डार हैं। वे शास्त्र भण्डार ज्ञान के विशाल सग्रहालय हैं जिनमे सभी विषयों की पाण्डुलिपियां मिलती है। अपभ्रश की अधिकाश कृतियों को सुरक्षित रखने का श्रेय इन्हीं शास्त्र भण्डारो को है। इन भण्डारो मे आमेर शास्त्र भण्डार, तेरहपंथी बडा मन्दिर का शास्त्र भण्डार, पाटोदी के मन्दिर का शास्त्र भण्डार, ठोलियों के मन्दिर का शास्त्र भण्डार, बधीचन्दजी के मन्दिर का शास्त्र भण्डार, गोधो के मन्दिर का शास्त्र भण्डार, लाल भवन का ग्रन्थ सग्रहालय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन

शास्त्र भण्डारो मे 14वी शताब्दी से लेकर 20वी शताब्दी तक की पाण्डुलिपिया हैं। इन भण्डारो की ग्रन्थ सूचियाँ प्रकाशित हो चुकी है।

जयपुर बसाने वाले महाराजा सवाई जयसिह इसके पश्चात् यहा महाराजा ईश्वरीसिह (1743-50) सवाई माधोसिह (1750-1767) सवाई पृथ्वीसिह (1767-1777), महाराजा प्रतापसिह, महाराजा जगतसिह (1803-1818) सवाई जयसिह तृतीय (1876-1892), सवाई रामसिह, सवाई माधोसिह एव सवाई मानसिह जयपुर के शासक हुये जिन्होने अपने-अपने शासन मे जैन धर्म, सस्कृति एव साहित्य के विकास मे अपना पूर्ण योगदान दिया।

सामाजिक आन्दोलन

जयपुर नगर सामाजिक आन्दोलनो का भी केन्द्र रहा। यहा होने वाले सामाजिक आन्दोलनो ने समस्त देश का ध्यान आकृष्ट किया। सर्वप्रथम यहा शिथिलाचार के विरुद्ध 19वी शताब्दी के प्रारम्भ मे तीव्र आन्दोलन हुआ जिनके आधार पर तेरहपन्थ एव गुमानपन्थ का उत्कर्ष हुआ और धार्मिक क्रियाकाण्डो मे पूर्ण शुद्धता लायी गयी। ऐसे आन्दोलन का नेतृत्व प० टोडरमलजी ने किया जिनको अन्त मे अपने जीवन का भी बलिदान करना पडा। विवाह, सगाई, मृत्यु-भोज आदि सामाजिक कार्यो मे कम से कम खच के आन्दोलन का नेतृत्व दीवान अमरचंद जैसे व्यक्तियो ने किया और प्रत्येक रीतिरिवाज का महजरनामा तैयार किया। राष्ट्रीय आन्दोलन के समय छुआछूत निवारण का श्रीगणेश भी जयपुर से ही हुआ और काफी वाद-विवाद के पश्चात् समाज को इसे स्वीकार करना पडा। प० चैनसुखदास न्यायतीर्थ ने श्रोहडसाजन आदोलन का श्रीगणेश भी जयपुर से ही किया और समाज को सही दिशा दी तथा समाज के एक अङ्ग को पूर्ण रूप से आत्मसात करने मे सफलता प्राप्त की। इनके अतिरिक्त यहां और भी छोटे बडे कितने ही आन्दोलन हुये और कितने ही भारतीय स्तर के आदोलनों को समर्थन दिया गया।

शिक्षा और अनुसधान के केन्द्रो मे भी जयपुर नगर ने अपना पूर्ण योग दिया। दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी की ओर से सर्वप्रथम बनारस विश्वविद्यालय मे जैन चेयर की स्थापना की गयी लेकिन वह 3-4 वर्ष के पश्चात् ही बन्द हो गयी। क्षेत्र की ओर से छात्रवृत्ति योजना प्रारम्भ की गयी एव जैन साहित्य की खोज एव प्रकाशन हेतु साहित्य शोध विभाग की स्थापना की गयी जिसके द्वारा शोध के क्षेत्र मे देश के अनेक शोधार्थियो मे जैन साहित्य के शोध के प्रति गहरी रुचि पैदा की जा रही है।

समाज मे गत 100 वर्षों मे जिन समाज सेवियो ने सामाजिक कार्यों मे विशेष भाग लिया उनमे धन्नालालजी फौजदार, मुशी प्यारेलाल कासलीवाल, दारोगा मोतीलाल, मास्टर मोतीलाल सघी, अर्जुनलाल सेठी, मुशी सूर्यनारायण सेठी, बन्जीलाल ठोलिया, कपूरचन्द पाटनी, जमनालाल साह, रामचद्र खिन्दूका, बधीचद्र गगवाल एव बख्शी केसरलालजी के नाम विशेषत उल्लेखनीय हैं।

जयपुर नगर का वर्तमान मे भी साहित्यिक, सास्कृतिक, शैक्षणिक एव सामाजिक दृष्टि से देश मे अपना विशिष्ट महत्व है। यहा दिगम्बर और श्वेताम्बर समाज के अपने अपने महाविद्यालय, उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, माध्यमिक विद्यालय एव कन्या विद्यालय हैं। श्री महावीरजी क्षेत्र की ओर से सचालित साहित्य शोध विभाग के अतिरिक्त टोडरमल स्मारक भवन, लाल भवन जैसी साहित्यिक सस्थायें हैं। वर्तमान मे यहा बीसो न्यायतीर्थ, शास्त्री, दर्शनाचार्य, एम ए, पी एच.डी. उपाधिधारी

विद्वान् हैं जिनमे लेखक के अतिरिक्त, प० भंवरलाल न्यायतीर्थ, प० मिलापचन्द शास्त्री, प० भंवरलाल पोल्याका जैनदर्शनाचार्य, प० अनूपचन्द न्यायतीर्थ, डा० हुकमचन्द भारिल्ल, प० गुलाबचन्द जैनदर्शनाचार्य, प० सुरज्ञानीचन्द्र न्यायतीर्थ, डा० नरेन्द्र भानावत के नाम उल्लेखनीय हैं। महिला साहित्यकारों में डा० शान्ता भानावत, श्रीमती सुदर्शनादेवी छाबडा, श्रीमती सुशीला बाकलीवाल, स्नेहलता जैन कोकिला सेठी, सुश्री कमला जैन के नाम लिये जा सकते हैं। उदीयमान विद्वानो मे सर्व श्री प्रेमचन्द रावका, प्रेमचन्द जैन, प० निर्मलकुमार बोहरा के नाम उल्लेखनीय हैं।

1 ग्रन्थ सूची भाग 4—पृष्ठ सख्या

2 ,, पृष्ठ सख्या 133

अमृत वचन

प्रतिष्ठा भूषण—लाडलीप्रसाद जैन पापडीवाल, सवाई माधोपुर

1 महापुरुषो ने कर्मरूपी योद्धाओं को सग्राम मे ज्ञानरूपी शास्त्र, चारित्र की सेना और दर्शन के बल से परास्त कर स्वातत्र्य (मोक्ष) प्राप्त किया।

2 वास्तविक सुख कही बाहर नही है वह आत्मानुभूति में है।

3 अशाति का मूल है हिंसा और शाति का मूल है अहिंसा।

4 विजयी होने के लिये जितेन्द्रिय बनना होगा।

5 मानव जीवन की सार्थकता इसी मे है कि वह कर्मों का सवर और निर्जरा करे।

6 राग और द्वेष मे राग अधिक अहितकारी है और दोनो के दूर होने से ही वीतरागता प्रगट होगी।

7 शल्य जहा तक रहती है वहां तक सफलता नहीं मिलती।

8 आडम्बर शून्य धर्म कल्याण का मार्ग है।

9 अपने आप की समालोचना संसार बन्धन से मुक्ति का प्रधान कारण है।

10 अपने आपको अपने मे देखो तो निश्चित ही आत्म दर्शन होगा।

।। मंगल–गीत ।।

❀ डॉ. बडकुल, डी. एल. जैन 'धवल', बरेली

आयो–आयो रे, जनम त्योहार, त्रयोदशि मधु-मासा ।
ऐं–रे, धवल–पक्ष भिन्सार, ज्ञान–रवि प्रकासा ।। टेक ।।
भयो–भयो रे, वीर–अवतार, गोद त्रिसला साजी ।
सुन–सुन रे, ध्वनि शहनाई, सिद्धारथ गृह बाजी ।।
जुडि–गयो रे, देव परिवार, कुंडलपुर मे खासा । आयो० ।।

भयो–भयो रे, अचम्भो एक, चकित थे सब प्रानी ।
भयो गद्–गद् सकल जहान, शत्रुता–विसरानी ।।
मिली–बैठे, बकरी–शेर, प्रीति का था वासा । आयो० ।।

मिट गया तिमिर मिथ्यात, हृदय राजीव खिला ।
भये निर्भय जग के प्राणि, अभय, वर–दान मिला ।।
भये काम–क्रोध, सब नाश, रही नहीं अभिलाषा । आयो० ।।

प्रभु ! सुनलो आज पुकार, समय वह फिर आवे ।
हो क्षमा दया सर्वत्र, अहिंसा मन भावे ।।
दस दिशा हो, 'धवल' धर्म का हो वासा । आयो० ।।

बाहर का विज्ञान बढ़ाया कितना ?

निहालचन्द जैन, एम० एस०-सी०
व्याख्याता, नौगाँव (म० प्र०)

बाहर का विज्ञान बढ़ाया कितना—
अन्तर का ज्योति-कलश, छलकाओ तो जाने।
कागज पर कितने गीत छन्द रच डाले—
जीवन-सर्जक को, मन-दर्पण पर झलकाओ तो जाने ॥

मन के तामस अन्धकार के,
स्वप्नों ने हमें छला है।
तृष्णा के एक क्षण पर,
अटके सुख में हमें ठगा है।

मैं जड़ता का अनुगामी,
माया त्रिशंकु पर लटका।
मेरा नाम अलग हो मुझ से—
जाने कहाँ कहाँ भटका ?

मन्दिर की वेदी तो महकायी है फूलों से—
मन की वेदी का वासनाप्रत धो डालो तो जाने
अन्तर का ज्योति कलश छलकाओ तो जाने ॥

मृत्यों के परिचय-संग्रह में,
अमृत का इतिहास चुक गया।
अपने से विस्मरण अपरिचय,
अपना ही परिहास बन गया।

मिट्टी के दीपों के बंटवारे में-
ज्योति-पुरुष को भी खण्डित कर।
मुझे दियों की कालिख को ही-
आंखों का श्रृङ्गार बनाया।

पर के कितने बिम्ब मिटाये अपना रूप सजाने-
पर को सवारने अपना बिम्ब मिटाओ तो जाने।
अन्तर का ज्योति-कलश, छलकाओ तो जाने॥

आंख खुले के प्रेम निबाहे,
सम्बन्धो को परम्परा में।
हंसते को वरदान लुटाये,
अरमानो की परम्परा में।

फूलों को महकाती गन्धों को-
बहुत सहेला है हमने।
पर कांटों की दश-चुभन को-
कितना परहेजा है हमने।

अपने सुख की सेज सजाने हम कितने अकुलाये-
करुणा के नीर बहाकर दुखियो पर अकुलाओ तो जाने।
अन्तर का ज्योति-कलश छलकाओ तो जाने॥

धर्म बना व्यापार—
बाजारो के भावों सा।
पर भावों की प्रणयी—
वेमोल नजारी जाती है।

शील सत्य झुठलाया जाता,
सरे आम चौराहे पर।
लज्जा अनावरित होकर के
खड़ी हुई दो राहे पर।

जग को बहुत बनाया हमने छल छन्दों से-
अपनी धूमिल तस्वीर जड़ा लो तो हम जाने,
अन्तर का ज्योति-कलश छलकाओ तो जाने॥

कला के किसी भी क्षेत्र में जैन जैनेतरों से पीछे नहीं रहे। चित्रकला भी उसका अपवाद नहीं है। ग्रन्थ भण्डारों में ऐसे हजारो जैन ग्रन्थ प्राप्त होते हैं जो सचित्र हैं। चित्रकला के विकास क्रम को समझने में ये पाण्डुलिपियां बडी महत्त्वपूर्ण हैं। प्रस्तुत निबन्ध मे विदुषी लेखिका ने समयवार ऐसी पाण्डुलिपियों का परिचय देते हुए बताया है कि जैनों के ग्रन्थभण्डारों के प्रबन्धको की असहयोग की भावना के कारण इस सम्बन्धी शोध के क्षेत्र मे न कुछ के बराबर कार्य हुआ है।

प्र० सम्पादक

चित्रित जैन पाण्डुलिपियों का क्रमिक विकास

❀ कु. कमला जैन, जयपुर

वाघ, अजन्ता, एलोरा आदि से प्रस्थापित भित्ति चित्र परम्परा समाप्तप्राय. होने के पश्चात् लगभग दसवी ई० शताब्दी से भारतीय चित्रकला मे ऐसा मोड आया कि चित्रो का निर्माण भित्तियो के स्थान पर ताड पत्रो पर होने लगा।[1] भित्ति चित्रो की अपेक्षा यद्यपि यह कार्य सहज था तथापि लालित्य व स्थायित्व की दृष्टि से भित्ति चित्रो की तुलना नही कर सका। हां, धर्म ग्रन्थो मे समाविष्ट किये जाने के कारण ताड चित्र सरल व आकर्षक बने रहे। ताडपत्रों पर आरम्भिक सचित्र पाण्डुलिपिया पूर्वी भारत मे पाल राजाओ के सरक्षण मे रची गई। ये ग्रन्थ मुख्यत बौद्ध धर्म की महायान शाखा से सम्बन्धित हैं।[2]

पश्चिमी भारत से प्राप्त चित्रित पाण्डुलिपियाँ मुख्यत जैनधर्म से सम्बन्धित हैं। इनमे आरम्भिक ग्रन्थ ताडपत्र पर लिखे हुए हैं। अत सम्भव है कि जैन ग्रन्थो को चित्रित करने का विचार जैन धर्मशासको द्वारा बगाल मे पाल राजाओ के सरक्षण मे चित्रित बौद्धधर्मी ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियो से लिया गया हो।[3] क्योकि बौद्ध धर्म ग्रन्थो मे बौद्ध धर्म सम्बन्धी देवी देवताओ का चित्रण मिलता है तथा जैन धर्म ग्रन्थो मे भी प्रमुखत तीर्थङ्करो की जीवन सम्बन्धित घटनाओ का अकन दृष्टिगोचर होता है।[4]

सचित्र जैन पाण्डुलिपियो के रचनाकाल को डा० मोतीचन्द्र ने निम्न भागो मे विभक्त किया है–

प्रथम ताडपत्र का समय
(1100–1400 ई०)

द्वितीय—कागज का समय
(1400 ई० के पश्चात्)

(अ) आरम्भिक काल —
(1400–1600 ई०)

(आ) उत्तर काल —
(1600 ई० के पश्चात् का समय)[5]

डा० मोतीचन्द्र ने 1400 ई० को ताडपत्र और कागज के समय की विभाजन रेखा माना है[6], किन्तु एच० गोयेट्ज के मतानुसार 14वी शती का उत्तरार्द्ध और 15वी शती के आरम्भिक दस वर्ष का समय ताडपत्रीय पाण्डुलिपियो के अन्त एव

कागदीय पाण्डुलिपियों की शुरूआत का माना है।[7] उपलब्ध सामग्री के आधार पर पूर्व मत ही इष्ट व मान्य प्रतीत होता है।

१ ताड़पत्र युग (1100–1400 ई०)

चित्रगत शैली के आधार पर पश्चिम भारतीय स्कूल की ताडपत्रीय सचित्र पाण्डुलिपियों का विभाजन निम्न दो वर्गों मे किया गया है।

(अ) प्रथम वर्ग—(1100–1350 ई०)

(आ) द्वितीय वर्ग– (1350–1450 ई०)[8]

(अ) प्रथम वर्ग—इसके अन्तर्गत वे पाण्डुलिपिया हैं, जिनका निर्माण गुजरात मे सोलकी राजाओ के सरक्षण मे हुआ था।[9]

डा० कुमारस्वामी तथा मेहता ने प्राचीनतम ताडपत्र पर चित्रित 'कल्पसूत्र' को माना है। इसका रचनाकाल 1236 ई० के लगभग निश्चित होता है।[10] डा० मोयेट्ज के मतानुसार सबसे प्राचीन चित्रित कृति ताडपत्र पर अंकित 'निशीथ-चूर्णि' है, जिसकी रचना सिद्धराज जयसिंह के राज्यकाल मे 110८ ई० में हुई थी। यह पाण्डुलिपि पाटन के जैन भण्डार मे स्थित है। इसमे चित्रो के नाम पर कुछ बेल बूटे एव पशु-आकृतिया है।[11] डा० रामनाथ ने इससे भी पूर्व की एक प्रति 'भगवती सूत्र' का उल्लेख किया है, जो कि 1062 ई० की है। यह प्रति उक्त पाटन भण्डार मे ही स्थित है, किन्तु इसमे मात्र अलकरण किया हुआ है। चित्र नही है।[12]

इसके अतिरिक्त श्री खण्डेलवाल तथा डा० सरयू दोषी ने आधुनिक खोजो के आधार पर इससे भी पूर्व 1060 ई० को 'ओघ नियुंक्ति' एव 'दसवैकालिक-टीका' नामक ताडपत्रीय प्रति का उल्लेख किया है, जो इस समय जैसलमेर के जैन भडार मे स्थित हैं। इसमे एक चित्र श्री कामदेव का तथा कुछ हाथी का चित्रण भी किया हुवा है।[13] तत्पश्चात् मठनियमो पर आधारित 'पिन्दनियुंक्ति' नामक एक पुस्तक का उल्लेख किया है, जिसमें मात्र एक हाथी का चित्रण मिलता है। यह पुस्तक एक व्यापारी के पुत्र आनन्द ने लिखकर मुनि चन्द्रसूरि के शिष्य मुनि यशोदेव सूरि (1093–1123 ई०) को भेंट स्वरूप दी थी।[14] प्रतीत होता है कि पाण्डुलिपियो को चित्रित करने की परम्परा इसके पश्चात् प्रारम्भ हुई।

ताडपत्रीय पाण्डुलिपियो के अन्तर्गत 1112 ई० 'षट्खण्डागम' तथा 1112–20 ई० 'महाबन्ध' व 'कसायपाहुड'– इन प्रारम्भिक दिगम्बर जैन प्राण्डुलिपियो का भी उल्लेख मिलता है, जो मूडबिद्री मे जैन सिद्धान्त बस्ती के संग्रह में स्थित हैं।[15]

तत्पश्चात् (Jnata Dharma Katha), ज्ञानसूत्र'[16] (1126 ई०) की दो ताडपत्रीय पाण्डुलिपि, दो काष्ठ पट्टिकाए (जर्जरित) (ताड़पत्रीय पाण्डुलिपि के मुख व पृष्ठ की), 'दसवैकालिक लघुवृत्ति'[17] (1143 ई०) 'उर्घनियुक्ति' (1161 ई०) तथा अन्य दूसरे ग्रन्थ चित्रित हुए।[18]

उपरोक्त सभी पाण्डुलिपियों की प्रदर्शिनी 'आल इण्डिया ओरियन्टल कान्फ्रेंस' के सत्रहवें सत्र के अन्तर्गत अहमदाबाद मे की गई थी।[19] इसके अतिरिक्त 1143 ई० से 1174 ई० तक की अवधि मे रचित आचार्य हेमचन्द्र सूरि तथा राजा कुमारपाल के अनेक व्यक्ति चित्रो के सन्दर्भ भी मिलते हैं।[20]

सम्प्रतिक शोध के फलस्वरूप कार्ल खण्डेलवाल तथा सरयू दोषी द्वारा कुछ निम्न ताडपत्रीय पाण्डुलिपिया भी प्रकाश मे लाई गई हैं .—

1241 ई० की एक 'नेमिनाथ चरित' शान्ति भण्डार में स्थित है— जिसमे बैठी हुई अम्बिका के एक आकर्षक चित्र सहित, चार पुस्तक चित्र हैं।[21] 'फाइन आर्ट्स बोस्टन सग्रहालय' मे सुरक्षित, मेवाड मे उदयपुर के पास सम्पादित की गई 1260 ई० की एक पाण्डुलिपि 'सावगपडिक्कमण-

सुलक्षुप्णि' है, जिसमे केवल 6 पुस्तक चित्र है।[22]

इन उपरोक्त प्रारम्भिक पाण्डुलिपियो में चित्रो की सख्या सामान्यत: बहुत कम है। 1288 ई० की सुबाहु कथा' नामक एक पाण्डुलिपि तथा अन्य कथाए 'सघवी पाटन भण्डार' में सुरक्षित हैं। इसमे 23 चित्र हैं— जिसमे चट्टानो, वृक्षो और जंगल के पशुओ के आकारो को प्रकृति चित्रण के अन्तर्गत दर्शाया गया है।[23]

इसके अतिरिक्त खोज के आधार पर डा० रामनाथ ने 'अगसूत्र', कथासरित्सागर' व 'त्रिषष्ठिशलाकापुरुष चरित'आदि ग्रन्थो कार बना-काल भी उक्त प्रथम वर्ग की अवधि के अन्तर्गत ही निर्धारित किया है।[24]

(आ) द्वितीय वर्ग—(1350–1450 ई०)—स्थूल रूप से इसका प्रारम्भ गुजरात प्रान्त मे युगल शक्ति की स्थापना से सम्बद्ध किया जा सकता है। कोई भी पाण्डुलिपि 1370 ई० से पूर्व की अवधि की उपलब्ध नही है। 1427 ई० की एक पाण्डु-लिपि 'इण्डिया आफिस लायब्रेरी' लन्दन मे स्थित होने का वर्णन मिलता है।[25]

इसके अतिरिक्त चित्र रचना व लेखन कार्य के लिए ताडपत्र का स्थान कागज द्वारा लिये जाने से पूर्व की अवधि के पट-चित्र व पट-ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, जिनमे उल्लेखनीय हैं 'वसन्तविलास'। यह ग्रन्थ 1451 ई० की सचित्र रचना है।[26]

मनोहर कौल के अनुसार पट (वस्त्र) पर चित्रित 1433 ई० का एक चित्र 'जैनपचतीर्थी' ताडपत्रीय पुस्तक भण्डार पाटन मे है।[27] विज्ञप्ति-पत्र' भी उस समय के उच्चस्तरीय अलकृत वस्त्र चित्र थे।

2 कागज युग—(15वीं शताब्दी के प्रारम्भ से पश्चात् का समय)— ताडपत्रीय चित्र परम्परा के पश्चात् हम ऐसे युग मे पहुचते हैं, जबकि भारत मे ताडपत्रो के स्थान पर कागज का प्रयोग होने लगा था। कागज यद्यपि भारत में बहुत पहले आ चुका था, किन्तु ग्रथ-निर्माण कार्यों में कागज का उपयोग 14वी शती से हुआ, ऐसा माना जाता है।[28] कागज-ग्रथो की क्रमबद्ध सारिणी हेतु डा० मोतीचन्द्र द्वारा निर्धारित समय विभाजन[29] ही अधिक उचित प्रतीत होता है—

(अ) प्रारम्भिक काल—(1400–1600 ई०) कागजीय पाण्डुलिपियो के अन्तर्गत यू० पी० शाह ने प्रारम्भिक चित्रित पाण्डुलिपि 1346 ई० की 'कल्पसूत्र' व 'कालकाचार्य कथा' को माना है।[30] किन्तु यह मत सर्वमान्य नही हुआ। डा० मोतीचद्र ने शैलीगत आधार पर इसको 15वी शताब्दी की पाण्डुलिपि माना है।

अत विभिन्न लेखो के आधार पर इनमे प्राचीनतम हस्तलिखित चित्रित पाण्डुलिपि 1366 ई० की 'कालकाचार्य कथा' निश्चित होती है।[31] 1367 ई० की एक अन्य पाण्डुलिपि का उल्लेख मिलता है, जो मुनि जिनविजयजी के अधिकार मे थी। मुनि जिनविजयजी इसे कागजीय पाण्डु-लिपियो मे प्राचीनतम मानते हैं।[32] इसी समय की 1370 ई० की 'कल्पसूत्र' व 'कालकाचार्यकथा' नाम की प्रतिया मिलती हैं, जो उज्जमफोई धर्म-शाला अहमदाबाद के भडार मे है।[33]

अहमदाबाद के एल० डी० इन्स्टीट्यूट आफ इण्डोलॉजी के सग्रह मे 1396 ई० की एक प्रति 'शान्तिनाथ चरित' है।[34] प्रारम्भिक कागजीय पाण्डुलिपियो मे 'प्रिन्स आफ वेल्स म्यूजियम' मे स्थित 'कल्पसूत्र' व 'कालकाचार्यकथा' बहुत सुदर प्रतिया हैं, जो वेश भूषा के आधार पर 14वी शती के अतिम चरण की प्रतीत होती है।[35] इसी समय की तिथिविहीन 'कल्पसूत्र' व 'कालकाचार्यकथा' नाम की अन्य प्रतिया जैसलमेर के भडार में स्थित हैं, जिनको श्री नवाब ने प्रारम्भिक 15वी शती की बताई है।[36]

वि० सं० 1461/1404 ई० की एक दिगम्बर पाण्डुलिपि 'आदिपुराण'-- जिसका उल्लेख डा० दोषी ने अपने लेख[37] मे किया है। 1415 ई० की 'कल्पसूत्र' 'कालकाचार्यकथा', जिसमे 'कल्प-सूत्र' वाला भाग कलकत्ता के बिरला सग्रह' मे तथा कालकाचार्य' वाला भाग बम्बई मे पी० सी० जैन के सग्रह मे हैं।[38] 1420 ई० मे दिगम्बर जैन महापुराण' ग्रथ चित्रित किया जो इस समय दिगम्बर जैन नया मन्दिर, पुरानी दिल्ली मे स्थित है।[39] 1426 ई० की 'कल्पसूत्र 'कालकाचार्यकथा' नामक पाण्डुलिपि इण्डिया ऑफिस लायब्रेरी' लन्दन मे स्थित है।[40] 1439 ई० मे सुलतान महमूद शाह खिलजी के राज्यकाल मे रचित 'कल्प-सूत्र' की एक प्रति 'माण्डु' से प्राप्त हुई है।[41] 1464 ई० के लगभग चित्रित 'कल्पसूत्र की प्रति 'ब्रिटिश सग्रहालय' लन्दन में सग्रहीत है। इसके[42] अतिरिक्त डा० श्री कस्तूरचदजी कासलीवाल ने बसवा के शास्त्र भडार मे स्थित 1471 ई० की चित्रित 'कल्पसूत्र' का उल्लेख किया है।[43]

विदेश —

उपरोक्त पाण्डुलिपियो के अतिरिक्त डा० कुमारस्वामी ने अपने लेख मे कुछ अन्य निम्न पाण्डुलिपियो का उल्लेख किया है —

1 1497 ई० में चित्रित 'कल्पसूत्र' और और 'कालकासूरि कथानकम्।'

2 लगभग 15वी शती मे चित्रित 'कल्पसूत्र' व 'कालकाचार्यकथा' नामक पाण्डुलिपि जिसका रचनाकाल अज्ञात है।

3 1566 ई० मे चित्रित 'रतनसार'।[44]

इसके अतिरिक्त डा० कुमारस्वामी ने हूटमैन के लेख[45] के आधार पर भी फाइन आर्ट (ललित कला) के निम्न सग्रहालयो व पुस्तकालयो मे स्थित 'कल्पसूत्र' की 15वीं शती की पाण्डुलिपियो का उल्लेख किया है —

1 वाशिंगटन की फ्रायर गैलरी।
2 'फर बोलकर कुन्दे' का सग्रहालय, बर्लिन।
3 बर्लिन की रायल लायब्रेरी।
4 कलकत्ता का 'नाहर सग्रहालय'।
5 पाटन और जैसलमेर के अनेक जैन पुस्तकालय।[46]

'कल्पसूत्र' की उक्त सभी पाण्डुलिपियो मे उनका रचनाकाल व्यक्त नही है किन्तु डा० कुमार-स्वामी ने चित्रशैली के आधार पर निश्चित किया है कि कुछ पाण्डुलिपिया तो 15वी शती से पूर्व की हैं तथा शेष 15वी शती की हैं।[47]

15वीं व 16वीं शती की कुछ अन्य निम्न पाण्डुलिपियो का वर्णन कार्ल खण्डेलवाल व श्रीमती सरयू दोषी ने अपने लेख मे किया है—

1 1430 ई०-- भविष्यत कथा'
2 1442 ई०-- पासनाह चरिउ'
3 1440–50 ई०--'यशोधर चरित'
4 14 0–60 ई०--'शान्तिनाह चरिउ'
5 1454 ई०--'जसहर चरिउ'
6 1494 ई०--'यशोधर चरित'
7 1590 ई०-- यशोधर चरित'
8 1596 ई०--'यशोधर चरित'[48]

विभिन्न विद्वानो एव कलारसिकों द्वारा खोजी गई उक्त पाण्डुलिपियो के अतिरिक्त साम्प्रतिक शोध के फलस्वरूप यू० पी० शाह द्वारा पाण्डु-लिपियो का निम्न बहुभाग प्रकाश मे लाया गया।

1 1400 ई०—माण्डु शैली में चित्रित कालकाचार्य कथा
2 1420 ई०— शत्रु जय महात्म्य'
3 1422–23 ई०—मेवाड में चित्रित 'सुपा-सनाहचरिउ'
4 1425–1440 ई० 'दमयन्ती कथा चम्पू'

5 1490 ई०—वेदनगर में चित्रित 'कल्प-सूत्र'

6 1492 ई०--पाटन मे चित्रित 'उत्तरा-ध्ययन-सूत्र'

7 1493 ई०—पाटन मे लिपिबद्ध 'माधव-नल–कायकन्दल कथा'

8 1498 ई०—पाटन में लिपिबद्ध चन्द्र–प्रभ चरित्र'

9 1501 ई०--पाटन मे चित्रित जामनगर कल्पसूत्र' और 'कालका कथा'

10 1521 ई०--पाटन मे चित्रित भावनगर कल्पसूत्र'

11 1583 ई०--मटार मे अनूदित तथा गोविंद द्वारा चित्रित 'सग्रहणीय सूत्र'

12 1587 ई०—कैम्बे मे अनूदित 'सग्रहणीय-सूत्र'।

13 1600 ई० –उत्तराध्ययन सूत्र'[49]

(आ) उत्तर काल--(1600 ई० के पश्चात् का समय)--यह वह समय था, जबकि जैन चित्र-कला ने मुगल तथा राजपूत चित्रकला का आश्रय लेकर निजत्व विस्मृत कर दिया अर्थात् इस समय के जैन ग्रथो के चित्रो का निर्माण मुगल एव राज-पूत शैली मे हुआ।

वाचस्पति गैरोला के अनुसार 'समयसुदर' नामक एक जैन मुनि ने 17वी शती मे 'अर्थरत्ना-वली' के नाम से एक अद्भुत ग्रथ की रचना की थी, जिसे उन्होंने अकबर को भेंट किया था। इस ग्रथ मे अकबरयुगीन 'भित्तिचित्रो तथा अन्य प्रकार के चित्रो का भी वर्णन किया गया है।[50]

1600 ई० के पश्चात् की कुछ निम्न पाण्डु उल्लेख यू० पी० शाह ने सम्प्रति खोज के आधार पर किया है, जो इस प्रकार है--

1. (1636 ई० —प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम में सग्रहीत–'सग्रहणीय सूत्र'।

2 (1644 ई०)--नूतनपुर मे चित्रित 'कुमारसम्भव'।

3 (1650 ई०)--'कृष्णवेली'।

4 (1650 ई०)--'नपहरनगढ'।

5 (1655 ई०)—'चन्दरास'।

6 (1659 ई०)—सूरत मे चित्रित 'चन्द रास'।

7 (1669 ई०)- अशनिकोटा में चित्रित 'मेघदूत'।

8 (1685 ई० के लगभग)--मुनिश्री पुण्य-विजयजी के सग्रहालय मे स्थित 'सग्रह–णीय सूत्र' (तिथि अज्ञात)।

9 (1687 ई०)—'हरिबाला चोपाई'।

10 (लगभग 17वी शती)—मुनिश्री पुण्य-विजयजी के सग्रहालय मे स्थित अपूर्ण 'नलदमयन्तीरास', जिसका रचनाकाल अज्ञात है।

11 (17वी शती का उत्तरार्द्ध)--'आर्द्रकुमार रास'।

12 (1719 ई०)--प्रिंस आफ वेल्स म्यू-जियम मे सग्रहीत 'देवी माहात्म्य'।

13 (1812 ई०)--पूना मे अनूदित श्री 'चन्दराजानो रास'।

14 (1962 ई०)--जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति–प्रेम–रत्नमजूषा।[51]

इस समय की कुछ अन्य पाण्डुलिपियो का वर्णन डा० कुमारस्वामी ने निम्न रूप दिया है–

1 ब्रिटिश सग्रहालय मे स्थित, 16वीं, 17वी शती मे चित्रित 'उत्तराध्ययन'।

2 सम्भवतया 17वीं शती मे चित्रित 'कल्पसूत्र', जिसका रचना काल व्यक्त नही है ।

3 1769 ई० मे चित्रित 'क्षेत्र समास लघु प्रकरण म्' नाम की पाण्डुलिपि ।[52]

इसके अतिरिक्त डा० श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल ने 18वी शती मे चित्रित 'यशोधर चरित्र' की दो प्रतियो का उल्लेख किया है, जिसमे एक प्रति 1731 ई० की श्री लूणकरणजी पाड्या का मदिर, जयपुर के शास्त्र भडार में स्थित है[53] तथा दूसरी 1743 ई० की श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, जयपुर के शास्त्र भडार मे स्थित है ।[54]

ताडपत्रीय व कागदीय सचित्र पाण्डुलिपियों के विकास से सम्बन्धित उपरोक्त ऊहापोह का सार यह है कि जैन चित्रकला का प्रारम्भिक काल 7वीं शती ई० की अपभ्रंश शैली से माना गया है, यद्यपि तत्सम्बन्धित पाण्डुलिपिया 11वीं शती के पश्चात् की ही उपलब्ध हैं । यह चित्रकला शैली प्रमुखत 18वी शती तक अर्थात् लगभग एक हजार वर्ष से भी अधिक परिवर्तित रही । तदनन्तर वर्तमान समय तक के लगभग 300 वर्ष की अवधि मे जैन चित्रकला का स्वरूप क्या रहा, यह शोध का विषय है क्योंकि इस अवधि मे रचित ग्रथ सामग्री यद्यपि शास्त्र भण्डारो आदि मे पर्याप्त मात्रा में सकलित है, तथापि उन भण्डारो के प्रबन्धको आदि के असहयोग अथवा अन्य कारणवश यह महत्वपूर्ण सामग्री तद्विषयक गवेषको को उपलब्ध नही हो सकी है । इसी कारण इस अवधि की रचनाओ पर शोध कार्य नहीं के बराबर हुआ ।

---

1 Khandalavala, K —Pahari Miniature Painting, P 4, Bombay, 1958

2 Chandra, P — Indian illustrated Manuscripts, The Time of India Annual, P 42, 1960

3. Khandalavala K & Doshi, S —Miniature Printing, Jain Art and Architecture (ed. by Ghosh, A), vol III, P 396, Delhi, 1975

4 Goetz, H —Bulletin of the Baroda State Museum and Picture Gallery, vol 4, Pts 1–2, 1946–47

5 Chandra, M —Jain Miniature Painting from Western India, P S, Ahmedabad, 1949

6 Ibid,

7 Goetz, H, Opp cit P 27

8 Chandra M —An illustrated Manuscript of the Kalpasutra and KalaKacharya Katha Bulletin of the Prince of Wales Museum, No. 4, PP 40–41, 1954–54

9 Khandalaval, K , Chandra, M & Chandra, P —Miniature Paintings from the Shri Moti Chand Khajanchi Collection, Lalit Kala Akademi, P 9, N. Delhi 1960

10 Coomaraswamy, A K—Jain Painting, Pt 4, Catalogue of Indian Collections in the Museum of Fine Arts, Bostan, P. 32, 1924.

Mehta, N C —Indian Painting in the fifteenth century, an early illuminated manuscript, Rupam, P 61, No 22 & 23, 1925

11. Goetz, H —Decline and Rebirth of Medieval Indian Art, Marg, vol. 4, No 2, P, 37

12 रामनाथ मध्यकालीन भारतीय कलाएं एवं उनका विकास, पृ॰ 3, जयपुर, 1973।

13 कु॰ दे॰ Pl 265 A, Jain Art and Architecture, vol III, ed by Ghosh, A, Delhi, 1975

14 Khandalavala K & Doshi, S—Opp Cit, Pl 270 B, P 402

15 Doshi, S—Twelfth Century illustrated manuscripts from Mudbidri, Bulletin of the Prince of Wales Museum, 8 PP 29–36, 1962–64

Shivarama Murti, C—South Indian Painting, PP. 90–96, N Delhi 1960

Goetz, H —Opp Cit

16 Jnata—Sutra.

17 Chandra, M —An illustrated Manuscript of the Kalpasutra and Kalakacharya Katha, Bulletin of the Prince of Wales Museum No 4, PP. 40–41, 1953-54, Bombay

18 Ibid,

19 Kaul, M —Jain or Gujarati School, Trends in Indian Painting, PP. 31–32, Delhi, 1961

20 Goetz, H —Opp. Cit

21 Khandalavala, K & Doshi S—Opp Cit., P 403.

22 Ibid

23 Ibid, P 404.

24 रामनाथ . अपभ्रंश शैली, मध्यकालीन भारतीय कलाएं और उनका विकास, राजस्थान, पृ॰ 4, 1963।

25 Anand, Mulk Raj—Jain Miniatures An Album of Indian Paintings, PP 5–60 Delhi, 1973

26 Brow, W N—The Vasanta Vilasa (New Haven, 1942)

Mehta, N C —Indian Painting in the 15th Century early illuminated manuscript, Rupam, Nos 22–23 PP. 61–65, 1925

Mehta, N C –Gujarati Painting in the 15th Century (London 1931).

27 Kaul, M —Opp Cit

28 Khandalaval K & Doshi, S — Opp Cit P 405

29 Chandra, M —Jain Miniature Printing from Western India, PP. 37–45, Ahmedabad, 1949

30 Chandra M & Shah U P —New Documents of Jain Paintings, Shri Mahavira Jain Vidyalaya Golden Jubilee volume, p 375, 1968, Bombay

31 Gorakshkar, S V —A dated Manuscript of the Kalakacharya Katha in the Prince of Wales Museum, BPWM, 9. PP 56–57.
Doshi, S —An illustrated Adipurana of 1404 A D from Yoginipura, Chhavi, P. 382, 1976

32 Khandalavala, K & Doshi, S —Opp Cit, P 407

33 Ibid, P 405

34 Ibid, P 407

35 Chandra, M —An illustrated Manuscript of the Kalpasutra and Kalakacharya Katha, BPWM 4, P 40, 1953–54

36 Khandalavala K & Doshi S —Opp Cit, P 407

37 Doshi, S —Opp Cit, PP 383–91

38 Khandalavala, K & Chandra, M —New Documents of Indian Painting—areappraisal, P 15, Bombay, 1969

39 Chandra, M —An illustrated Ms of the Maha purana in the Collection of Shri Digambara Jain Naya Mandir, Lalit Kala, 5, PP 68–81, Delhi

40 Coomaraswamy, A K —Journals of Indian Art and Industry, vol XVI, No 127, P 90, 1914

41 Khandalaval, K & Chandra M —A Consideration of an illustrated Ms from Mandapadurga (Mandu), dated 1439 A D, Lalit Kala, 6, P 8

रामनाथ अपभ्रंश शैली, मध्यकालीन भारतीय कलाएं और उनका विकास, पृ० 5, जयपुर, 1973

42 Coomaraswamy, A. K --Ms or 5 149 Notes on Jain Art, Journals of Indain Art and industry, vol XVI, No 127, P 91, 1914

43 Kasliwala, K C. --Jain Grantha Bhandars in Rajasthan, P. 60, Jaipur, 1967

44 Coomaraswanmy, A. K --Ibid,

45 Huttemann, W --Miniaturen Zum--Jinacarita, Bassler Archiv., vol. 4, (1914), PP 46-47

46 Coomaraswamy, A K Ibid, P 33

47 Coomaraswamy, A K --Opp Cit

48 Khandalavala, K & Doshi, S --Opp Cit , PP 393-427

49. Chandra, M & Shah, U P --New Documents of Jaina Painting, Bombay, 1975

50 वाचस्पति गैरोला भारतीय चित्रकला, पृ० 140, इलाहबाद, 1963 ।

51 Chandra, M & Shah, U. P --New Documents of Jain Paintings, PP. 13-15, Group III-VII, Bombay, 1975

52 Coomaraswamy, A K.--Notes on Jain Art, Journals of Indian Art and Industry, vol XVI, No 127, P 91, 1914

53 Kasliwal, K C --Jain Grantha Bhandars in Rajasthan, P 47, Jaipur, 1967.

54. Kasliwal, K C --Jain Granth Bhandars in Rajasthan, P. 55, Jaipur, 1967

सुविचार्य करोतिबुद्धिमानथवा नारभते प्रयोजनम् ।

—चन्द्रप्रभचरितम्

बुद्धिमान् मनुष्य कोई भी काम हो, भले प्रकार विचार करके ही करता है, बिना विचारे कोई काम नहीं करता ।

— o —

> जैन धर्म ने भारतीय कला और संस्कृति के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण योगदान दिया है। शायद ही कोई ऐसी कला छूटी हो जिस पर जैनों का प्रभाव न पड़ा हो। खजुराहो, आबू राणकपुर, उड़ीसा का हाथी गुफा आदि हमारे इस कथन की पुष्टि मे प्रस्तुत किये जा सकते है। संस्कृति के क्षेत्र मे जैनों की अहिंसा परिभाषा अपना विशिष्ट स्थान रखती है। स्याद्वाद और अनेकान्त जैसे सिद्धान्तों पर उनका एकाधिकार है। कर्म सिद्धान्त भी उनका जैसा कहीं नहीं है।
>
> प्र० सम्पादक

जैन धर्म का भारतीय कला और संस्कृति को योगदान

❀ श्री सुदर्शन जैन, उज्जैन

धर्म संस्कृति का पोषक और वाहक है। प्रत्येक धर्म का मानव संस्कृति और सभ्यता के अभ्युदय एव विकास मे अभिन्न योगदान रहा है। जैन धम ने देश की संस्कृति और सभ्यता के प्रत्येक अग को पल्लवित एव प्रभावित किया है। इस धम ने देश की कला एव संस्कृति को नवीन रूप एव नयी दिशा प्रदान की है। जैन धर्म की विभिन्न और विपुल उपलब्धियो को जान समझे बिना भारतीय संस्कृति का ज्ञान परिपूर्ण नही कहा जा सकता।

देश समाज व धर्म के इतिहास को पूर्ण रूप से समझने के लिये, उनके आश्रय मे विकसित कलाओ के इतिहास का ज्ञान अति आवश्यक है कला का उद्देश्य जीवन का उत्कर्ष है और सच्चे अर्थों मे कला समाज का दपण है। जैन कला, धर्म के आचल मे पली है और सदैव धार्मिक भावना से प्रभावित रही है। जैन कला का उद्देश्य जन कल्याण और जन भावना का परिष्कार एव उत्कर्षण कर लोक का आध्यात्मिक एव नैतिक स्तर ऊपर उठाना रहा है। जैन शासको एव धर्मावलम्बियो ने कला के उत्थान मे एक विशेष योगदान दिया है क्योकि वे आरम्भ से ही इसे धर्म प्रचार का महत्त्वपूर्ण वाहक समझते आये है। गुफाओ, स्तूपो, मन्दिरो, मूर्तियो चित्रो आदि ललित कलाओ को प्रोत्साहन दे, देश के विभिन्न भागो को सौन्दर्य से सजाया है और साथ ही साथ भारतीय कला को नया रूप दिया है। उडीसा मे हाथी गुफा मे खारवेल का शिलालेख और मूर्तिया, गया की प्राचीन गुफाए, खजुराहो की अपार कला सम्पदा, बाहुबलि की जैन मूर्ति, चित्तौड का विजय स्तम्भ, आबू के जैन मन्दिर आदि जैन कला के भारतीय कला को अद्वितीय योगदान हैं।

अहिंसा का सिद्धान्त, जैन धर्म का देश की संस्कृति को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान है। जैन धर्म मे अहिंसा पर सबसे अधिक बल दिया गया है। इस सिद्धान्त ने न केवल भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया है अपितु पूर्ण मानव ससार इसे आधुनिक युग की समस्याओ की एकमात्र कुजी समझता है। भगवान् महावीर, जैन धर्म के 24वे तीर्थङ्कर, जिनका 2500वा निर्वाण महोत्सव पूरे देश मे जोर शोर से मनाया जा चुका है, ने "अहिंसा

धम्मो धर्मः'' का प्रचार उस समय किया जब समाज मे देवताओं को प्रसन्न करने के लिये पशु बलि दी जाती थी। भगवान् महावीर ने समाज में नई चेतना का जागरण किया और जनता को पाठ पढ़ाया कि सब जीव समान हैं, हत्या अधर्म है। वृक्ष एव पत्थरो मे भी जीवात्मा विद्यमान है और प्रत्येक मानव का छोटे से छोटे जीव की रक्षा करना कर्त्तव्य है। जैन आचार्यों ने प्राणी मात्र की रक्षा एवं "जियो और जीने दो" की भावना का उद्‌बोधन किया। जनमात्र की भावना से ऊपर उठ प्राणीमात्र मे प्रेम एव आपसी रक्षा का आह्वान इस धर्म मे किया गया है। यहाँ तक ही नही, जैन धर्म मे मनसा, वाचा, कर्मणा किसी को कष्ट देना भी हिंसा है। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि अहिंसा का सिद्धान्त जिसके माध्यम से प्राणीमात्र के उत्थान एव प्रगति की कामना की गयी है, जैन धर्म का तत्त्व एव मर्म है।

संस्कृति एव विचार समन्वय के लिये अनेकात का सिद्धान्त, जैन धर्म की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन है। इस सिद्धान्त के अनुसार, सत्य के कई रूप होते हैं, वस्तु के कई दृष्टिकोण होते हैं। इस सिद्धान्त के माध्यम से समाज मे फैली कट्टरता एव सकीर्णता के विरुद्ध आवाज बुलन्द की गई। आज प्रत्येक राष्ट्र, जाति एव मानव दूसरो के दृष्टिकोण को समझे बिना स्वय को सर्वोपरि समझता है। यही विचारधारा आज अन्तर्राष्ट्रीय तनाव एव सघर्ष का मूल कारण है। अनेकान्त का सिद्धान्त विश्व में प्रचलित मतभेदो और झगडो के उन्मूलन के लिए एक महत्त्वपूर्ण कदम है। यह सिद्धान्त पारस्परिक सघर्षों एव विवादो के स्थान पर शान्ति और मैत्री को बढ़ावा देता है। इसी बात को ध्यान मे रखते हुये जैन धर्म मे सभी धर्मों एव धर्मनायको को महान बताया गया। जैन धर्मशास्त्रो मे राम, कृष्ण और सीता के आदर्शो को प्रस्तुत किया है और साथ ही साथ रावण को शीर्षधर की उपमा दे अच्छाइयों को दर्शाया है जिससे अनार्यों को ठेस न पहुचे। अनेकान्त का सिद्धान्त जैन धर्म में सहिष्णुता एव समन्वय की भावना को प्रज्वलित करता है और उपर्युक्त उदाहरण इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है।

जैन धर्म मे लोभ, भोग और मोह के स्थान पर त्याग पर जोर दिया गया है। चार्वाक के भौतिकवाद के विरोध मे अपरिग्रह का सिद्धान्त इस धर्म की भारतीय सस्कृति को मौलिक देन है। तृप्ति और सतोष, खान, पीने और मौज करने मे नहीं अपितु अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखने मे है। अपनी निजी आवश्यकताओं से अधिक वस्तुओं का सग्रह करना मानव साथियो का दैनिक आवश्यकताओं मे वचित रखना है जो कि धर्म भावना के विरुद्ध है। बढती हुई गरीबी, महगाई और दैनिक जीवन की आवश्यक वस्तुओं की कमी आदि आर्थिक समस्याए भौतिकवादी विचारधारा के परिणाम है। अपरिग्रह के सिद्धान्त को वास्तविक जीवन मे उतार कर ही हम आर्थिक समस्याओं का समाधान कर सकते हैं।

जैन धर्म मे सामाजिक विषमताओं के विरोध मे आवाज बुलन्द की गयी है। कर्म का सिद्धान्त जैन धर्म का प्रमुख सिद्धान्त है। 'जो जस करहि तो तस फल चाखा', 'जैसी करनी वैसी भरनी' आदि अनेक कहावतें कर्म के सिद्धान्त की पुष्टि करती हैं। जैन धर्म मे जन्म के आधार पर समाज विभाजन पद्धति की भर्त्सना की गयी है क्योकि इस धर्म ने जन्म को नही अपितु कर्म की प्रधानता स्वीकार की है। उच्च जाति द्वारा निम्न जाति पर अत्याचारो की निन्दा की गयी है। हरिकेशी चाण्डाल को जैन धर्मशास्त्रो मे अपने शुद्ध आचरण के लिये सम्मानित स्थान प्रदान किया गया है। जैन समाज मे नारी को सम्मान एव आदर्श की दृष्टि से देखा गया है। नारी को अबला और शक्तिहीन नहीं समझा गया है अपितु समाज का एक महत्वपूर्ण अंग माना है।

यो विश्वं वेदवेद्यं जननजलनिधे

भंङ्गिनः पारदृश्वा ।

पौर्वापर्याविरुद्धं वचनमनुपमं

निष्कलंकं यदीयम् ।।

तं वन्दे साधुवंद्यं निखिलगुणनिधिं

ध्वस्तदोषद्विषन्तम् ।

बुद्धं वा वर्धमानं शतदलनिलयं

केशवं वा शिवं वा ।।

—भट्टाकलङ्कदेव

विविध

स्वच्छता समृद्धि का प्रथम सोपान है

प्रत्येक नागरिक को स्वच्छता के प्रति
अपना दायित्व निबाहना चाहिए
तभी नगर स्वच्छ रह सकेंगे

नगरपालिकाएं-नगरपरिषदें भी अपना कर्तव्य पालन करें
नागरिक जीवन की समृद्धि के लिए आवश्यक है

स्वच्छ एवं सुन्दर नगर
स्वस्थ एवं समृद्ध नागरिक

आइये इस लक्ष्य के लिए सभी मिल-जुल कर कार्य करें

विश्वास की रक्षा

[श्रीमती रूपवती किरण, किरणज्योति, जबलपुर]

पात्रानुक्रमणिका

श्रेष्ठी धनजय	धर्मात्मा कवि
वसुमती	धनजय की पत्नी
चन्द्रकुमार	धनंजय का पुत्र
सलिला	पड़ौसी बालिका
सुदर्शन	पड़ौसी
बलदेव	

जनसमूह

[श्रेष्ठी धनजय के परिवार में वे उनकी पत्नी वसुमती एव इकलौता पुत्र चन्द्रकुमार है। प्रात काल का समय है। श्रेष्ठी धनजय जिन मन्दिर मे पूजनार्थ जा चुके हैं। पत्नी वसुमती मन्दिर से आने वाली हैं। प्रासाद में प्रांगण के समीपवाले कक्ष मे बालक चन्द्रकुमार व पडौस की बालिका सलिला खेल रहे हैं। भूमि पर खिलौने बिखरे हैं। प्रांगण मे गुलाब, रजनिगधा, बेला आदि फूलों की क्यारी महक रही है।]

सलिला—चन्द्र ! ये गुड्डा गुडिया बडे प्यारे लग रहे हैं।

चन्द्रकुमार—(खिलौने उठा उठाकर बतलाते हुये) यह गुड्डा इस गुडिया का भैया है और गुडिया इसकी बहिन है।

सलिला—ये तुझे किसने बतलाया ?

चन्द्रकुमार—मां ने ! वे कह रही थीं कि रक्षाबन्धन के दिन गुडिया गुड्डे को राखी बांधेगी।

सलिला—रक्षाबन्धन तो कल है।

चन्द्रकुमार—हां, हमारे यहाँ बुआ का निमंत्रण है। फूफाजी भी आयेंगे। हमारे यहाँ मिष्ठान्न बने हैं।

सलिला—क्या क्या बना है चन्द्र ?

चन्द्रकुमार—गुझिया, चन्द्रकला, इमरती, गुलाब जामुन, पेडा, पपडी, सेव........

सलिला—(भोलेपन से) हमारे यहाँ बर्फी बनी है। पर हमारे यहाँ फूफाजी नहीं आयेंगे।

चन्द्रकुमार—तेरे फूफाजी नही हैं ?

सलिला—माँ कहती है बुआजी का विवाह होगा। फूफाजी घोडे पर चढ़कर आयेंगे और बुआ को डोली में बैठाकर ले जायेंगे।

चन्द्रकुमार—(सरलता से) क्यो ? बुआ को क्यो ले जायेंगे ?

सलिला—मैं क्या जानू ? माँ से पूछू गी। (जाने लगती है।)

चन्द्रकुमार—अरे तो अभी कहाँ चली ? मिष्ठान्न नहीं खायगी।

सलिला—इसीलिये तो घर जा रही हूँ। मुझे भूख भी तो लग आई है।

चन्द्रकुमार—तो तनिक रुक नही सकती ? माँ मन्दिर जी से आती ही होगी। फिर हम दोनों खायेंगे। मुझे भी तो भूख लगी है।

सलिला—तू कहती है तो रुक जाती हूँ।

चन्द्रकुमार—लो माँ भी आ गई। (वसुमती का प्रवेश) माँ ! सलिला को भूख लगी है।

वसुमती—तो जलपान करा दो।

चन्द्रकुमार—(समझाते हुये) जल नहीं पीना माँ। प्यास थोडे ही लगी है। मिष्ठान्न खायेंगे हम दोनो।

वसुमती—(हँसने लगती है।) अच्छा तो मिष्ठान्न खाओगे ? अभी लाती हूँ बिटिया सलिल ! (वसुमती चली जाती है।)

सलिला—चन्द्र ! तूने मौसीजी से क्यो कह दिया कि सलिला को भूख लगी है ?

चन्द्रकुमार—तो क्या हुआ ? सच तो कहा है। तुझे भूख नहीं लगी ?

सलिला—लगी तो है। (रूठकर) पर मैं तुझसे नही बोलूँगी।

चन्द्रकुमार—क्यो नही बोलेगी ? अच्छा मत बोलना। मैं भी तुझसे रक्षासूत्र नही बधवाऊँगा।

सलिला—अच्छा, अच्छा, बोलूँगी। मेरा भैया चन्द्रकुमार बडा अच्छा है।

वसुमती—(मिष्ठान्न लाकर) लो खाओ।

(वसुमती चली जाती है। दोनो खाने लगते हैं।)

सलिला—पेडा मीठा लगा।

चन्द्रकुमार—और चन्द्रकला तो खाकर देख, कितनी मीठी हैं।

सलिला—(चन्द्रकला खाते हुये) तेरे समान ही मीठी है चन्द्र। इसका नाम तेरे जैसा ही है न इसीलिये। (सहसा फूले गुलाब की ओर दृष्टि जाती है। (दौड़कर) ये फूल कितना प्यारा लग रहा है चन्द्र !

चन्द्रकुमार—तुझे चाहिये तो तोड ले।

सलिला—सच तोड लूँ।

चन्द्रकुमार—(तोडकर देते हुये) ले मैंने ही तोड दिया। सलिले ! रजनीगंधा का फूल देखा तूने ?

सलिला—छि यह भी कोई फूल है। न सुन्दर न सुगन्ध।

चन्द्रकुमार—ये रात को महकता है सलिला। रात को आना मेरे घर। आयगी ?

[इतने में चन्द्रकुमार जोर से चीख पडता है एवं साप सांप कहते हुये प्रांगण में गिर कर मूर्च्छित हो जाता है। सलिला भी साप को देखकर भयभीत हो चीखती है। वसुमती घबराकर वहाँ आ जाती है।)

वसुमती--(चन्द्रकुमार को उठाते हुये) क्या हो गया बिटिया चन्द्र को ?

सलिला--साप था मौसी !

वसुमती--साप ! तूने देखा है ?

सलिला—हा मौसी ! काला काला था। (हाथ फैलाकर बतलाते हुये) इतना बडा !

वसुमती—साप ने काट खाया मेरे चन्द्र को ?

(सेवक सुखलाल भी आ जाता है।)

सुखलाल- क्या हो गया स्वामिनी बालक को ?

वसुमती—सुखलाल ! (व्यथित स्वर में) जा दौड मन्दिर जी, स्वामी से कहना चन्द्रकुमार को नाग ने डस लिया है।

सुखलाल--सांप ने ! हाय। मैं अभी बुलाकर लाता हूं स्वामिनी ! (चला जाता है।)

(श्रेष्ठी सुदर्शन, बलदेव आदि पडोसी आ जाते हैं।)

सलिला--(क्यारी की ओर सकेत कर) मौसी ! वो देखो, गुलाब के समीप बैठा है नाग।

सुदर्शन--(देखकर) उफ ! काला भुजग रखा है। अत्यन्त विषैला नाग है।

बलदेव—किसी मत्रवादी को बुलाकर दिखलाना चाहिये। बन्धु धनजय कहा है भाभीजी !

वसुमती—अभी मन्दिर से नही लौटे। सुखलाल बुलाने गया है। (पैर से खून बहता हुआ देखकर) पैर मे काटा है नाग ने। (तत्काल साडी फाडकर कटे हुये स्थान के ऊपर बांध देती है।)

सुदर्शन—श्रेष्ठी शीघ्र आ जाते तो प्रयत्न करते, वरन् विष का प्रभाव तीव्र गति से बढता चला जायगा।

वसुमती—(अनहोनी आशका से भयभीत हो) हा मेरा चन्द्र ! बचालो कोई मेरे लाल को बचालो।

(जन समूह एकत्रित होता चला जाता है।)

सुखलाल—(लौटकर दुख भरे स्वर मे) जाने आज स्वामी को क्या हो गया है स्वामिनी ! वे मेरी सुनते ही नही हैं।

वसुमती--तुमने कहा नही कि बालक को नाग डस गया ?

सुखलाल—कहा स्वामिनी, बार बार कहा, पर वे हैं कि पूजन ही कर रहे हैं।

बलदेव—कदाचित् सुखलाल की बात समझ मे न आई हो। हम बुलाकर लाते हैं।

(जन समूह में से स्वर उभर कर आ रहे हैं।)

१ला स्वर—शीघ्र उपचार करें मां श्री।

२रा स्वर—शीघ्रता न की गई तो हाथ धर कर बालक खो बैठेगी।

वसुमती—(घबराकर) नहीं, नहीं ऐसा न कहो, मेरा एक ही तो पुत्र है।

३रा स्वर—छिः छि कौन ऐसा दुष्ट है जो ऐसा सोचेगा। भगवान इसकी रक्षा करे।

सुदर्शन—वश का दीपक है बन्धु! माता-पिता की इसी बालक पर समस्त आशायें केन्द्रित हैं।

१ला स्वर—क्यो न हो, कुल तो इसी से जगमगायेगा।

२रा स्वर—देखो तो भगवान मरे को ही मारता है।

४था स्वर—अरे भैया! अरे भगवान क्या मारेगा ? जो जैसा करता है, वैसा ही भोगता है। भगवान तो वीतराग निस्पृही हैं। उन्हे अपने बीच घसीटकर क्यो अपना मुख मलिन करते हो ?

२रा स्वर—धर्म की बातें दूसरो के संकट मे बघारने के लिए हैं। अपने ऊपर विपत्ति आवे तो भगवान को पानी पी पी कर कोसेंगे।

४था स्वर—कोसेगे तो अपना ही अनर्थ करेंगे। भगवान क्या बिगाड लेंगे। सूर्य पर धूलि फेंकने से वह सूर्य तक तो पहुचने से रही, अपने ऊपर गिर कर अपने को ही मलिन करेगी।

बलदेव—(लौटकर) सुखलाल का कथन यथार्थ है बन्धु! श्रेष्ठी सुनकर भी अनसुना कर रहे हैं।

सुदर्शन—(आश्चर्ययुक्त हो) क्या कर रहे हो ? क्या उन्हे अपने पुत्र का जीवन प्रिय नही ?

बलदेव—ये तो वे ही जानें। परन्तु मैं सत्य कह रहा हू। मैंने उच्च स्वर से उन्हें सम्बोधित किया, किन्तु उन्होने मेरी ओर मुख भी नही किया। न ही कुछ ऐसा भाव प्रदर्शित किया कि मेरी बात सुन ली हो।

सुदर्शन—तो क्या पूजन ही करते रहे ?

बलदेव—हा बधु! मैं स्वय विस्मित हू कि कोई इतनी भयकर दुर्घटना सुनकर कैसे शात रह सकता है।

४था स्वर—बात तो यही है। पूजन मे लीन हो तो वे कैसे सुन सकते हैं ? एक बार मे मन एक ओर ही लग सकता है।

बलदेव—कितनी ही तल्लीनता हो, पर ऐसा नही होता। पूजन फिर भी की जा सकती है। भगवान मंदिर से भाग थोडे ही रहे हैं।

४था स्वर—पर पूजन के भाव, उसका आनन्द क्या स्थिर रह पायेंगे ?

वसुमती—जीवन तो हो गया पूजन करते-करते और आगे भी करेंगे। पर बालक हाथ से निकल गया तो वह कहाँ मिलेगा।

सुदर्शन—आश्चर्य है कि जिसका एक मात्र पुत्र काल के गाल में हो, उसका मन पूजा में कैसे लग रहा होगा ?

वसुमती—(व्यथित हो) कैसे कठोर हो गये श्रेष्ठी!

सुदर्शन—(दृढतापूर्वक) कैसे नहीं आयेंगे ? उन्हें आना पड़ेगा। घबराओ नहीं भाभी ! मैं बुलाकर लाता हू भाई को। (प्रस्थान)

वसुमती—(करुण विलाप करते हुये) कोई बचालो मेरे लाल को। उतार दो इसका विष। हाय ! अब यह कभी नही बोलेगा ? कभी मुझसे मा नहींकहेगा ? (दीर्घ उच्छ्वास लेते हुये) कैसा प्यारा है मेरा चन्द्र ! साक्षात् देव सदृश सुन्दर सलौना बालक। बोलता है तो मानो मुख से फूल झरते हैं।

बलदेव—धैर्य धरे आप ! बालक अभी निर्विष हुआ जाता है। मैंने मन्त्रवादी को सन्देश प्रेषित किया है। वह आता ही होगा।

वसुमती—आपका उपकार कदापि नही भूलू गी। मेरे चन्द्र को एक बार जीवन दे दो बन्धु ! मै अपनी समस्त सम्पत्ति न्यौछावर करती हू।

युवक—(आकर) मंत्रवादी किसी दूसरे ग्राम गया है।

वसुमती—(माथा ठोककर) आह ! अब क्या होगा ? श्रेष्ठी भी अभी नहीं आये।

सुदर्शन—(आकर शीघ्रता से रोष में) और न आयेगे। हमने ऐसी पूजन न देखी न सुनी। हम कह-कह कर थक गये, पर वे तो जैसे बहरे हो गये हैं।

वसुमती—क्या हो गया है इन्हे ? चन्द्र के जीवन मरण का प्रश्न उपस्थित है और उन्हे कोई प्रयोजन नही ? इतनी कठोरता ! ऐसी पूजा का क्या अर्थ है ? क्या मेरे लाल के प्राणो से भी बहु-मूल्य है पूजन ? वे नही आये तो मैं जाऊँगी वहा।

(वसुमती गोद मे बालक को लेकर मन्दिर की ओर चल देती है। पीछे-पीछे व्यथित सा जन समूह भी चला जा रहा है। उसमें परस्पर वार्तालाप चल रहा है।)

१ला व्यक्ति—श्रेष्ठी मानव है या वज्र। बालक को नाग काटे और उसे पूजन की ही धुन बनी रहे ? असम्भव है।

२रा व्यक्ति—अ धेर कर दिया भाई श्रेष्ठी ने तो। ऐसा निर्मोही पिता तो आज तक नही देखा।

३रा व्यक्ति—बगुला भगत है पूरा। प्रदर्शन कर रहा है। बालक के बचने के लक्षण नही दिखते।

१ला व्यक्ति—उपाय किया जाता तो बच भी जाता। पर अपने ही हाथों अपने पैर पर कुल्हाडी पटकी जा रही है।

२रा व्यक्ति—(निराशा के स्वर मे) बहुत विलम्ब हो चुका, अब कोई भी उपाय व्यर्थ सिद्ध होगा।

१ला व्यक्ति—बालक की ऐसी ही होनहार होगी।

२रा व्यक्ति—बन्धु ! यह तो वैसा ही हुआ कि छलनी मे दूध दुहें और भाग्य को दोष दें।'

३रा व्यक्ति—विचित्र व्यक्ति है श्रेष्ठी धनजय।

(जिनालय आ गया। श्रेष्ठी अभी भी पूजन में तन्मय है। वसुमती बालक को उनके चरणो मे डाल देती है।)

वसुमती—(रोष एव विषाद भरे स्वर मे) आप पूजन ही करते रहे। बालक की रक्षा का कोई ध्यान

नहीं ? निर्दयता की सीमा लांघ गये श्रेष्ठी ! कोई पिता इतना निर्दय होता है। एक मात्र का भी आपको ध्यान नहीं ? (रुदन से अवरुद्ध स्वर में) यदि चंद्र को कुछ हो गया तो ? मैं आपसे सम्बन्ध विच्छेद कर लूंगी।

[चंद समय पश्चात् श्रेष्ठी धनजय की पूजन समाप्त होती है। वे एक दृष्टि मूच्छित निश्चेष्ट बालक पर डालकर तत्काल पुन शांत भाव से स्वप्न में डूब जाते हैं। गद्गद् हो उनकी आंखों से आनंदाश्रु झरने लगते हैं। श्रेष्ठी के स्तवन के स्वर सुनाई पड़ने लगते हैं। स्तवन की मार्मिकता का बोध होते ही शनैः शनैः कोलाहल शांत हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो जन जन सम्मोहित हो एक ही प्रवाह में निश्चेष्ट बहा जा रहा है।)

धनंजय--हे प्रभु ! आपके समीप यद्यपि वैभव के नाम पर एक तृण भी नहीं है, तथापि आप अद्भुत दानी हैं। सत्य है कि अकिंचन व्यक्ति तत्काल फल देता है। जबकि वैभवशाली कृपण विलम्ब से भी कुछ नहीं देता। जैसे शुष्क गिरिशिखर अनेक सरिताओं को प्रवाहित कर तृषित प्राणियों को तृप्त करता है। किन्तु अगाध जलराशि के वृहद् भण्डार सागर ने कृपणता के कारण सरित दान तो दूर एक बिन्दु जल का भी दान नहीं किया।

वसुमती--ओ भक्त पुजारी ! कृपया बालक की रक्षा का उपाय करें। पूजन तो फिर भी हो जायगी।

धनजय--(तन्मयता से भक्तिरत हैं) हे सर्वज्ञ ! आप अपने त्रैकालिक आत्मस्वभाव में सदैव संस्थित हैं। अत आपका अवलोकन आत्मदर्शन में निमित्त मात्र हो व्यक्ति को आत्मलाभ का अपूर्व आनन्द उपलब्ध कराता है। जबकि सांसारिक विशाल सम्पदा किसी को क्षण भर भी सुख नहीं दे सकती।

१ला व्यक्ति--धन्य है श्रेष्ठी ! धन्य है आपको एवं धन्य है आपका आत्मगुणानुराग। सत्य ही आपकी भक्ति अद्वितीय है।

धनजय--हे वीतराग ! वरदान-प्राप्ति की तुच्छ आशा से प्रेरित हो मैंने आपकी भक्ति नहीं की, क्योंकि मुझे भलीभांति ज्ञात है कि आप राग से सम्बन्ध तोड़ निस्पृही हो गये हैं। और फिर कोई किसी को दे ही क्या सकता है ? प्रत्येक पदार्थ निरन्तर स्वकार्यरत है। फिर भी विनम्र भक्त अनायास मनोवांछित फल को प्राप्त कर लेता है। ऐसा कौन अज्ञानी है जो वृक्ष से स्वयमेव प्राप्त होने वाली छाया की याचना करेगा ? प्रत्येक आत्मा स्वभावतः अक्षय सम्पत्तिवान है।

(श्रेष्ठी धनजय चन्द क्षणों को मौन हो जाते है। तत्पश्चात् भूप्रणत हो नमस्कार करते है और फिर मुड़ने पर पत्नी व मूर्च्छित पुत्र को देखते हैं।)

वसुमती--(व्यंग्य से) हो गई आपकी पूजा अर्चा ? शेष रह गई हो तो वह भी पूर्ण करले।

धनजय--(शांतिपूर्वक) देवी ! इस समय तुम यहां कैसे चली आई ? और क्रोध को भी साथ ले आई। चन्द्र को क्या हो गया है !

वसुमती— आपको लज्जा नहीं आती ऐसा कहते ? अपने लाडले चन्द्र को नाग ने डस लिया है और आप पूजन में मग्न हैं। धिक्कार है ऐसी भक्ति को।

धनंजय—क्रोध को धिक्कार करो देवी ! कष्टदेह आत्मविद्रोह मत करो। क्रोध का विष नाग के विष से अधिक भयकर है, जो निरन्तर आत्मशान्ति को नष्ट कर रहा है। विष का विष से शमन नहीं होता। शातिधारण करो।

वसुमती—जिसका इकलौता पुत्र नाग दंशन से चार पाच घड़ी से मूर्च्छित पडा हो, उस अशान्त व्यथित मा को शान्ति का उपदेश दिया जा रहा है ? श्रेष्ठिन् ! मेरे नेत्रों के सम्मुख मृत्यु की विभीषिका का नग्न ताडव हो रहा है। मा की ममता अभी सोई नहीं है। शाति धारण करू तो कैसे ! (मन विषाद से भर आता है। आसुओ की झडी लग जाती है।)

धनंजय—देवी ! धैर्य रखो। आयुष्य शेष है तो बालक की मूर्च्छा शीघ्र टूट जायगी।

[श्रेष्ठी धनजय प्रभु के अभिषेक का जल बालक पर छिडकते हैं। क्षणेक पश्चात् चन्द्र-कुमार प्रसन्नचित मुस्कराता हुआ उठकर बैठ जाता है। जय जयकार का जनरव गूज जाता है। सब धन्य धन्य कह उठते हैं। वसुमती का हृदय गद्‌गद् हो जाता है। वे चन्द्र-कुमार को वक्षस्थल से लगा हर्ष विभोर हो जाती है।] तत्पश्चात्

वसुमती—(प्रायश्चित के स्वर में) मुझे क्षमा करें नाथ ! मैं मोह से बावली ममता से अशात थी।

धनजय—तुम्हारा दोष नहीं है देवी ! मिथ्या दृष्टि के विष का ऐसा ही दुर्निवार प्रभाव होता है। जब तक प्राणी धन-जन में सुख मानेगा, तब तक अशांति ही होती रहेगी।

वसुमती—तब क्या करू श्रेष्ठिन् ?

धनजय—वस्तु स्थिति की स्वतन्त्रता को यथावत् समझकर आत्मसात् होने का सद् प्रयत्न करो।

वसुमती—इसका सूत्र क्या है देव !

धनंजय—अपने आत्मा से अत्यन्त पृथक जन-धन, यहां तक कि मन को भी अनुकूल प्रतिकूल बनाने की वृत्ति दुखद है। ससार के समस्त पदार्थों की अवस्थायें स्वतन्त्र रूप से अपने मे निरन्तर परिवर्तित होती रहती हैं। करने करने की वृत्ति से आकुल हो आत्मस्वभाव की हत्या क्यों करो !

वसुमती—न करने की वृत्ति रूप आचरण तो अत्यन्त कठिन है नाथ !

धनंजय— आचरण के पूर्व चिन्तनपूर्वक ऐसे विचारो का होना अनिवार्य है। विचारो के सुदृढ होने ही तद्‌रूप आचरण स्वयमेव हो जाता है। आचरण शारीरिक क्रिया का नाम नहीं आत्म-स्वभाव मे रमण करने का है, जो अन्तर्साधना से प्रकट हो जाता है।

वसुमती—आत्मस्वभाव कैसा होता है श्रेष्ठी !

धनंजय—अक्षय ज्ञान स्वरूप। ज्ञानस्वका एव अज्ञान स्वको छोडकर अन्य का सवेदन करता है।

ज्ञान स्व पर प्रकाशक है दीप की भांति। यद्यपि वह सबको देखता जानता है तथापि सवेदन अपना ही करता है।

वसुमती—काश! यह अपूर्व रहस्य पहिले ज्ञात हो जाता। मैं तो तन के नाश को ही चेतन का नाश मान बैठी थी। आत्मा के अजर अमरत्व पर कभी दृष्टि ही नहीं गई।

४ था व्यक्ति—मैंने कहा था न कि श्रेष्ठी धनजय की भक्ति अपूर्व है। जिसकी दृष्टि मे जड पदार्थों की नश्वरता एवं चैतन्य की शाश्वतता प्रत्यक्ष हो ज्ञान ज्योति ज्योतित हो उठी है, वहा अज्ञान का अ धकार प्रवेश करने का दुस्साहस कैसे कर सकेगा ?

(एक बार पुन श्रेष्ठी की जय जयकार की ध्वनि नभ मण्डल को गु जा देती है। शनै. शनै सब अपने घरो की ओर लौट पडते हैं।)

यवनिका

मुक्तक

चले अन्दर करतनी क्या करेगी हाथ की माला,
मरी जब तक न इच्छाएं मिले न मोक्ष का प्याला।
अगर है मोक्ष की इच्छा तो काका मन करो वश में,
तुम्हारी वासनाओ ने तुम्हे बरबाद कर डाला।।

विशाल जनमेदनी को सभा म मन्त्री श्री बाबूलाल मेठी सम्बोधित करते हुए

क्षमापन पर्व समारोह 1976
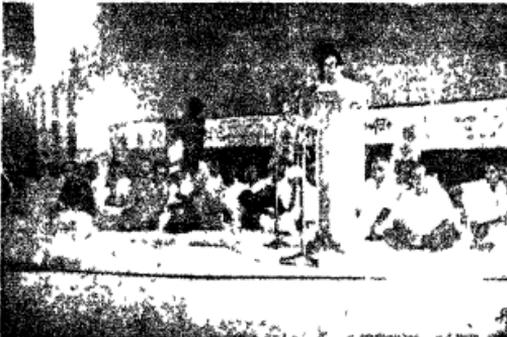
क्षमा के महत्व को बतलाते हुए
श्री मोहन छंगाणी, मन्त्री
राजस्थान सरकार

उसकी कहानी : न मरण न मोक्ष

—श्री सुरेश सरल, जबलपुर

लम्बी विशिल के बाद कण्डक्टर ने छोटी-छोटी दो विशिल और दी। बस के चक्के घूमे कि एक आदमी स्फूर्ति के साथ बस मे घुस आया। उसने यहाँ वहा नजर दौडाई। सभी सीटें भरी नजर आई उसे। "खैर गाडी तो मिल गई" शायद वह सोचते हुए उसने अपने माथे पर हाथ फेरा। वह पसीने की नवजात बूंदो को पोछ रहा था। तभी मेरी दृष्टि उसकी दृष्टि से मिली तो वह आत्मीयता के भाव चेहरे पर लाकर बोला मुझसे–"भाई साहब, आपको माइड मे कोई नही है ?" मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये बगैर ही वह आगे बोला–"मैं बैठ सकता हूँ" एक बालसुलभ स्वच्छ मुस्कान उसके ओठो पर खिल गई। तभी आगे की सीट से दो युवतियो ने उसे देखा। कुछ कहे बगैर मैं एक तरफ हो गया। वह होले से मेरे बाजू में बैठ गया। उसकी टिकटें हो चुकी थी। कण्डक्टर टिकटे मिला रहा था। गाडो आगे बढने लगी थी।

घन्टे भर बाद ही ड्राइवर ने अन्दर की लाइट बुझा दी। तब बाहर का अन्धकार बलात् भीतर घुस आया, कालिमा की एक पतली झिल्ली पसर गई थी। गाडी का फाटक विधवा के इकलौते पूत की तरह शोर कर रहा था, तो बाजू वाले ने हाथ बढाकर उसे भीतर की ओर एक झटके से खीच लिया। शोर बन्द हो गया। गाडी बढ़ी जा रही थी।

"कहिये आप कहां जाइयेगा ?" उसने मुझसे पूछा। मैं उत्साह को बन्द करते हुए बोला–"बस रायपुर तक।" यह सुनकर वह एक मीठी मुस्कान से मुस्कराया, फिर बुदबुदाने जैसी कुछ अस्पष्ट आवाज मे आप ही बोला—रायपुर तो मैं भी जा रहा हू। मैं चुप रहा। उसने अब दूसरा प्रश्न किया– 'तो आप जबलपुर मे ही रहते हैं ?" "हा" संक्षिप्त में ही मैंने कहना चाहा था। "मैं तो रायपुर का रहने वाला हूँ। यहा रिलेशन में आया था। दो दिन रुका, आज जा रहा हूँ।" चेहरे पर बनावटी हँसी लाकर मैंने इस बार कुछ ठीक से कहा–अच्छा! वह फिर बोलने लगा–भेडाघाट बहुत पसन्द आया मुझे। जब आठवे दर्जे में था तो इसी भेडाघाट पर एक निबन्ध लिखा दिया गया था परीक्षा में। तब मैंने तपाक से प्रश्न किया—"फिर ?"-फिर क्या देखा तो नही था किन्तु प० भवानीप्रसाद तिवारी का एक लेख पढा था अपनी पाठ्य पुस्तक मे। बस उसी के आधार पर धडाधड लिख दिया और उसमे अच्छे नम्बर भी मिले थे। पुन उसकी आवाज मे कुछ बदलाहट आयी और वह पूछने लगा—आप जानते हैं प० भवानीप्रसाद तिवारी को ? उसके सहज प्रश्न पर मुझे हँसी आ गई। मैं हँसता हुआ बोला–हाँ बचपन से।

बस की तीव्र गति मथर होने लगी। कोई बस्ती आने वाली थी। जभाई आने का क्रम टूट न रहा था। बस रुकने पर उसने मुझे चाय पीने के लिए अनुरोध किया। हम लोग चाय पीने लगे। मेरी चाय समाप्त हो कि उसने चाय का पैसा चुका दिया। हम फिर बस मे आ गये। रात्रि

दस के ऊपर हो चली थी। मैं अब अपने स्थान पर सो जाना चाहता था। मेरे कांधे पर हाथ गडाता हुआ वह बोला–'कहिये आप साहित्य मे क्या पसन्द करते हैं गद्य या पद्य ?' एक कृत्रिम सहजता वाणी मे पिरोकर उसने मुझसे पूछा था। "सिर्फ साहित्य"–इस बार मेरी टोन में गभीरता कम बकुरता अधिक थी। फिर भी वह हँसा और चुप हो गया।

बस क्रमश वेगवती होती जा रही थी। जब आँख खुलती तो रात की कालिमा के गर्भ मे गाडी की आवाज भर हमे सुनाई पडती थी। मै क्षण भर को जागता और फिर सो जाता। एकाएक उसने मुझे झकझोर दिया–"देखिये भाई साहब, यह ड्राइवर कितनी रफ गाडी चलाता है। अभी जब गाड़ी बायी ओर काटी थी न, तब दायी ओर के चक्के सडक के ऊपर उठ गये थे। आप तो सो रहे हैं।" उसके कहने पर मुझे याद आया तो लगा–हा क्षण भर पहले गाडी मे खिचाव के साथ झटका लगा था। मैंने कहा–रात का समय है। सडक सूनी है। इसीलिए शायद ड्राइवर खुले दिल से गाडी चला रहा है। "अरे नही साब, ड्राइवर को रोको, नही तो गाडी उलटते में समय नही लगेगा।" वह कुछ शिकायत के स्वर मे बोला था। मैं कुछ कहे वगैर फिर नीद मे आने लगा। आखें मु दने लगी। साहूकार को देखकर भागे हुए कर्जदार की तरह गाडी भागी जा रही थी, यात्री मतगी से हिल रहे थे।

सडक के साथ टायरो के घषण की एक भयकर आवाज हुई। एक खिंचाव-सा लगा शरीर को और तब झटके से दूसरी सीट की तरफ उछल गये थे हम लोग।

गाडी को इस तरह मोडा जाना मुझे भी इस बार कुछ अजीब सा लगा। बाजू वाला इस बार दबी आवाज को साफ करते हुए बोला–देखा आपने कितना शार्प मोड था वह, और ये ड्राइवर लोग गाडी मोडने के पूर्व उसे धीमी तक नही करते और फिर जोर तोर से ब्रेक लगाते हैं इससे साइड के चक्के नक उठ जाते हैं। ऐसे मे यदि गाडी न सम्भले, तो सब मरे। वैसे भी टायर ज्यादा घिसते है।" मैने उसके सन्तोष के लिये मध्यम स्वर मे ड्राइवर को पुकारा-"धीरे चलाओ भाई, जल्दी किस बात की है।" सभी लोग तन्द्रा मे झूम रहे थे। शायद ड्राइवर के साथ साथ किसी यात्री ने भी मेरे शब्दो पर ध्यान नही दिया।

घडी मे 12 बज चुके थे। बडी सूई छोटी के साथ एकाकार हो गई थी। समय जाते देर नहीं लगती। गाडी 50-60 की गति पर थी, फिर भी समय की गति मुझे अधिक वेगवान लगी। मैं फिर तन्द्रा के बहकावे मे आने लगा। 'ड्राइवर गाडी रोको' एक सशक्त आवाज गाडी मे गूंज गई। आवाज के बल पर कण्डक्टर ने भी एक दीर्घ विशिल दी। गाडी रुकने के लिए धीमी होने लगी, भीतर की बत्तियाँ जल उठीं, देखा तो गाडी के अन्दर सामान रखने की पट्टी पर से एक अटेची सरक कर मेरे बाजू वाले के सिर पर आ गिरी थी। क्रोध से उसकी आँखे पहले से बडी और रक्तिम हो पडी थी। वह सहमी सहमी आवाज मे झल्ला रहा था– गाडी धीरे चलाइये न क्यो भागम-भाग मचाये हो ? किसी की जान लेना है क्या ? कि इतने मे गाडी रुक पडी पर यह क्या गाडी रुकी तो यह पीछे लुढकने लगी। हम सबको आभास हो गया कि पीछे की सडक का गहरा ढाल है। ड्राइवर हैरान होकर खटाखट ब्रेक लगा रहा था। गाडी लुढकती ही जा रही थी। ड्राइवर झुंझलाकर जोर-जोर से वडबडाया–ब्रेक नही लग रहे हैं। उसकी क्रियाओ मे स्फूर्ति आ गई थी। गाडी के लुढकने मे अब वेग आ गया था। ड्राइवर ने एकदम गाडी को गेयर मे डाल दिया। एक छोटा सा झटका लगा हम लोगो को, पर गाडी रुकी नही। ड्राइवर ने क्षण भर के लिये

पलट कर देखा फिर चिल्लाया—'पीछे टेक लगाओ जल्दी।' सुनते ही, मेरे बाजूवाला गाडी के फाटक को एक झटके से खोलकर तत्परता से बाहर कूद गया। उसके बाद शायद मैं या कण्डक्टर बाहर कूदता कि गाडी सतुलन खो बैठी और धडाम खटाखट्ट धडाम की आवाज से फाटक के बल वह एक खडहर मे गिर गई। आगे महिलायें चिल्लाई, जैसे एक साथ सैकडो औरतें भयभीत होकर चीत्कार कर रही हो। बच्चो का कोहराम अलग सुनाई दे रहा था। सभी यात्री कुछ न कुछ चिल्ला रहे थे। कोई भगवान का नाम ले रहा था। कुछ चिल्ला रहे थे। मेरे पैरों में काफी चोट आ गई थी। कोई खिडकी तोडकर बाहर निकला तो किसी ने ड्राइवर के सामने का काच तोडकर रास्ता बनाया। यात्री बाहर आ गये थे। जिन्हे सह्य चोट थी वे बच्चो और महिलाओ को निकालने लगे। पाच मिनिट में सब बाहर आ चुके थे। कोलाहल शात होने लगा। गाडी गड्ढे मे आराम सा कर रही थी। फर्स्ट एड का बाक्स अब काम आया, कण्डक्टर बच्चो को टिचर लगा रहा था।

डर और दहशत कम होने पर सबने एक दूसरो को देखा। किसी को गम्भीर चोट न आ पाई थी। साधारण नोच खरोच ही थी। फिर भी लोग अन्धकार मे घबडा रहे थे। बच्चे पानी मागने लगे। अर्ध मूर्छा की स्थिति मे हम सब एक वृक्ष के समीप पडे रहे। कुछ लोग भाग्य पर और कुछ ड्राइवर पर दोष आरोपित करने लगे। तभी पीछे से एक अन्य बस आती दिखी। हमें लगा हनुमानजी सजीवनी लेकर आ रहे हैं। हमारी बेचैनी कम होने लगी। ड्राइवर और कण्डक्टर ने एक साथ हाथ उठाये। बस थम गई। इस बस के लोगो को घटना समझते देर न लगी। हम लोगों का सामान पहिचान-पहिचान कर इस बस पर रखा जाने लगा। टहलते टहलते सभी जन बस में बैठने लगे। कण्डक्टर ने आवाज लगाई—"सब लोग हैं न भाई अपने अपने बाजूवालो को देख लेना।"

"बाजू वालों को"। आवाज सुनी तो मुझे अपने बाजू वाले की याद आई। मैं बिना कुछ सोचे एकदम जोर से चिल्लाया—मेरा बाजूवाला नही है भाई। मुझे एक घबराहट हुई। मुझे लगा मै अपने किसी सगे-सम्बन्धी को बाहर छोड आया हूँ। मैं बस से उतर कर गड्ढे मे पडी बस की ओर भागा। एक साथ 2-3 टार्चें मेरी ओर ज्योति-शिखा बिखेरने लगी। कुछ लोग मेरे पीछे हो आये। मैंने ड्राइवर के सामने वाले फूटे काच मे से झाँक कर देखा। वह भीतर नहीं था। किकर्तव्य-विमूढ की स्थिति मे होते हुए भी मैं गाडी के उस तरफ पहुचा तो मेरे साथ कई स्वर चिल्लाये—"वह दबा पडा है।" च च-च मैं उस पर झुक गया। इसकी छाती पर बस का वजन था। छाती के नीचे का भाग फाटक की अडास मे सुरक्षित था। उसके सिर से खून निकल रहा था। वह बेसुध था। मैं तडप कर उसके सिर पर हाथ फेरने लगा। लोगो ने जोर देकर बस की बाडी को कुछ ऊपर को हुमसाया और इसी बीच दो लोगो ने उसे बाहर खीच लिया। उसकी आखे खुली थी किन्तु चेतना जा चुकी थी।

मैं लुटा सा रह गया। मेरे आँसू उस सूखी काली रात मे आर्द्रता भरने लगे। वह मेरी ओर देख रहा था। मुझे लगा वह अपना वाक्य दोहरा रहा है—"दो दिन रुका, आज जा रहा हू।" शायद यही उसका शाश्वत परिचय था। और यही उसकी "प्रिय यात्रा" थी। श्याम विभावरी मे विभीतिहीन शाति निर्मित हो गई।

उसकी यात्रा पूर्ण हो गई थी, हम रास्ते में ही पडे थे।

नर, नारायण बना तोड़कर कर्मों की जंजीर

❀ श्री कल्याण कुमार जैन, शशि, रामपुर

आत्मा का साक्षात्कार, अपरिग्रह मे मिलता है
सत्य अहिंसा सयम इस सुख की आधारशिला है
यही अमरता के पथ पर जीवन को ले चलता है
इसी तपोवन मे आत्मा का अमर फूल खिलता है
परिणामों का पुष्ट परिरमण गुण ग्राहक गम्भीर।
अन्तर्मुख निर्मल आत्मा को पहिचाने प्रतिवीर ।।

सयम निष्कलक जीवन परमेष्ठी पद का दाता
ये ही अर्हंत के माध्यम से मुक्ति तलक पहुँचाता
जन्म मरण के चक्रव्यूह से सयम पिण्ड छुड़ाता
यही कसौटी मानव की उज्ज्वल भविष्य निर्माता
नर नारायण बना तोडकर कर्मों की जजीर।
अन्तर्मुख निर्मल आत्मा को पहिचाने प्रतिवीर ।।

निर्विकल्प अस्तेय अहिंसा, पूर्ण मनोबल द्वारा
शिव पथ पर बहने लगती है आत्म गगा की धारा
फिर न अपेक्षित रहते मन्दिर मस्जिद मठ गुरुद्वारा
इसमे सिद्धावस्था का खिलता अनन्त उजियारा
अपने मे खिलने लगती है अपनी ही तस्वीर।
अन्तर्मुख निर्मल आत्मा को पहिचाने प्रतिवीर ।।

सांसारिक व्यापृति हमें अपने मन मे उलझाती
अपने भ्रष्ट-नियन्त्रण से यह आत्मा को बहकाती
छीन हमारा अन्तर्बल अपना स्वामित्व जमाती
इस प्रकार यह प्राणों को नित निरुद्देश्य भरमाती
मुक्ति मार्ग अवरुद्ध किये रहती इसकी प्राचीर।
अन्तर्मुख निर्मल आत्मा को पहिचाने प्रतिवीर ।।

दृष्टान्त की लड़ाई; लड़ाई का दृष्टान्त

❀ श्री नीरज जैन, एम० ए०, सतना,

समाज मे दो उदाहरणो या दृष्टान्तो को लेकर प्राय विवाद के बादल घुमड रहे हैं। कविवर बनारसीदासकी– 'सूकर के लेखें जस पुरीष पकवान है" यह पक्ति वर्षों से आलोच्य और समालोच्य बनी बिराज रही है। इधर कुछ समय से प दीपचन्दजी का एक गद्य उदाहरण चर्चा का विषय है जिसका भावार्थ यह है कि— "जिस स्त्री का पति बना हुआ है, वह यदि अन्य पुरुष से भी गभ धारण करे तो उसे दोष न लगे।"

मैंने उक्त दोनो विद्वान लेखको के उपरोक्त उदाहरण सप्रसग पढे है। बात अत्यन्त सीधी है। लेखक जो विवेचन कर रहा था उस पर एकदेश ठीक बैठता हुआ भी उदाहरण जो जैसा सामने आया, उसने प्रस्तुत कर दिया। दृष्टान्त को एक–देश नही मान कर उसका सर्वदेश औचित्य सिद्ध करने का हठाग्रह यदि हम करेंगे तो निश्चित ही विवाद जन्म लेंगे। मालिन्य बढेगा। हम यही कर रहे है।

बनारसीदासजी उस मोही गृहस्थ की बात करना चाहते हैं जिसकी दृष्टि से मोक्ष के मूलभूत अभिप्राय स्खलित हो चुके हैं और पुण्य ही जिसे अपने पुरुषार्थ का परम श्रेष्ठ फल दिखाई देता है। उनका आरोप है कि जिस प्रकार शूकर कूकर आदि को विष्ठा ही सबसे बडा पकवान प्रतीत होता है उसी प्रकार मोही जीव को पुण्य ही सबसे बडा परमार्थ दिखाई देता है। उदाहरण का अर्थ और भावार्थ अत्यन्त स्पष्ट हैं। किसी भी प्रकार उसका यह अर्थ नही निकाला जा सकता कि 'पुण्य विष्ठा है।' यदि हम इस उदाहरण के आधार पर पुण्य को विष्ठा कहना प्रारम्भ करें तो वह, कविवर के मतानुसार, शूकर की ही दृष्टि से सम्भव है। विचार हमे करना पडेगा कि तत्त्व-विश्लेषण करने वाले जिज्ञासु की दृष्टि से हमे बात को समझना है या मात्र अपने पूर्वाग्रह की पुष्टि के लिये पुण्य को विष्ठा सिद्ध करते हुवे सुअर की दृष्टि से उसे देखना है।

बनारसीदासजी का इस तरह का उदाहरण रखना जैन साहित्य मे कोई नई बात नही। बात को समझने के लिये बडे बडे आचार्यों ने इस तरह के उदाहरणो का सहारा लिया है। दो हजार वर्ष पहले हमारे महान् आचार्य भगवन् समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार के अन्तिम पद्य मे यह कामना की है कि सम्यक्त्व रूपी दृष्टि लक्ष्मी मुझे इसी प्रकार सुखी करो जिस प्रकार कामिनी स्त्री कामी पुरुष को सन्तुष्ट करती है। इतना ही नहीं, भगवान् ने इस एक ही छन्द मे अपनी दृष्टि लक्ष्मी को कामिनी, जननी और कन्या के रूप मे रखकर अपने लिये सुख, रक्षा और पवित्रता की कामना की है। यहा मैं श्री जुगलकिशोर मुख्तार की व्याख्या सहित उस छन्द को अविकल उद्धृत कर रहा हू—

मुखयतु सुखभूमि कामिन कामिनीव

सुतमिव जननी मा शुद्धशीला भुनक्तु ।
कुलमिव गुणभूषा कन्यका सपुनीतान्–
जिन पति पद-पद्म प्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मी ।
॥ १५० ॥

व्याख्या—"यह पद्य अन्त्य मगल के रूप मे है। इसमे ग्रन्थकार महोदय स्वामी समन्तभद्र ने जिस लक्ष्मी के लिये अपने को सुखी करने आदि की भावना की है वह कोई सांसारिक धन-दौलत नही है, बल्कि वह सद्दृष्टि है जो ग्रन्थ मे वर्णित धर्म का मूल प्राण तथा आत्मोत्थान की अनुपम जान है और जो सदा जिनेन्द्रदेव के चरणकमलो का—उनके आगमगत पद वाक्यो की शोभा का—निरीक्षण करते रहने से पनपती, प्रसन्नता धारण करती और विशुद्धि एव वृद्धि को प्राप्त होती है। स्वय शोभा सम्पन्न होने से उसे यहा लक्ष्मी की उपमा दी गयी है। उस दृष्टि लक्ष्मी के तीन रूप हैं—एक कामिनी का, दूसरा जननी का और तीसरा कन्या का।

ये क्रमश सुखभूमि, शुद्धशीला तथा गुणभूषा विशेषण से विशिष्ट हैं। कामिनी के रूप मे स्वामी ने यहा अपनी उस दृष्टिसम्पत्ति का उल्लेख किया है जो उन्हे प्राप्त है, उनकी इच्छाओ की पूर्ति करती रहती है और उन्हे सुखी बनाये रखती है। उसका सम्पर्क बराबर बना रहे, यह उसको पहली भावना है। जननी के रूप मे उन्होने अपनी इस मूल दृष्टि का उल्लेख किया है जिससे उनका रक्षण पालन शुरू से ही होता रहा है और उनकी शुद्धशीलता वृद्धि को प्राप्त हुई है। वह मूल दृष्टि आगे भी उनका रक्षण-पालन करती रहे यह उनकी दूसरी भावना है। कन्या के रूप मे स्वामीजी ने अपनी उस उत्तरवर्तिनी दृष्टि का उल्लेख किया है जो उनके विचारो से उत्पन्न हुई है, तत्वो का गहरा मन्थन करके जिसे उन्होने निकाला है और इसीलिये जिसके वे स्वय जनक हैं वह निशकितादि गुणो से विभूषित हुई दृष्टि उन्हे पवित्र करे और उनके गुरुकुल को ऊचा उठाकर उसकी प्रतिष्ठा को बढ़ाने मे समर्थ होवे, यह उनकी तीसरी भावना है।"

इस प्रकार भगवान ने स्वय को कामी और दृष्टि-लक्ष्मी को कामिनी की उपमा दी है। यानी हमारे झगड़ने के लिये काफी मसाला इस पद्य में उन्होने दे दिया है। पर नहीं, हमें यहा भी यह विवेक करना पड़ेगा कि शब्द, पद और वाक्य, दृष्टान्त के शरीर हैं। उसकी आत्मा तो उसका भावार्थ या अभिप्रेत अर्थ मात्र है। केवल सन्दर्भ-हीन शब्दार्थ से लड पड़ें, यह हमारी मूर्खता होगी।

दूसरे उदाहरण के सम्बन्ध मे विचार करते समय हमे दो बातो पर ध्यान देना पडेगा। पहला लेखक के काल की समाज व्यवस्था और दूसरा उसके शब्दो का आधार। लेखक अपने आसपास समाज में, राज्य मे, और देश मे जो कुछ देखता है उसका प्रतिबिम्ब उसके लेखन पर अनिवार्यत पडता है। इसीलिये साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है। छहढाला मे सम्यक्दृष्टि जीव के सासारिक भोगो के सम्बन्ध के उदाहरण बडे सटीक हैं। 'नगर नारि को प्यार' और कांचे में हेम' हमेशा समझ मे आते रहे हैं। गणिका का प्यार प्रदर्शन अर्थप्राप्ति की धुरी पर ही तो घूमता है। परन्तु बुधजनजी की छहढाला मे एक उदाहरण आया है 'ज्यो सती नारि तन को सिंगार।' इस पंक्ति का भी यही अर्थ पढा, सुना, समझा और माना कि सती स्त्री अपने तन का शृगार केवल अपने पति को रिझाने के लिये करती है। उसकी सज्जा पर पुरुष के लिये लेशमात्र भी नहीं है।

कुछ वर्षों पूर्व राजस्थान का इतिहास पढते समय अठारहवी शताब्दी में वहा प्रचलित सती प्रथा का रोमाचकारी वर्णन पढने को मिला। बुधजन उस सतीप्रथा के प्रत्यक्ष साक्षी बनकर ही

अपनी लेखनी चला रहे थे। वे देख रहे थे कि चितारोहण करने के पहले नारी की देह सोलहों श्रृंगार से सस्कारित की जा रही है। किन्तु उसका मन इस श्रृगार के प्रति एकदम उदासीन है। अपनी पारम्परिक आस्था के कारण उसकी अडिग धारणा है कि चितारोहण करते ही उसके पति से उसका चिर मिलन असदिग्ध है। शरीर सस्कार उस चिरमिलन की प्रस्तावना के रूप मे अव-श्यम्भावी एव अनिवार्य है। ऐसा सोचकर वह नारी तन के श्रृगार को अपने चिरमिलन मे बाधक मानते हुए भी उसकी अनिवार्यता को स्वीकार करती है। किन्तु उसकी दृष्टि मे उसका प्रियतम झूलता है, श्रृगार नही। ऐसे ही ज्ञानी जीव के ज्ञान में प्रतिष्ठित होने के पूर्व, उदय मे आये हुए भोगो से उसे निबटना पड़ता है। किन्तु तब भी उसकी दृष्टि मे आत्मा झूलती है, भोग नही। बुध-जनजी ने ज्ञानी की जिस मानसिक विकलता का चित्रण सती नारी के माध्यम से दिखाना चाहा है उनके उस महान् आशय को तात्कालिक सतीप्रथा की ओर देखे बिना समझ लेना सम्भव ही नही है।

हमे पडित दीपचन्दजी के उदाहरण को इसी कसौटी पर कसना होगा। उनका समय सामाजिक रुढियो और जटिलताओ का समय था। व्यक्ति समाज के अनुशासन से बहुत अधिक जकडा हुआ था। उसके छोटे-बडे सभी आचरणो की समाज द्वारा अनुवीक्षा की जाती थी और उसके हर एक स्खलन के लिये दण्ड दिया जाता था। आज जैसा व्यक्ति स्वातन्त्र्य का अथवा उच्छृखलता का वाता-वरण समाज में नहीं था। इस परिप्रेक्ष्य में अपने उदाहरण के द्वारा पडितजी सिर्फ इतना कहना चाहते हैं कि भले ही कोई स्त्री अपने शील से डिग-कर किसी अन्य पुरुष द्वारा गर्भधारण करले परन्तु जब तक उसका पति मौजूद है तब तक ऐसी स्त्री के आचरण पर सन्देह प्रकट करना, दोष लगाना या दण्डित करना समाज के लिये सम्भव नही है। स्त्री अपने पति का त्याग कर दे पति स्वय उसे लाछित कर दे या, उससे जुदा रहने लगे तब स्थिति बदल जायेगी। एक सहज बात को समझाने के लिये पडितजी ने एक बहुत सहज उदाहरण प्रस्तुत किया है। इसमे उन्होने जरा भी इस बात की वकालत नही कि ऐसी व्यभिचारिणी स्त्री केवल अपने पति के अस्तित्व के कारण सचमुच ही निर्दोष बनी रहेगी और उसके शील को कोई दोष नही लगेगा या उसे किसी अशुभ कर्म का बन्ध नही होगा। इन सब बातो का यहां कोई प्रसग ही नही है।

मैं समाज के जिज्ञासु भाई-बहिनो से अत्यन्त नम्रतापूर्वक यह कहना चाहता हू कि स्वाध्याय करते समय शब्दार्थ और मतार्थ के साथ भावार्थ को भी समझने का प्रयत्न करें। अपनी कषाय को पूर्ति के लिये विद्वानो के वाक्यो का खीचतान वाला अर्थ लगाना और उसे प्रचारित करना ईमानदारी नही है। इतना और कि दृष्टान्त की एकदेश घटाकर उससे दार्ष्टान्त को समझने की कोशिश करनी चाहिये। दृष्टान्त को सर्वदेश सत्य नही मानना चाहिये। ●

विचार - बिंदु

—प० प्रेमचन्द्र "दिवाकर", सागर

1 सचाई से डरो नही। चन्दन के तरुग्रो मे भुजग लिपटने पर भी सुरभि समाप्त नही होती।

2 प्रारुणिक जीवन उत्कर्षकारी ग्रौर ग्रानन्दप्रद होता है।

3 देखादेखी से नही, ग्रपनी दृढ श्रद्धा ग्रौर ज्ञान से कार्य करना है।

4 दुनियाँ एक रगमच है, 75 वर्ष करीब तक कलाकार नाटक के किसी एक पात्र की तरह का ग्रभिनय कर मृत्यु के नेपथ्य मे चला जाता है। प्रत्येक को नेपथ्य मे नियम से जाना है। ग्रत ग्रच्छा ग्रभिनय कल्याण का पैगाम है।

5. प्रेम हृदय की निर्मलता का फल है।

6 ग्रहिसा —उदारता समानता ग्रौर ग्रशान्ति-निवारक है।

7 ज्ञानी जन कष्टो ग्रौर ग्रभावो मे भी सुखानुभूति करते हैं।

8 ग्राचरण मनुष्य जीवन का परम रत्न है।

9 रुकने का नही, गति का नाम जीवन है।

10 हम हिम्मती हैं, उसे जागृत, विकसित ग्रौर ग्रनुभव मे लाने की ग्रावश्यकता है।

11 कार्य की सफलतार्थ उसके कारण ग्रौर परिणाम का विचार करना चाहिये।

12 ज्यादा दूर देखने की ग्रपेक्षा पास मे ग्रधिक देखो।

13 दूसरो के पहिले स्वय को सुधारो।

14 हमे जीवन मे जीने की कला भी सीखना है।

15 दूसरो से सहायता की ग्राशा न रखकर स्वय ग्रपने सहायक बनो।

16 सदैव खुशनजर ग्राने का ग्रभ्यास करना है।

17 वर्षा, दिवाकर नदी, फल ग्रौर ईश्वर किसी से भेद नही करता, बल्कि निरवाछित समान व्यवहार करते हैं।

18 प्रतिपल ज्ञानार्जन करते रहना है। यही ग्र गूर, रबडी, स्वर्ग, मखमली सैया, राकेश, वायुयान, दुरबीन, रेलगाडी, दिवाकर ग्रौर स्वय स्वरूप है।

19 ऊपर देखने के पूर्व ग्रधोभाग को निरख लेना चाहिये।

20 विचारो मे महानता, महत्वाकाक्षा, पवित्रता ग्रौर पूर्णता ग्रवश्य ही हो।

21 ज्ञान—ग्रानन्द ग्रौर परम शातिरूप है।

क्षमापन समारोह 1976

मुख्य अतिथि श्री मोहन [illegible] का स्वागत करते हुए सभा के अध्यक्ष श्री राजकुमार काला

निर्वाणोत्सव समारोह 1976

कु॰ प्रीति जैन मंगलाचरण करते हुए

समय की माँग

❀ डॉ. जयकिशनप्रसाद खण्डेलवाल, आगरा

जीवन के सभी क्षेत्रो मे समय की माग को महत्त्व दिया जाता है। चाहे वह भौतिक क्षेत्र हो या आध्यात्मिक, सास्कृतिक क्षेत्र हो या साहित्यिक समय के अनुसार लोगो की विचारधारा परिवर्तित होती रहती है। कुछ आन्दोलन स्थायी प्रभाव वाले होते हैं, जिनका गहरा प्रभाव पडता है। वे युगादर्श को प्रस्तुत करते हैं। महावीर निर्वाणोत्सव के उपलक्ष में देश-विदेश मे जो भी गतिविधि दिखाई पडीं, उनमे से कुछ के दूरगामी परिणाम होगे। यथा, जैन दर्शन के अनेकान्तवाद को हम आज के युग की माँग कह सकते हैं। इस पर अनेक दृष्टिकोण से विचार हुआ और यह वाद अनेक दृष्टिकोणो का सम्मिलित रूप प्रस्तुत करता है। सच्चाई के सभी पहलुओ को हम जान लें, तभी हम पूर्ण सत्य को प्राप्त कर सकते हैं।

समन्वय का स्थूल रूप चारो सम्प्रदायो के एक ध्वज, एक मच और एक कार्यक्रम तथा 'समणसुत्र' के प्रकाशन मे दिखाई पडा। यह समन्वय जैन समाज में कितने गहराई से पैठ गया है यही समीक्ष्य है और जितनी गहराई से पैठा है, उतना ही लाभकारी है, अनेकान्तवाद के अनुरूप है। इसी प्रकार अपरिग्रहवाद का सिद्धान्त भी बहुत व्यापक सिद्ध हुआ है। व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक के जीवन मे इसकी धूम मच रही है। इसके व्यावहारिक पक्ष पर भी चिन्तन-मनन हुआ है। यह युग की माग के रूप मे उभर कर आया और इसकी उपयोगिता को राष्ट्र के नेताओ ने समझा, सराहा और अपने ढग से वे इसे प्रयोग मे भी लाये। हमें प्रसन्नता की बात है कि यह अपरिग्रह अणुव्रत के रूप मे व्यक्तिगत कल्याण की दृष्टि से व्यापक रूप मे अपनाया गया। निर्वाणोत्सव की उपलब्धियो का मूल्याकन हुआ है और इस तथ्य पर सभी एकमत हैं कि व्यापक जागृति हुई है। एक ही बात है कि हमे उपलब्धियो को सजोकर रखना है उसे अपने जीवन का अ ग बनाना है। त्रुटियो की ओर दृष्टिपात करने का समय नही है।

साधु और समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है। साधु-सस्था ने सदैव समाज का मार्ग निर्देशन किया है और श्रावक पक्ष भी अपनी पूर्ण श्रद्धा से उनको जीवन का पूज्यतम विभूति मानता है। युग की माग है कि साधु-सस्था समाज को जीवन-दर्शन के प्रति नवीन ढग से, आधुनिक शब्दो में प्रोत्साहित करे। उनकी रुचि धर्म की ओर लगावे। णमोकार मन्त्र मे साधुओ की कोटिया दी हुई हैं किन्तु प्रत्येक कोटि मे भी कोटियां हैं। चारित्र को तो सदैव महत्त्व दिया जाता रहा है और भविष्य में भी यह रहेगा किन्तु दिखावे एव रूढियो को समाज लादे नहीं रहना चाहता। समय रहते इस दिशा मे प्रवृत्त होने की आवश्यकता है वरन युवा-जन से हम क्या आशा कर सकते हैं। उनमे आस्था का प्राय अभाव होता चला जा रहा है। किस प्रकार युवाजन के हृदय में दृढ आस्था हो, धर्म के प्रति, सिद्धान्तो के प्रति, साधु सस्था के प्रति—इन प्रश्नो

पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये। साधु सस्था भी विचार करे और श्रावक जन भी। साधु की भूमिका आधुनिक युग के परिप्रेक्ष्य मे क्या हो ? यह ज्वलन्त प्रश्न है। हमे समाज के लिए कल्याणकारी मुद्दो को भुलाना नही है। महावीर स्वामी का निर्वाणोत्सव आने से पूर्व बडी तैय्यारिया की जा रही थी, शताब्दी वर्ष मे भी बड़े-बडे आयोजन एव सगोष्ठिया हुई और समापन वर्ष मे विचार गोष्ठियो में उपलब्धियो का मूल्याकन हुआ। वह सब पूर्ण हुआ सम्पन्न हुआ। अब तो हमें अपने निर्वाणोत्सव की तैय्यारिया करनी हैं, उत्सव करे तो आने वाली पीढ़ी अपनावेगी और समापन तो इसका कभी होता ही नही। यह तो पीढी दर पीढी चलता रहता है। हमारा धर्म एव दर्शन परम्परावादी है, सृष्टि की परम्परा है। युग की माग की भी परम्परा है। जैन समाज के मार्ग-दर्शन हेतु प्रबुद्ध साधक अग्रसर हों, ऐसी हमारी कामना है।

एक प्रश्न !

महावीर स्वामी के तुम हो रजिस्टर्ड अनुयायी,
एक प्रश्न मैं केवल तुम से पूछ रहा हू।
आज अहिंसा की क्यो बिल्कुल बदल गई परिभाषा ?
विफल हो गई लगा रखी थी सत्य धर्म पर आशा,
और अचौर्य कहा टिक सकता बडी परेशानी है,
कहाँ परिग्रह की सीमा जब तृष्णा मनमानी है,
ब्रह्मचर्य की हुई आजकल कितनी छीछालेदर ?
एक प्रश्न मैं केवल तुम से पूछ रहा हूँ।

× × ×

पहले जैसी कहाँ तुम्हारी, अब है प्रामाणिकता ?
तथा सरलता सत्यप्रियता, अथवा धर्माचरिता,
अपना हृदय टटोलो, और सोचो है कितनी खामी ?
किस बूते पर कहलाते हो, जैन धर्म अनुगामी ?
खानपान में लुप्त हो गई जब आचार निष्ठता ?
एक प्रश्न मैं केवल, तुम से पूछ रहा हूँ।

❀ श्री गुलाबचन्द जैन, वैद्य, दाना

निर्वाण-शती-वर्ष की महान् उपलब्धि !

❀ श्री प्रतापचन्द्रजी जैन, आगरा

आचार्य विनोबा भावे सर्व-धर्म-समभाव तथा समन्वय के लिए निरन्तर प्रेरणादायी बल देते रहे हैं। उनका सारा जीवन ही दलो को जोडने और उन्हे जोडे रहने का रहा है। इसी जन-हित-दृष्टि से उन्होने अनेक धर्म-ग्रन्थो पर दूरगामी कार्य किया है। भगवद् गीता, वेद, बाइबिल, कुरान, जपुजी आदि विशिष्ट और जनमान्य धर्मग्रन्थो के सार-सकलन तैयार किये और धम्मपद की तो उन्होने नव-सहिता ही प्रस्तुत करदी। उनका गीता प्रवचन तो आज घर घर पढा जा रहा है। इसी तरह वे चाहते थे कि जैनधर्म का भी एक समन्वयात्मक तथा सवमान्य ग्रन्थ तैयार हो। महावीर की वाणी भी कालमान्य हो।

सर्व-सेवा-सघ प्रकाशन की ओर से लगभग चार वर्ष पूर्व इस दिशा मे प्रयास शुरू किया गया। श्री जिनेन्द्र वर्णी जी के समक्ष विनोबाजी की यह भावना रक्खी गई, जो उनके हृदय को स्पर्श कर गई। फलस्वरूप जनवरी 1973 के प्रारम्भ मे श्री वर्णीजी और बाबा के बीच ब्रह्म विद्या मन्दिर पवनार मे दो दिन तक इस पर चर्चा हुई और उसके बाद श्री वर्णीजी ने विनोबा के मार्ग-दर्शन मे मर्यादाओं को ध्यान मे रखते हुए 430 गाथा प्रमाण "जैन धर्म सार" नामक ग्रन्थ सकलित कर दिया जो 11 सितम्बर 1973 को विनोबाजी को समर्पित कर दिया गया। उनके आदेशानुसार वह ग्रन्थ मुद्रित हुआ और भारत के सभी साधुओ तथा विद्वानों के पास सम्मत्यार्थ भेजा गया। सभी ने उसमें गहरी रुचि ली, अनेक उपयोगी सुझाव आये। उन सुझावो को ध्यान मे रखकर प० दलसुख भाई मालवणिया ने 570 गाथा-प्रमाण एक नया सकलन तैयार किया, तदुपरान्त श्री वर्णीजी ने उन सारे सुझावो और उस नये सकलन को सामने रखकर 807 गाथा-प्रमाण "जिण धम्म" नामक ग्रन्थ तैयार किया।

इस नये सकलन पर विचार करने हेतु 29-30 नवम्बर 1974 को भारत की राजधानी दिल्ली में विनोबाजी की प्रेरणा और सघ के ही सत्प्रयास से एक सगीति आयोजित की गई। भगवान महावीर के 2500 वें निर्वाण महोत्सव के कारण प्राय सभी प्रधान जैन-साधु सघ और विद्वान उन दिनो सहज ही दिल्ली मे उपलब्ध हो गये। उनमे आचार्यश्री तुलसीजी, श्री विजय-समुद्रसूरिजी, आचार्यश्री धर्मसागरजी, उपाध्याय श्री विद्यानन्दजी मुनि, मुनिश्री सुशीलकुमारजी, मुनिश्री नथमलजी एव मुनिश्री जनकविजयजी सहित देश के लगभग सभी चोटी के विद्वान सम्मिलित हुए।

शुरू मे तो हजारो वर्षों की मान्यता भेद रूपी दीवार को तोड कर इनका एकत्र होना ही अति कठिन लग रहा था, ऐसे ग्रन्थ का सकलन तो बहुत ही दुद्धर कार्य था तथा सगीति का आयोजन तो और भी दुस्वार। चोटी के विद्वान ही नहीं मुनिगण तक इस बारे मे सदिग्ध थे। लेकिन

आचार्य विनोबाजी के शब्दो मे श्री वीर प्रभु समन्वयाचार्य थे, परम वीर्यवान थे और माध्यस्थ्य दृष्टि सम्पन्न थे। उनकी अहिंसा, अनेकान्त और समता की पयोधारा मे समस्त मताग्रह एव वैर विरोध समाप्त हो जाते हैं। एक शुभ सयोग हमे भगवान महावीर के 2500 वें निर्वाण महोत्सव वर्ष की पावन बेला का भी मिला। जबकि चारो जैन सरिताए एक धार बन कर बह रही थी वह भी सहायक सिद्ध हुआ और असम्भव सम्भव बन गया। परस्पर विश्वास का झरना फूट पडा और सभी जैन आम्नायो के मुनिराज एक ही मच पर विराजमान हुए। उनका हृदय एक हुआ।

सगीति 29 और 30 नवम्बर 1974 को दिल्ली के अणुव्रत विहार तथा जैन बालाश्रम मे दो दिन तक चलती रही। हर गाथा पर खूब विचार-मन्थन हुआ और अनेक सुझाव आये। दिगम्बर व श्वेताम्बर सभी मान्यताओ के विचारक एव आचार्यगण उस मिले जुले सकलन-ग्रन्थ को अधिकृत रूप से सर्वसम्मत मान्यता देने के लिए समुद्यत हो गये। सगीति मे सर्वसम्मत निर्णय का सम्पूर्ण अधिकार सभी जैन आम्नायो के मुनिराजो को सौप दिया गया। मुनिगणो तथा श्री जिनेन्द्र वर्णीजी ने सगीति के पश्चात् 6-7 दिन तक लगातार घटो बैठकर ग्रन्थ का परिशोधित रूप तैयार किया और उसका नाम 'समण सुत्त" निर्धारित किया। इन सभी मुनिराजो ने 7 दिसम्बर सन् 1974 को उस पर अपने हस्ताक्षर करके उसे सर्वमान्य घोषित किया। श्री वर्णीजी तब उसे लेकर बाबा के पास पवनार पहुचे। बाबाने उसे देखकर अति प्रसन्नता व्यक्त की और उन्होने भी गद्गद हृदय से 12 दिसम्बर 1974 को हस्ताक्षर करके उस 756 गाथा-प्रमाण-ग्रन्थ-राज को निर्वाण शती वर्ष की उस महान् उपलब्धि को अपना आशीर्वाद प्रदान किया। हजारो वर्षो से चली आरही बहुत बडी कमी पूरी हुई।

यह गौरव ग्रन्थ जैन धर्म, जैन दर्शन तथा जैन न्याय का पूर्ण परिचय प्रदान करता है, इसमें निश्चय और व्यवहार तथा इन दोनों की समन्वय रूपी त्रिवेणी का भव्य दर्शन होता है। यह चार खण्डो मे विभाजित है (1) ज्योतिर्मुखम्—इसमें व्यक्ति मिथ्यात्व की निम्न भूमि से उठकर राग-द्वेष का परिहार, कषाय निग्रह तथा इन्द्रिय दमन करते हुए उत्तम क्षमा आदि दस धर्मों की उत्कृष्ट भूमि मे प्रवेश करता है और अप्रमाद का यथार्थ रूप मे दर्शन करता है। (2) मोक्ष-मार्ग—इसमे सम्यक्दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र का भेद तथा अभेद स्वरूप दर्शाया है। इसी के अन्तर्गत श्रावक तथा श्रमण-धर्म का विशद परिचय भी प्राप्त हुवा है, जिसमे अव्रती श्रावको के लिए पाँच अणुव्रत व आठ शीलव्रत तथा श्रमणो के लिए पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, षडावश्यक कर्म, ध्यान, द्वादश तप तथा अनुप्रेक्षा व सल्लेखना के निश्चय-व्यवहार-परक स्वरूप सम्मिलित हैं। (3) तत्व दर्शन—इसमे सात तत्व, नवपदार्थ षट् द्रव्य तथा सृष्टि-व्यवस्था का वर्णन है। (4) स्याद्वाद विषयक इसमे प्रमाण, नय, निक्षेप, सप्तसगी, न्याय तथा सर्व-धर्म समन्वय का भव्यरूप सामने आया है।

ग्रन्थ तीन भाषाओ मे सगृहीत है। मूल गाथाए प्राकृत की हैं। उनकी सस्कृत छायाए तथा हिन्दी अनुवाद भी हैं। आचार्य विद्यासागरजी महाराज इसके हिन्दी पद्यानुवाद में सलग्न है। ग्रन्थ के गुजराती, मराठी और अग्रेजी भाषाओ मे प्रकाशन की योजना भी चल रही है। ग्रन्थ नित्य पारायण योग्य बन गया है।

बाबा ने अपने आशीर्वचन में कहा है कि मेरे जीवन मे मुझे अनेक समाधान प्राप्त हुए हैं। उनमे आखरी अन्तिम जो शायद सर्वोत्तम समाधान है, इसी साल (1974-76) प्राप्त हुआ है। मैंने कई दफा जैनों से प्रार्थना की थी कि जैसे वैदिक

धर्म का सार गीता के सात सौ श्लोकों मे मिल गया है " वैसे जैनों का होना चाहिए। यह जैनो के लिए मुश्किल बात थी, इसलिए कि उनके, अनेक पन्थ हैं और ग्रन्थ भी अनेक हैं। आखिर वर्णी नाम का एक बेवकूफ निकला और बाबा की बात उसको जँच गई। वे अध्ययनशील हैं। उन्होने 'जैन धर्म सार" नाम की एक किताब प्रकाशित की। उसकी हजार प्रतिया निकालीं और जैन समाज के विद्वानों के पास तथा जैन समाज के बाहर के विद्वानों के पास भेजदी। विद्वानो के सुझावो पर कुछ गाथाओ का हटाना, कुछ का जोडना यह सारा करके "जिण धम्म" किताब प्रकाशित की। फिर उस पर चर्चा करने के लिए बाबा के आग्रह से एक संगीति बैठी और उसमे मुनि, आचार्य और दूसरे विद्वान, श्रावक मिलकर लगभग तीन सौ लोग इकट्ठे हुए। बार बार चर्चा करके फिर उसका नाम भी बदला, आखिर सर्वानुमति से "श्रमण-सूक्तम्' जिसे अर्ध मागधी मे "समण-सुत्त" कहते हैं तथा उसमे 756 गाथाएं हैं। 7 का आकडा जैनो को बहुत प्रिय है। 7 और 108 को गुणा करो तो 756 बनता है। और तय किया कि चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को वर्धमान जयन्ती आयगी जो इस साल (1975) 24 अप्रेल को पडती है, उस दिन वह ग्रन्थ अत्यन्त शुद्ध रीति से प्रकाशित किया जायगा और आगे के लोग जब तक जैन धर्म मौजूद है, तब तक सारे जैन लोग और दूसरे लोग भी जैन धर्म का सार पढते रहेंगे। एक बहुत बडा कार्य हुआ है, जो हजार पन्द्रह सौ साल में हुआ नही था। उसका निमित्त मात्र बाबा बना लेकिन बाबा को पूरा विश्वास है कि यह भगवान महावीर की कृपा है।

मै कबूल करता हू कि मुझ पर गीता का गहरा असर है। उस गीता को छोड कर महावीर से बढकर किसी का असर मेरे चित्त पर नही है। उसका कारण यह है कि महावीर ने जो आज्ञा दी है वह बाबा को पूर्ण मान्य है। आज्ञा यह कि सत्यग्राही बनो। सब धर्मों मे, सब पन्थो मे "सब मानवो मे सत्य का जो अंश है उसे ग्रहण करना चाहिए।"

जिस सर्व-सेवा-संघ ने इस हरक्यूलिस कार्य को हाथ मे लिया और उसे मूर्तरूप दिया उसके सम्बन्ध मे भी यहां दो शब्द कह देना असंगत नही होगा। सर्व-सेवा-संघ गाँधी जी द्वारा प्रवर्तित तथा संचालित विभिन्न रचनात्मक प्रवृत्तियो का एक मिला जुला संगठन है। संघ के प्रकाशन विभाग ने विनोबाजी की भावना को अमली जामा पहनाने के लिए इस आयोजन और प्रकाशन का दायित्व उठाया है। वास्तव में यह कार्य सम्पूर्ण जैन समाज का ही था। अब यह हमारा, प्रत्येक सत्याग्राही का पावन दायित्व हो जाता है कि 'समण सुत्त" के द्वारा भगवान महावीर की कल्याणकारी वाणी नगर नगर, घर-घर पहुचे। यह मानव जगत को उनके 2500 वे निर्वाण वर्ष की एक अनुपम भेंट है। (इस ग्रन्थराज का वही स्थान है जो गीता, बाइबिल, कुरान शरीफ और धम्मपद का है।) क्या ही अच्छा हो यदि ऐसी ही एक और संगीति आयोजित की जाय जो श्रमण श्रावकों के लिए इस बदलते युग के परिप्रेक्ष्य मे एक आगम-सम्मत सर्वमान्य आचार संहिता तैयार करदे। वह काम भी कम महान नही होगा। जैन धर्म मे अनेक आगम ग्रन्थ हैं परन्तु उनमे कोई एक भी ऐसा ग्रन्थ नही था जो जैन समाज के सभी अनुयायियो को समान रूप से मान्य हो और जैन धम के जिज्ञासुओ को प्रतिनिधि ग्रन्थ के रूप मे रिकमेन्ड किया जा सके।

महावीर के उपदेशों की

❀ श्री हजारीलाल जैन 'काका' सकरार

सत्पथ भटक चुका है मानव भूल गया उद्देश्य को,
महावीर के उपदेशो की पुन जरूरत देश को.

ग्राज क्षमा की जगह क्रोध का हर मन पर ग्रधिकार है,
मानवता ठुकराई जाती दानवता से प्यार है,
तज कर मान कषाय छोडना होगा नकली वेष को,
महावीर के उपदेशो की पुन जरूरत देश को,

सत्य भटकता बाजारो मे झूठ पुज रहा है चहुं ग्रोर,
सयम के बाने मे लिपटे घूम रहे खल कामी चोर,
तप से हमें शुद्ध करना है मन के इस ग्रावेश को,
महाबीर के उपदेशो की पुन: जरूरत देश को,

इच्छाग्रो का दमन न ग्रब मानव के वश की बात है,
सारे जग की मिलै सम्पदा यही फिकर दिन रात है,
इसी चक्र में घूम रहा नर चैन नही लवलेश को,
महावीर के उपदेशो की पुन, जरूरत देश को,

पर वस्तु मे रमण करे फिर भी बनता ब्रह्मचारी है,
निज स्वरूप को भूला चेतन ऐसा बना ग्रनारी है,
'काका' लोभ मोह को त्यागो रखो न लघु ग्रवशेष को,
महावीर के उपदेशो की ग्राज जरूरत देश को,

नव साहित्य—

कसौटी पर ।

"त्रिशला नन्दन महावीर"

रचयिता—श्री हजारीलाल जैन "काका बुन्देलखण्डी"
सकरार (झांसी)

प्रकाशक— सेठ श्री भगवानदासजी जैन, सागर (म. प्र.)

आकार— २०×३०/१६

श्री हजारी 'काका' हास्य रस के जाने-माने लोक प्रिय जैन कवि हैं। भक्ति रस मे भी इनकी लेखनी पूर्ण तन्मयता से गोता लगा लेती है।

प्रस्तुत पुस्तक मे विश्व-वन्द्य भगवान महावीर की जीवनी को कवि ने सरल, सुबोध एवं आडम्बर-हीन लोक-भाषा में छन्दोबद्ध प्रस्तुत किया है। रचना वस्तुतः जैन जगत् की साहित्यिक धरोहर बन गई है।

१०२ पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य मनन मात्र है जो इसकी अतिरिक्त विशेषता है।

निर्ग्रंथ

रचयिता— कन्हैयालाल सेठिया

प्रकाशक—भीलवाड़ा सस्कृति संसद, भीलवाड़ा (राजस्थान)

मुद्रक— मातादीन ढंढारिया,

नेशनल प्रिंट क्राफ्ट्स,

९५ ए, चितरजन एवेन्यू

कलकत्ता- १२

सेठियाजी वस्तुत शब्दो के सेठ हैं। प्रस्तुत पुस्तक मे सेठियाजी ने धार्मिक, दार्शनिक, सासारिक जगत से सम्बन्धित एक-एक शब्द को लेकर जो रचनायें दी है— वे वस्तुत. एक-एक हीरा हैं। गागर मे सागर है। छोटे छोटे सूत्रो मे जीवन व जगत का गहन रहस्य उद्घाटित हुआ है।

पुस्तक मे कागज का अपव्यय जरूर हुआ है। छपाई सुन्दर है किन्तु मात्र ८२ पेज की पुस्तक का मूल्य १०) रु० बहुत अधिक है।

तीर्थंकर

निर्वाण चयनिका विशेषांक, दिसम्बर १९७६

सपादक— डॉ. नेमीचन्द जैन

प्रकाशक—हीरा भैया प्रकाशन,

६५, पत्रकार कॉलोनी, इन्दौर

मूल्य ५) रुपये

आकार— १८×२२/८

इस विशेषांक मे जैन जगत के शीर्षस्थ विद्वानो की धार्मिक एव सामाजिक सारगभित सक्षिप्त रचनायें तो हैं ही साथ ही निर्वाणोत्सव वर्ष मे सम्पूर्ण भारत मे प्रकाशित जैन साहित्य का भी यह दिग्दर्शन कराता है तथा निर्वाणोत्सव वर्ष की उपलब्धियो का लेखाजोखा कतिपय लेखको द्वारा बड़े निष्पक्ष दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है।

आंग्ल भाषा

(English Section)

"TRI-RATNA" IN JAIN PHILOSOPHY

Dr Prem Chand Jain
M A Ph.D Jain Darsanacharya
Department of Sanskrit,
University of Rajasthan,
JAIPUR

These are (1) SAMYAG DARSAN right faith, (faith and perception combined,) (2) SAMAG JNANA right knowledge, (3) SAMYAK CHARITRA right conduct

Right faith, right knowledge and right conduct have, therefore, come to be known in Jaina ethics as the three gems (three jewels) that shine in a good life In the very first sutra of "Tattvarthadhigama-Sutra" Umasvami states this cardinal teaching of Jainism The Path to liberation lies through right faith, right knowledge and right conduct [1] Liberation is the joint effect of these three

The reason why right faith or perception is put first is that right principles of conduct are derivable from right perceptions And as precious stones and ordinary stones are of the same nature, but a whole load of mountain stones does not equal in value a small piece of precious stone, so conduct based on false-faiths may be the same in external manifestation as that based on right faith, but the former leads to final liberation. (ATMANUSASANA, V 15, TRANSLATION PUBLISHED IN THE JAINA GAZETTE, VOL IV, 1907, P 67)

A-RIGHT FAITH (SAMYAG DARSANA)

Umaswami defines right faith as the attitude of respect (Sraddha) towards truth This faith may be acquired by learning or culture.[2] In any case faith can arise only when the Karmas that stand in its way (the tendencies that case disbelief) are allayed or worn out.

Right faith is of two kinds :

1. Right faith from the practical point of view, or Vyavahara-Samyag Darsana. It is right and steady faith of the true nature of the six DRAVYAS, the

FIVE ASTIKAYAS, the seven TATTVAS, the nine PADARTHAS The man who has this faith knows also the relative importance and the true significance of the TATTVAS[3] It also includes faith in true ideal, scriptures and teacher.[4]

2 Right faith from the real point of view or NISCHAYA SAMYAG DARSAN, right faith of the true nature of one's own soul It is realisation of oneself as pure soul as something not distinct from the attribute which are peculiar to a perfect soul, namely, perfect knowledge, power and bless [5]

Right faith is free from three errors of confounding it with false (1) Gods, (2) Place and (3) Teacher The idea of God should be purged of all materialism or anthropomorphism It should be the highest idal of the most perfect soul conceivable There is from the highest point of view no special sanctity attaching to any place The teacher also must be such as knows these doctrines and teaches them clearly and with emphasis

It must be free from all the kind of pride Eight are usually given i pride of one's mother's or father's relations, pride of greatness, beauty, knowledge, wealth, authority and asceticism or spiritual advancement

Then it must be steady and with eight qualities which are given by SAMANTABHADRACHARYA IN HIS BOOK RATANAKARANDA SRAVAKACHARA, [4]

Right faith arises in ten ways or in two ways .

IN TWO WAYS ·

Nisarga or by nature, adhigama or by external instructions [6]

IN TEN WAYS

From discourses or Jaina Tirthankaras (AJNA) or of learned men, or Jaina sacred books from renunciation or worldly or jects (Marga), from knowing the topics of Jainism in out line (SAMKSHEPA DRISHTI), etc (See-ATMANUSASANA, VV 11-14, Jaina Gezette, Vol V, 1907, p 67)

RIGHT KNOWLEDGE (SAMYAK JNANA)

Right faith makes us perceived the reality of life and the seriousness of our object in life, It saves us from the soul emptying, puzzling voisl of scepticism. It brings us nearer to the feeling and touch of the solid, substantial reality of our own and other souls, as also of the matter in union, with which the soul gives rise to the phenomena of life.

Right knowledge makes us examine in detail the matter brought into the mind by right faith Of course both are mental processes, the difference is in degree, I see a nurse taking a boy on the pavement outside This is preception I have the right faith that there are a woman and a boy out there I also perceive that the woman is a nurse But I do not know the details who they are, where they live, why they are in this particular locality, and so forth If I saw or heard or read about them, I should gain right knowledge

This knowledge must be free from doubt. It must be retained steadily and based on firm faith

Error is also recognized in Jainism It reminds one some what of the ignorance (AVIDYA) of the Vedanta, the want of discrimination (AVIVEKA) of the Samkhya, and the illusion (MAYA) of the Buddhist systems of philosophy Jainism insists that right knowledge can not be attained unless belief of any kind in its opposite (in wrong knowledge) is banished [7]

The soul of man is indirisible, and our intellect cannot really consent, even temporarily to what our faith has not grasped, and our conduct can not but be coloured by over intellect, from which it springs Faith and knowledge leading to right conduct are at once the process and the goal, for right faith dispels weak doubt, right knowledge preserves us from ignorance, indifference, and laziness and right conduct enables us to create the best life of which we are capable

Right knowledge is of five kinds [8]

1 MATI JNANA

Knowledge which is acquired by means of the five sences, or by means of the mind of man [9]

2 SRUTA JNANA

Knowledge in which on the basis of MATI JANAA one acquires knowledge about things other than those to which the MATI JNANA relates [10]

The difference between the two is thus stated MATI JNANA deals with substances which exist now, and having come into existance, are not destroyed, SRUTA JNANA deals with all things now in existence and also with those which were in the past or may be in the future, an eclipse to-day may be in the future, an eclipse to-day may be known by MATI JNANA, but one in the time of Alexander, or one happen next year, can now only be known by SRUTA JNANA. Even a mineral or plant soul with one sense only can have SRUTA JNANA.

(3) AVADHI JNANA

Knowledge of the remote or past. It is possessed always be celestial and infernal souls, ascetics also sometimes acquire it by 'ansterities'[11]

(4) MANAHPARYAYA JNANA

Knowledge of the thoughts and feelings of others It is possessed by samnyasins only, by persons who are master of self-control and who have practised the restraint of body, mind and speech [12]

(5) KEVALA JNANA

Full or perfect knowledge, which is the souls characteristic in its pure and undefiled condition [13]

FALSE KNOWLEDGE

The first three kinds of knowledge sense knowledge, study knowledge and knowledge of the past may also be perverted or false The sense may deceive us, our studies may be in-complete or erroneous, and the angels visions of the remote or past may not be perfect in detail or clearness [14]

But mind knowing can not be false. We cannot have it, unless we can have knowledge of the exact thought or feeling in others mind Full or perfect knowledge cannot be false

To take the Five kinds of knowledge in details

MATI JNANA

Mati Jnana or sence knowledge is also called SMRITI, SAMJNA, CHINTA, ABHINIBODHA It is acquired (1) by means of the five sences (2) by means of the mind

It is divided into four parts ·

1 **AVAGRAHA** preception, taking up the object of knowledge by the sences It is also called ALOCHANA GRAHANA OR AVADHARANA

2 **IHA** the readiness to know more of the things perceived. It is also called UHA tarka PARIKSHA, VICARNA or JIJNASA.

3. **APAYA** finding out the perfection or otherwise (SAMYAKTA OR ASAMYAKTA) of thing. It is also called APAVAYA, APAGAMA, APANODA, APAVYADH, APETA, APAGATA, APAVIDDHA OR APANUTTA

4 **DHARNA** retaining the detailed reality of a thing It is also called PRATIPATTI, AVADHARANA, AVASTHANA, NISCHAYA, AVAGAMA OR AVABODHA

I see the boy and nurse going along outside, this is AVAGRAHA I wish to know more about them This is IHA I go and make inquiries about them, and know all kinds of details about their ages, family etc this is APAYA I grasp the full significance and characteristics of the details which I have gathered. this is DHARNA

Each of the above four classes of sense knowledge has twelve sub-classes: **bahu**, much **bahuvidha**, manifold, KSHIPRA, quickly, ANISMITA, without the help of symbols or signs, ANUKTA, without being touched, DHRUVA, steady, ALPA, less, ALPAVIDHA, in few ways, AKSHIPRA, slowly, NISRITA, with help of signs, UKTA, taught, ADHURUVA, not steady

Thus Mati Jnana is $4 \times 12 = 48$ kinds and, as each kind may be acquired by five senses or the mind in all it is of $48 \times 6 = 288$ kinds

Again the above distinctions apply to sense knowledge with reference to ARTHA the object itself With reference to VYANJANA or (intermediating) sensation, sense knowledge is of only one kind, the AVAGRAHA (or preception) kind This is never manifested in regard to the eye or the mind, therefore, it can only be of 4×12 (the twelve classes above referred to)$=48$ kinds.

Thus the total kinds of sense knowledge are $288 + 48 = 336$

AVADHI JNANA or knowledge of the remote is of two kinds (1) Innate, as in the case of angels in Heaven or fallen ones in Hell, (2) acquired, by the precipitation or annihilation of karmic matter The farmer is called BHAVA PRATYAYA and the latter KSHAYOPASAMA This latter is acquired by men and animals and is of six kinds :—

1. ANANUGAMIKA Limited to a particular locality, outside the man loses this faculty

2 ANUGAMIKA not limited to any locality

3. HIYAMANA knowledge of the remote comprehending innumerable worlds, seas, continents etc becomes less and less, till it reaches the minimum.

4 **Vardhamanaka**, acquired from very slight beginnings, it goes on increasing It is the converse of Hiyamana

5 ANAVASTHITA, usteady, so that it fluctuates according to circumstances.

6. AVASTHITA, never leaving the possessor in the locality where it is acquired, and retained by him even in another form of existence.

(For these see Tattvartha-sutra, Ch 1 21-3)

MANAH PARYAYA or mind reading knowledge is of two kinds :

1 RIJU MATI This arises from the straight forwardness of man's mind, speech, and body and consists in discerning and knowing the forms of thoughts in other's minds

2 VIPULA MATI by this the finest karmic activity in the minds of others can be read

The distinction between the two kinds is this :

1 VIPULA-MATI is finer and purer than RIJU MATI,

2 VIPULA-MATI can not be lost, whereas the possessor of the RIJU MATI mind reading power may lose it

1 Mind reading knowledge is purer and more refined than farreading knowledge

2 Mind reading knowledge is confined to the locality where men live Far knowledge is not so limited and may be extended to the whole universe

3 Mind reading can be acquired only by men and also only by **Sanyasins**, men of control Far knowledge can be acquired by all souls in all conditions of existence

4 By mind reading we can all forms of thought etc , even their minutest modifications By far knowledge we can know forms with only a few of their modifications

From this point of view sense and study knowledge applies to all substances, but only in some of their modifications Far knowledge applies to coloured substances, but not to all their modifications Mind reading applies to all coloured objects, even in their infinitesimal parts [15]

PURE KNOWLEDGE

KEVALA JNANA pure knowledge applies to all things and to all their modifications It is in fact a characteristic of the soul entirely liberated from the bondage of matter

To conclude, a soul can have one, two, three or four kinds of knowledge at one and the same time If one kind, it must be pure knowledge, if two kind it is the sence and the study knowledge If three kinds, it is the sense and the study and the past knowledge, if four kinds, it is all except pure knowledge[18]

RIGHT CONDUCT (SAMYAK-CHARITRA)

Right conduct is briefly described in DRAVYA SANGRAHA (verse 45) as refraining from what is harmful and doing what is baneficial In a word, it is what helps the self to get rid of the karmas that lead him to bondage and suffering For the stoppage of the influx of new karmas, and eradication of the old, one must (1) take one five great vows (Panca-Mahavratas), (2) Practise extreme carefulness (Samiti) in walking, speaking, receiving alms and other things, and answering calls of nature so as to avoid doing any harm to any life, (3) Practise restraint (gupti) of thought, speech and bodily movements, (4) practise dharma of ten different kinds, namely, forgiveness humility, straight forwardness truthfulness cleanliness, self restraint, austerity (internal and external), sacrifice, non attachment and celibacy (5) meditate on the cardinal truths taught regarding the self and world *(6) Conquer, through fortitude, all pains and discomforts that arise* from hunger, thirst, heat, cold, etc , and (7) attain equanimity, purity, absolute greedlessness and perfect conduct Right faith, knowledge and conduct are inseparably bond up, and the progress and degeneration of the one react on the others two Perfection of conduct goes hand in hand with perfection of faith and knowledge when a person, through the harmonious development of these three succeeds in overcoming the forces of all passions and karmas, old and new, the soul becomes free from its bondage to matter and attains liberation Being free from the obstacles of matter, the soul realizes its inherent potentiality It attains the four fold perfection (Ananta-Catustaya), namely, infinite faith, knowledge, infinite power and infinite blisa.

FOOT NOTES

1 Samyag-Darsana Jnana Caritrani Moksa Margah

2 Tattvartha Sutra, 1, 2 & 3

3 See Purushartha Siddy Upaya by Amrita Chandra Suri 5-8.

4 See Ratnakaranda Sravakacharya by Samantabhadraacharya, 4.

5 Same See above No 4

6 See Tattvartha Sutra, Ch I, 3

7 See Dravya Sangraha, 42.

8 See Tattvartha Sutra I, 9
9 See Ibid 14 (Mati Jnana is occasional through the five senses and the non-sense (See insellect)
10. See Ibid. 20
11 See Tattvartha Sutra, I 21, 22, 27
12 See Ibid 23, 28
13 See Ibid 29
14. Ibid 31.
15. Tattvartha-Sutra I, 25-7
16. Ibid 30
17 Dravya Sangraha 35

Nature made man not for eating flesh

'All animals whom nature has formed to feed on flesh have their long teeth, conical, sharp uneven and with internals between them of which kind are lions, tigers, wolves, dogs, cats, and others But those who are made to subsist only on herbs and fruits have their teeth rharp, blunt, close to one another and distributed in even rhows'

Prof Pierre Gassendi

JAINISM AND LINGUISTIC ANALYSIS

Dr Harendra Prasad Verma
Reader, Dept of Philosophy
Bhagalpur University (Bihar)

The recent emphasis on the Analysis of Language

Linguistic analysis is the most dominant trend in the present day philosophy Philosophers now generally believe that philosophy is nothing but the analysis of language In course of the philosophical development, the emphasis has gradually shifted from Ontology to Epistemology, and from Epistemology to the Logic of language The reasons thereof are manyfold First, the Analysts point ont that language is the most potent means of communication We learn things through language, and at the same time we also express whatever we think, feel and desire through language Hence for all meaningful communications, linguistic or conceptual clarity is essential But we find that language is generally prone to be misused and confused Certain expressions, says Ryle, are "systematically misleading"[1] and create confusions and generate the demand for queer entities According to Wittgenstein also, "Most questions and propositions result from the fact that we do not understand the logic of our language .. It is the merit of Russell's to have shown that the apparent logical form of the proposition need not be the real form "[2] Secondly- according to the analysts, most of the philosophical puzzlements are due to the misunderstanding of the logic of language Hence- if the logic of language is clearly understood, the philosophical problems also dissolve automatically According to Wittgenstein, "philosophical problems arise when language goes on holidays "[3] The treatment of the philosophical problems is like the treatment of neurosis As neurosis dissolves when we understand how the complex has formed, the philosophical puzzlements also disappear when we understand how the concepts have been tangled. Thus the aim of philosophy is to attain the conceptual clarity, and the sign of clarity is the dissolution of the problem altogether As Wittgenstein observed, "The object of philosophy is the logical clarification of thoughts. Philosophy is not a doctrine but an activity. A philosophical work consists of elucidations. The result of philosophy is not a number of philosophical propositions, but to make propositions clear and delimit sharply the thoughts which otherwise are. as it were, opaque or blurred."[4]

The Analysts maintain that the philosophers of the past could not solve the philosophical problems, because they did not question the meaning-fulness of the problem itself They debated on the pseudo problems and as such could not arrive at any meaningful conclusion, because only a significant question can significantly be observed As Moritz Schlick observes, -The chaotic state in which philosophy has found itself during the greater part of its history is due to the unfortunate facts that, in the **first** place, it took certain formulations to be real questions before carefully ascertaining whether they really made any sense, and in the **second** place, it believed that the answers to the questions could be found by the aid of special philosophical methods different from those of the special sciences "[5]

All these led to the demand for the analysis of language Linguistic analysis consists in the understanding of the logic of language with a view to attain complete clarity in matters of language

It is generally believed that in India there is nothing like linguistic-analysis Hence it is thought by the westerners that Indian philosophy is only religion and not philosophy It is, no doubt, true that Indian philosophy in general, and Jainism in particular, has religious orientation because philosophy here aims at the solution of the existential problem, i e-, the problem of suffering, and does not intend to satisfy the intellectual curiosity only The aim of almost all systems of Indian philosophy is to prepare the path for deliverance from the bondage of **samsāra** The Tirthankaras are not the logicians but the ford-makers accross the ocean of the universe However, it is also not true that linguistic-analysis is absolutely absent in India As a matter of fact, almost all systems of Indian philosophy discuss the problem of the relation between language and reality, and make the analysis of language In Jainism, the logicians, like Prabhachandra, Pujyapad, Manikyanandi and others,have worked a good deal in this direction Prabhachandra, in his **Prameya Kamala Martanda** and **Nyaya** Kumud **Chandra,**[6] has analysed the concept of Meaning in the style of G E Moore with the logical acumen of Wittgenstein Manikyanandi, in his **Nyayavatara**, has discussed the problem of Word and Meaning extensively The question of the relation of Word and Meaning fills large spaces in the **Sloka varttika,**[7] **Sanmati-Tarka**[8] and **Nyaya Manjari**[9].

However, for Mahavira what counts most is the clarity of vision, and not the clarity of expression or language for, vision is more fundamental than expression and action When the clarity of vision (**Samyag darśana**) is attained, the expression automatically become clear, or even paradoxical or self-contradictory expressions become intelligible and gain meaning Thus in India it is thought that

philosophy is not logic or conceptual analysis but the vision of reality—**Darśana** Moreover, clarity of vision also leads to uprightness in life and behaviour (**Padhamaṁ ṇāṇam tao dayā**) When the supra mental gnosis dawns, all doubts and despair are despelled like the darkness at the noon day and all attachments are shaken The Jainas also believe with Socrates that "virtue is knowledge" In philosophy we are dealing with mystery, which cannot be reduced to this or that intellectual formula Hence our aim is not only to attain the conceptual clarity We are not dealing here only with the spheres of the sensible and the intellectual but with the spirit, which transcends the senses, mind and intellect. The conceptual and linguistic problems arise when philosophy impoverishes and vision goes on a holiday We, then, fail to understand the words of the Tirthankaras We then dwell simply on the words of the scriptures and miss the sense In the absence of the spiritual experience the words of the seers seem to be unintelligible, and non-sensical, with the result we quarrel only with the words as the bad workman quarrels with his tools, and are lost into the philosophical controversies However, we must note that logic is only a part of philosophy and not co extensive with it It is only a means and not the goal in itself The linguistic-analysts are mistaken in identifying the means with the end by making linguistic analysis to be the sole concern and the end of philosophy We must remember that grammar is not literature, nor is prosody, poetry The answer to the philosophical contro versies must be sought in experience, and not in mere dialectics For, reason cannot lead us too far It goes to some extent and then it stops There comes a level where logic becomes illogical and all arguments are the arguments in circle, they beg the question Even the process of linguistic analysis, when consistently analysed, leads to **regressus and infinitum** For, a statement is analysed by another statement which itself remains unanalysed For the analysis of that statement, we require another statement, and so on **ad infinitum** Thus in order to arrive at some categorical ground, language has to be related to experience and reality, otherwise everything will rest upon 'if-then' and be hypothetical

Reality, according to Mahavira, is beyond words, thoughts and logic Words and thoughts return baffled when they try to comprehend the mystery (**Savve sarā niyattati, takkā taltha na vijjai, mai tattha na gāhiyā**) [10] The experience of the Reality (**Kevala jñāna**) is inexpressible Mahavira said, "The vision of the ordinary man is limited and conditioned, he cannot comprehend the Reality in its totality, nor can he describe it completely and adequately Reality is many-faced, and is in a constant flux, which is ever changing and flowing It is far beyond the grasp of the senses and intellect, and much less within the reach of language Though appearing in the present, it encompasses both the past and future. It is known only through **kevala jñāna,** the hundredth part whereof is grasped by intellect, and the hundredth fraction thereof is expressible through words". This necessitates one to keep silent. Mahavira, in fact, kept silent and

also tried to communicate through it Whenever he qualified his silence through propositions, he used them only as elucidations or pointers to Truth. He declared that all propositions are partial, conditional and relative, none can describe the reality as it-is-in-itself in its entirety Hence all statements are to be qualified by "**Syāt**" (Relatively speaking), Wittgenstein in the **Tractatus** seems to appreciate this truth when he says, "My propositions are only elucidatory in this way , he who understands me finally recognizes them as senseless, when he has climbed out through them, on them, over them, (He must, so to speak, throw away the ladder after he has climbed upto it)"[11] "whereof one cannot speak thereof must one be silent "[12]

Kinds of Analysis

There are three important schools of analysis, viz , logical atomism, logical positivism and Ordinary language philosophy They have their different kinds of analysis

(1) **Logical Analysis**—The logical atomists, Russell and Wittgenstein of the **Tractatus**, have suggested that language is the picture of reality They have propounded the 'Picture theory' or Denotive theory of Meaning According to them, every element in a proposition represents the elements of reality, and the logical structure of the proposition represents the structure of the reality As Wittgenstein observed, "the proposition is the picture of reality", "it shows how things stand if it is true "[13] The picture is a model of reality,"[14] For example, when we say, 'This is brown', "This" refers to a particular and "brown" refers to a quality The meaning of any word is what it stands for, or as Wittgenstein puts it, "what a picture represents is to sense "[15] Thus from this, the logical atomists deduced the conclusion that the universe is constituted of the logical atoms which are externally conjoined, because the atomic propositions represent atomic facts and the compound propositions, which are the conjunction of atomic propositions, represent the logical construction of the atomic facts Corresponding to the logical structure of language, the structure of reality is also of the nature of a & b & c or a or b or c

On the above view of reality, the logical atomists proposed two types of analysis—(1) logical analysis, and (2) Metaphysical analysis They found that there are many words which are mere words or 'verbal descriptions', and they do not denote any fact e g , "unicorn", "circular square", etc They masquerade as proper names—and as such create confusion and cause vagueness in language As Russell observes, "Everythig is vague to a degree you do not realize till you have tried to make it precise, and everything precise is so far remote from anything we

normally think, that you cannot for a moment suppose that is what we really mean when we say what we think" [16] Hence the verbal nature of these descriptions are to be made clear by the analysis of language. For example, 'The king of France is bald' is to be analysed as, "There is one and only one thing which is the king of France and whoever is the king of France is bald"

The metaphysical analysis consists in making the proposition an adequate picture of reality It consists in reducing a compound proposition to simple atomic propositions so that they may represent the reality adevuately For example, "An average Englishman has an I Q of 50" is to be analysed thus John has an I Q. of 45, Tom has an I Q of 55, and so on

However, the analysts themselves found difficulty with their view of language and meaning It was realized that language cannot be a picture of reality, because there is nothing in common between language and reality. The Jainas also criticize the Denotive theory of Meaning on this very ground [17] As Prabhachandra argues, there cannot be identity between Word and Meaning, because, then, if the word 'sweet' is uttered, mouth would have been sweetened, and it should have cut injury when the word 'knife' would have been uttered" [18] Wittgenstein also argued in the **Philosophical Investigations** that there is no identical relation between word and object He observes, "It is important to notice that the word, 'meaning', is being used illicitly if it is used to signify the thing that "corresponds" to the word This is to confound the meaning of a name with the bearer of the name, When Mr N N dies one says that the bearer of the name dies And it would be nonsensical to say that, for if the name ceased to have meaning, it would make no sense to say 'Mr N N is dead" [19]

Further, we have many words like "and", "if-then", "either-or", etc which are meaningful, but which do not represent any fact Hence it cannot be said that words are the pictures of facts, and that the meaning of a word consists in what it stands for

Again, the meaning of a word cannot also be said to be 'particular' because the particular which is given in knowledge by acquaintance, cannot be specified by any word Russell believed that the particular is designated by proper names But, in fact, the proper names also turn out to be 'descriptions' for they do not denote only a particular person or thing but several persons or things. Then Russell suggested to specify the particular through 'this' and 'that', but the difficulty which was with the proper name persisted with 'this' and 'that' also Hence the meaning of a word cannot be said to be 'particular' Further, in the **Philosophical Investigations** Wittgenstein realized that fact has no logical structure, hence it also became superfluous to reduce the sentences to their logical forms so as to make them the adequate pictures of facts

(2) Verificational analysis

Instead of concentrating upon words, the logical positivists concentrated upon statements, because they found that certain words in a statement have meaning but no reference Again, they felt that the simple facts are expressed through simple statements, and the compound statements are nothing but the combination of simple statements The logical positivists also, to a great extent, supported the denotive view of language, and held that 'the meaning of any statement is the method of its verification 'A meaningful proposition is that which can be either true or false A statement which is neither is meaningless All meaningful propositions fall within two categories (1) Analytic, and (2) Synthetic Analytic propositions are those which deal only with the concepts or "relation of ideas" In them the predicate is the explication of the subject For example, 2+2=4, or Triangle has three angles. For the verification of such propositions, we need not refer to facts, their truth and falsity are determined within the symbolic scheme itself On the other hand, the truth and falsity of the synthetic propositions is determined by reference to facts

However, this type of analysis was also found to be inadequate, because in the first instance, 'Meaning' cannot be identified with 'verification , for it is wider concept than verification Secondly, the denotive theory of language cannot be maintained, because language is not always related to facts The same word performs different functions in different uses. "We do various things with our sentences" says Wittgenstein" Think of exclamations alone, with their completely different functions.

Water !

Away !

Aw !

Help !

Fine !

No !

Are you still inclined to call these words "name of objects ?"[20]

(3) Conceptual Analysis

Wittgenstein, in his **Philosophical Investigations**, revised his previous theory as propounded in the **Tractatus**, and came to believe that language is not the picture of reality Language is only a tool which can be used in several ways. Words are only instruments which perform different functions in different-

language-games There is thus the "multiplicity of language-games,"[21] and the same word gains different meaning in different language-schemes However, in the **Investigations** language was completely displaced from reality Wittgenstein believed that the meaning of the word is neither universal nor particular, it depends upon the sense in which it is used Secondly, the meaning of any word is to be determined within the language-scheme, and not outside it by reference to any fact, for language is no longer the picture of reality As Wittgenstein observes, "Asking 'Is this object composite ?' Outside a particular language-game is like what a boy once did who had to say whether the verbs in certain sentences were in the active or passive voice, and who racked his brains over the question, whether the verb "to sleep" meant something active or passive "[22] Finally, any word or concept can be said to have meaning only when it has its function in the language-game. Meaning of any word or sentence, thus, consists in its use in language The conceptual analysts in the process of analysis do not try to improve the logical form of the proposition, like the logical atomists, to make it an adequate picture of reality, because the reality has no logical structure, but simply try to understand it Again, they, like the logical positivists, do not also try to see whether any statement is verifiable or not, because meaning does not consist in verification. They also do not try to reduce all sentences into analytic and synthetic, because sentences may have different uses, and there may be more logical values than Truth and Falsity They try to see as to what function does a concept perform in a language-game

Linquistic analysis in Jainism

Now, the Jaina view of Language and Meaning holds much similarity with the latter theory of Wittgenstein, of course, it has certain differences as well The philosophy of Wittgenstein has obviously two phases In the first phase, he believed in the Denotive theory of Meaning, whereas in the second phase he switched over to the Non-denotive theory or use-theory as he calls it Now the Jainas criticize both the Denotive theory (of the Naiyayikas) and the Non-denotive theory (of the Buddhists), and adopt the middle position They hold with Wittgenstein that language is not the picture of reality, because there is neither identity nor causality between word and reality However, they do not want to displace language altogether from the realm of reality, because, then, it would be impossible to communicate anything about reality Morever, the truth and falsity of the judgements also cannot be determined Although the Jainas believe in the relation of instrumentality between Word and Meaning, still in order to avoid the 'linguistic solipcism' in which Wittgenstein seems to be entrapped, they hold the partial identity between word and object (**Katchaṁcid vācya vācaka-saṁbandha**). Although words are not related to objects, still due to the natural capacity (**sahaja yogyatā**) and indicative nature (**saṁketa**) or convention or usage (**samaya**), they describe them. It appears that Wittgenstein is entrapped into the "lingua-centric

predicament" when he says, 'The limit of my language means the limit of my world '[24] He does not want to go beyond the language-scheme to judge the meaning of words and concepts But the Jaina view overrides this difficulty by maintaining that of the diverse functions, denoting is also one of the functions of language And it seems that Wittgenstein would also accept this view, because he believed in the diverse uses of language Moreover, it is due to this merit that the Jainas do not discard the metaphysical utterances as non-sensical like the logical positivists They believe that the talk about Reality, despite its inadequacies, is possible

The reality, according to Jainism, has many facets Hence it is not possible to encompass to entire reality in one judgement We view the reality from different angles of vision and have partial views of it Thus there are numerous language-games (**Vacana paths**) The multiplicity of linguistic-schemes is due to the multiple nature of reality Again, as each language-game (**vacana path**) is the vision of reality from a particular angle of vision and takes into account only one aspect of reality, all statements are independent and cannot be reduced to one another This reminds one of Ryle's dictum, "Every statement has its own logic " On this very ground Ryle maintains that one language-game should not be confounded with the other, otherwise that involves into the fallacy of "category-mistake "

Bi-polar logic vs Multipolar logic

Although the Jainas accept the multiplicity of language-games, but they try to subsume different judgements into seven broad heads **Sapta bhangi naya.** For them, Truth and Falsity are not the only logical values, rather besides these, there are other five logical values as well Hence they talk of seven logical values and in place of the bi polar logic, they offer multipolar logic According to them, besides 'True' (**Asti**) and 'false' (**Nasti**), there can be such categories as 'both time and false' (**Asti ca nasti ca**) 'Ineffable' (**Avyaktam**), True and Ineffable (**Asti ca Avyaktam ca**), false and Ineffable (**Nasti ca Avyaktam ca**), and True, False and Ineffable **Asti ca nasti ca Avyaktam ca**` The Jainas, like the Analysts, believe in the relativity of language-games, they take all judgements to be partial and conditional, and true only from a relative standpoint As language belongs to the world of relativity, it cannot describe the reality in its totality and absoluteness The limit of language is thus the limit of the world, it cannot extend to the realm of the noumenal reality However, with the relative judgements also, we communicate at least something about the reality Thus the Jainas do not displace language completely from the reality, Like the Analysts, they also believe that the aim of philosophy is to attain 'clarity', but their emphasis is more on the clarity of vision rather than the clarity of concepts, because they deal with the Mystery which can-

not be reduced to intellectual categories. Sometimes, even paradoxical or self-contradictory language is used to describe the mystery. However, **Syādvād** is an attempt to attain clarity in thought and language, and the Jainas solve the problem of contradictory predication through it.

The Language-Strata :

Like the Analysts, the Jainas have also talked of the 'Language-strata'. According to them, the reality can be viewed from different points of view. Hence, we have a language-strata consisting of seven kinds of language-games corresponding to the seven points of view of reality, viz ,

(1) Naigama Naya

(2) Riju sūtra Naya

(3) Vyavahāra Naya

(4) Saṁgraha Naya

(5) Śabda Naya

(6) Samabhirudha Naya

(7) Evamsambhūta Naya

We may, first, view the object in its essential or universal aspect and use the words like, "reality" "substance", "Unity", etc These gain meaning from **Naigama naya** Secondly, we may consider the object in its particular aspect and use the words like "atom", "sensation", etc The words denoting the particular gain meaning from **Riju Sutra naya** Although the objects are the combination of atoms, for example, a table is a collection of so many atoms, but in practical life, we do not view it in such a way We describe it as a gross object. We do not say that we are sitting on a collection of atoms. Hence in the third sense, we use words to denote the objects which are so called from the practical standpoint. The words which are the 'logical constructions' out of the particulars gain meaning from **Vyavahranaya** Fourthly, we may also talk of the collection of things and persons, like "society", "library" etc, These words gain meaning from **saṁgraha naya** Apart from these, we may also talk about language, for we also use language to analyse language. This we deal with in **śabda naya.**

Further, the same object or person may appear in different roles in different contexts and may acquire different qualities Hence there may be different words having different meaning but denoting the same object or person For example, "Indra", "Shakra", "Purandra" represent three different characteristics but denote the same deity These are granted meaning by **Samabhi ruddha naya.**

Finally, certain words gain meaning through action a thing or individual performs. For example, one is called "worshipper" because of the act of worship. Such words gain meaning from **Evam sambhūta naya**

The Restoration of Metaphysics

In this way, we find that while the logical atomists had included only the three kinds of words (viz, words denoting a particular, words denoting a logical construction, and words denoting words) in the category of meaningful words, the Jainas have added to these a few more Above all they also grant meaning to such words which denote the essential aspect of reality Such words have been denied meaning by the logical positivists and the conceptual analysts. A J Ayer and T. R Miles, etc explicitly say that words dealing with "absolute existence' have no meaning [26] Only those words have meaning which have a spatiotemporal frame of reference But the Jainas permit the talk about reality and accept the use of the words in the absolute sense, because one is established in the reality as such or pure Being through **samādhi** In **Kevala Jnāna** we view the reality as it-is-in-itself, and hence talk about the essential aspect of reality from **Niścaya naya** This opens the door for metaphysical use of language The Jainas believe that the universal expresses itself through the particular Hence, words may denote both the universal and the particular in different contexts Thus broadly speaking, there are two kinds of statements

(1) **Dravyārthika naya**

(2) **Paryāyārthika naya**

We thus find that the Jainas have two types of analysis

(1) Meta-physical analysis (**Arthaviślesana**)

(2) linguistic analysis (**Sabda viślesana**)

In metaphysical analysis, the meaning of the words is judged by reference to facts, In linguistic analysis, the meaning of the word is judged from 'use' and 'usage'.

FOOT NOTES

1. Ryle, "Systematically Misleading Expressions", **Logic and Languago**, 1st series, (ed), A Flew, Basil Blackwell, Oxford, 1952.

2 **Tractatus Logic-philosophicus**, Routledge and Kegan Paul Ltd., 1st impression, 1922, (4.0031),

3 **Philosophical Investigations**, Basıl Backwell, Oxford. 1953, p. 19.

4 **Tractus**, 4 112.

5 Morıtz Schlık, "Posıtıvısm" ın **Logical Positivism** (ed.) A J Ayer, The Free Press Illıonıs, 1960 p 86.

6 vıce, **Prameya Kamala Martanda**, foll. 124–135 **Nyaya Kumuda Chandra**, vol II, pp 533–47

7 **Sloka varttika** (trans) pp 254–261, 347–374

8 **Sammati Tarka** pp 173–77 434–440

9 **Nyaya Manjari**, pp 340–414

10 **A–cārānga sūtra**, ı 6

11 **Tractatus**, 6 54

12 **Tractatus**, 7 concludıng remarks

13 **Tractatus**, 4 01, 4 022

14 **Tractatus**, 4 4611

15 **Tractatus**, 2 221

16 Russell **Monıst**, 1918, p 498.

17 For a detaıled vıew of the Jaına vıew of meanıng vıde my article, "Word and Meanıng" the Jaına Poınt of vıew" **Mahavira Jayanti Smarika, Jaıpur**, 1976

18 Nyaya Kumud Chandra, vol II, Manıka Chandra Dıgambara Jaına Granth Mala, Bombay, 1941, p 586

19 **Philosophical Investigations**, p 20

20 **Philosophical Investigations**, p 13

21 **Ibid**., p 13

22 **Ibid** , p 22

23 **Ibıd** , p 13

24 vıde, **Manikyanandi**, **"Sahaj yogyatā saṁketa vaśodhl śābdādayo vastu parti pattı hetavah (Pariksāmukha)**

25 **Tractatus**, 5 6, 5 61, 5 62

26 vıde A J Ayer, **Language, Truth and Logic**, II ed Vıctor Gollancz, London, 1946

T R Mıles, **Religion and Scientific Outlook**, George Allen & Unvın, London, 1959.

PENANCE

'Penance performed with the desire of earning fame etc, is not pure penance That is to say, self-purification must be the only purpose of penance.

Penance is of two kinds external and internal External penance comprises fasting, taking a very limited quantity of food (so as to leave the stomach partly empty); acceptance of particular food only from a particular place, at a particular time and in particular condition; abstinence from including in tastes of the tongue; endurance of physical hardship and self-abstraction Internal penance consists of expiation, lofty and pious mentality, hospitality, study, meditation and seclusion'

'That some Jeevas have attained, are attaining, or will attain emancipation, should be understood to be the result of such penance'

—LORD MAHAVIRA

INDIA OF MAHAVIRA'S TIME

Dr. S. M. Pahadiya,
Khandwa (M. P)

The time of Mahāvīra is epoch-making in Indian history It was rather a revolutionary period Many new thoughts developed Changes occurred in almost every field of life In political field, organized states came up; the position and functions of the king gained in importance In social field, the supremacy of the Brahmins was defied, joint-family system came to the forefront; **gotra** and **pravara** came into existence, **niyoga** came almost to an end In economic field, trade, commerce and industry prospered Coins came into prevalence Iron was used on a large scale In the field of religion, there was, as it were, a world-wide revolution In the field of art, considerable progress seems to have been made. For knowing the art of this period, we have to depend largely on literary sources Introduction of Northern Black Polished Ware was unique in itself.

POLITICAL CONDITIONS·

There were sixteen big states, known as **Solasmahājanapada** These states formed some definite territorial units, and included both monarchies and republics. The small republics were ruled by autonomous or semi-independent clans such as the Sākyas of Kapilavastu, the Koliyas of Devadaha and Rāmagāma, the Bhaggas of Sumsumāra hill, the Bulis of Allakappa, the Kālamas of Kesaputta and the Moriyas of Pipphalivan

Generally, the rulers of the monarchical states were Kshatriyas Though a despot, the king was to follow **Dasrājadharma**. Moral course of life was one of them. Main duty of the king was to protect the country against internal and external peril Kingship was usually hereditary King's eldest son used to be the **Uparāja** (viceroy). Below **Uparājā**, there was **Senāpati**, usually the king's kinsman The council of ministers was there to assist the king The ministry generally consisted of five members called **amāchchhas**.

Provincial administration was almost autonomous. **Grāmabhojakas** occupied an important place in village administration In judicial matters, the king was supreme, though the minister of justice, **Vinichchhayamāchchha** used to advise him Military organization was good. The army consisted of chariots, elephants, cavalry and infantry About the organization and administration of republics (the like of which are known to have been found in Sparta, Athens, Rome and mediaeval Venice), we have to depend upon the Buddhist **Jātakas** The seven points of excellence pointed out by Buddha to Varshākāra (the chancellor of the then king of Magadha) may be regarded as the directive principles of state policy These are follows (1) holding full and frequent public assemblies, (2) meeting together in concord, rising in concord, carrying out business in concord, (3) enacting nothing not already established, abrogating nothing already enacted, (4) honouring, esteeming, revering and supporting the elders, (5) not detaining the girls or women by force or abduction, (6) honouring, esteeming, revering and supporting the shrines (**Chaityas**), (7) protecting, defending and supporting the **Arhants**

It seems that the right of citizenship was confined to aristocratic Kshatriyas Each republican state seemed to have a separate supreme assembly The place where the assembly met was called **Santhāgāra** In the assembly, there were different groups that clashed from time to time for power Transaction of the essembly business strictly required a quoram Resolutions in the assembly were moved according to set Rules Voting was sometimes done by secret method, sometimes by whispering method, and sometimes by open method Generally the assembly controlled the executive the membership to which varied with the size and traditions of each state The judicial administration of the republics was remarkable and the liberty of citizens was efficiently guarded The aim of judiciary here was to find guiltlessness whileas that of Tibet was to find guilt of the accused

SOCIAL CONDITIONS

The Kshatriyas, now enjoyed the highest position, though there are references in certain Buddhist texts to the contrary The influence of the Brahmins diminished Many of them took up objectionable practices like hunting, carpentry and chariot-draving Brahminical literature, however, speaks otherwise The Vaiśyas no more remained homogeneous in their profession The condition of the Sūdras before Mahāvīra was pitiable Mahāvīra tried his best to improve the lot of the Śūdras The low castes like **Chāṇḍālas, Veṇas Nishādas, Rathakāras,** and **Pukusas** also appeared at this time However, there does not seem to have been any ban on attaining religious merit One Harikeshbala, born in the family of **Chaṇḍālas,** is known to have become a monk Many mixed castes also came into existence

Slavery was common those days Chandanā, the first female disciple of **Mahāvīra,** was a slave. The **Sannyāsa Aśrama** became quite distinct from **Vānaprastha Aśrama** this time Joint-family system was the order of the day The relationship between different members of the family was mostly cordial and affectionate There are, however, also instances which reveal otherwise Owing to an enormous increase in trade and commerce, and independent earning by the members of the family, the conception of proprietary rights came into existence,

It appears that **Brāhma, Prājāpatya, Asura, Gāndharva,** and **Rākshas** marriages were common those days There are instances of **Svayaṁvara** type of marriage also The marriage of princess Nivvui was of this type **Gotra,** now, seemed to play an important part in settling marriages Some of the law-givers prohibit **sagotra** marriages We have a few examples of brothers marrying their own sisters The Sākyas are known to have married their sisters Incestuous marriages were also prevalent among the Lichchavis Marriage with one's own cousin was also in vogue The marriage of Jyeshthā to Nandivardhana, the elder brother of Mahāvrra, belongs to this category **Anuloma** (marriage of a groom of higher caste with a bride of lower caste) and **Pratiloma** (marriage of a high-caste girl with a low-caste boy) marriages were also practised, though not very frequently The usual age of the bride at the time of wedding was sixteen.

A man could remarry after the death of his wife But evidence regarding widow remarriage is conflicting Marriage after divorcing the husband or wife on certain grounds was also prevalent Monogamy was a general practice Polygamy was a luxury of the rich Courtesans became a special feature of city life, they were the custodians of fine arts such as singing, dancing and music

Both literary and archaeological sources (esp excavations at Ter and Nevasa) reveal that rice wheat and pulses were main cereals A few special preparation of this period are **Sattu, Kummāsa, Puvā, Khājā,** and **Tila-kuta** Milk and milk products like curd, butter and clarified butter were largely used Vegetables like cucumber, pumpkin gourd, and fruits like mango, and jamboo were included in the diet of the people That the people ate meat also becomes clear from the bones discovered at different archaeological sites However, Mahāvīra was deadly against non-vegetarianism, and he made many people vegetarians Vegetariansm,in its turn, increased longevity, and made people non-violent Drinking as also common However, the religious people abstained from it

The dress of the people consisted of **Antaravāsaka, Uttarāsaṅga, Uśaṇiṣa** Both men and women wore **Kāñchuka.** Women wore **Sāris** The fibres used for preparing clothes were cotton, wool, hemp, palm leaves, silk and linen. Sewing and stitching of clothes were in fashion The **Sādhus, Sādhavis** and distinguished persons had their specific wear. The ornaments worn by men and

women were both costly as well as cheap Some of the well-known ornaments of this period are : finger-rings, car rings, and torques, The are elaborate references to the toilet-articles in the contemporary literature Different types of furniture, say chairs, bedsteads etc. have been mentioned both in the Jaina and the Buddhist literature Utensils like bowls of various kinds and material, and pottery vessles were used, as is proved by archaeological excavations The most remarkable thing of this period is what is now known as North Black Polished Ware.

People used to participate in **Samājjas** (festive gatherings) Sālabhañjikā was a most popular festival Some other festivals were **Kaumudi** and **Hāthīmaṅgala** Monks and nuns used to abstain from festivities Besides, festivals, people amused themselves in many other ways, say, singing. visiting parks and garden

Education was imparted to all those who deserved Mercy, charaeter, personality-development, inculcation of civil and social duties etc were the main objectives of education Initiation was necessary both for men and women, The **Gurukula** system was one of the most important features of education The teacher-tought relations were cordial The subjects of study were many The duration and contents of the course were largely determined by the will, capacity, and convenience of the students Female education was also given impetus The art of writing is also said to have been evolved in Mahāvīra's time Prākrit became the medium of expression There was also a general efflorescence of literary activities Science of engineering seems to have become very popular The construction of cities, forts, tanks, canals etc would not have been otherwise

ECONOMIC CONDITIONS

Grāma (village) was the cenre of rural economy Agriculture became the mainstay of village-population Many new methods (of agriculture) were devised The literary sources of this period refer to ploughing and fencing of fields, sowing the seeds, getting the weeds pulled up, reaping the harvest, and arranging the crops in bundles Irrigation was done by wells and tanks Remains of these have been found in the excavations at Ujjain and Vaiśālī Agriculture depended upon cattle comprising cows, buffaloes, goats, sheep, asses, camels, pigs and dogs Among the crops, mention may be made of cotton, wool, hemp, linen, rice, wheat, gram, beams, pear, castor oil seed, mustard oil seeds, sesame, ginger, clove, turmeric, cumin, pepper and sugarcane Many vegetables, flowers, fruits and betel-leaves were also grown.

For the protection of standing crops from animals and birds various steps were taken by the farmers Next to agriculture spinning (clay spindles have been

found), weaving, carpentry, smithy (iron furnaces have been referred to in literature, and iron objects have been found in excavations) and mining were some of other important occupations. Ivory-work, garland making and perfumery were also practised. There were small industries of gums, drugs, chemicals, dyeing, and leather. Industry of precious metals made its mark House-building activities also increased

Trade and commerce both inland and oversea prospered to a greater extent. There are literary and archaeological evidences for maritime trade between India and Western countries A beam of Indian cedar in the palace of Nebuchadnezzar of Birs Nirmud has been found The **Bāveru** and the **Suppāraka Jātaka,** the **Digha Nikāya** and the Ceylonese chronicles also refer to India's trade with foreign countries. The most remarkable feature of the economic life of this time was that trade and industries were organized for the first time into **Sreņis.** Another conspicuous feature is the introduction of regular coins (known as punch-marked coins) in business transaction The coins of this period have been found at Bhir, Paila, Patrāhā, Machchhautoli etc There was also in vogue the system of loans and debts Pāņini mentions of different weights and measurements. Excavations at Chirand, Vaiśālī and Eran have brought to light the weights and measurements of this time For buying and selling of commodities, there were big markets A few references are there which mention actual market price of certain commodities, and a number of references show how prices were determined by haggling

RELIGIOUS CONDITIONS

In the field of religion, not only India, but the whole world witnessed a radical change The time when Mahāvīra lived may be called an age of enlightenment for total human race. Suddenly and almost simultaneously, there started religious movements at separate centres of civilization. Toroaster in Iran preached monotheism and revolted against useless rituals. In Greece, Heraclitus and Pythagoras spoke about the rebirth of soul, and inspired the people to do good deeds Confucius and Lao-tse in China put new religious ideologies against the conventional ones The Jews in their Babylonian captivity developed tenacious faith in Jehova In India, many ascetic and intellectual movements arose against Brahminism. Buddhism and Jainism are chief amongst them, and the originators of these religions did in the sixth century before Christ what Luther and Calvin did in the nineteenth century. The feelings of non-violence, non-stealing, non-hoarding, truth etc were exhorted Religious tolerance was insisted upon. Emphasis was laid on final beatitude The clash of rival schools and sects led people to spiritual quest. Belief in heaven and hell was widespread, and it was said that those who perform various noble acts attain heaven while those who indulge in evil acts go to hell.

From the literary sources we know that the palace was built at the centre of the capital, and that it was surrounded by a rampart (a special feature). The palace was divided usually into three courts and had two distinct parts–the ground floor and the upper floor The pillars and walls of the palace were overlaid with many beautiful motifs The common dwellings were made of stone, brick, wood Provisions were made for windows, elaborate doors, verandahs, dwelling rooms etc. Hygienic arrangements were kept in view while constructing royal and common buildings Some literary sources refer to **Devaklikas** or **Chaityas**. The evidence of early structures of **Stūpas** is available in the archaeological remains discovered at some places From the **Jaina Sarvā Tīrtha Saṁgraha,** we know that Pradyota installed **Jivant Svāmī** (life time) images of Mahāvīra at Ujjain, Daśapura, and Vidiśā There are references to the statues of Indra in the **Jātaka** literature About the terra-cotta figurines as well as the ceramics in the time of Mahāvīra, we get some knowledge both from literary and archaeological sources From the Jaina and Buddhist literature, it becomes clear that painting (both secular and religious) was considered to be an important form of artistic expression Some pointings of this period seem to have been preserved in the rock shelters at Mahādeo hill (Panchmarhi), Bhim Baithaka (Bhopal), Mori (Mandsor), Singhanpura and Kabra Pahar, Likunia, Kohbar, Mehria, Bhaldaria and Bijagarh (Mirzapur), and Manikpur (Banda) Some metal, bone, and stone objects too have been unearthed from certain sites Seals, and sealings, potters' dabbers, stamps, stone pestles, querns, dises, etc of this period give a fair idea of art

---

what is PURUSHA

An individual who is awakened realises the truth and excells in Ahimsa and never wishes for pleasure or indulge in passions, but exerts for self realisation consider him a true PURUSHA (the manly man).

—**Lord Mahavira.**

Pre-Mediaeval Jaina Novels

—**Dr. Jyoti Prasad Jain**
Lucknow

The modern 'novel' and short story forms of prose fiction are of comparative recent growth, in the west dating since about the beginning of the 18th century, and in India since the last quarter of the 19th century Literally meaning something 'new and strange', the term 'novel' is used to denote that literary form of fictitious prose narrative or tale which presents a picture of real life, especially of the emotional crisis in the life-history of the men and women portrayed It does not, however, follow that such tales were unknown to world literature before, only they are not always and necessarily in prose, many being in verse as the bulk of the ancient and mediaeval literature, particularly of the didactic and religious type, is

Western historians of Indian literature, like Weber, Buhler, Hertel, Keith, Macdonell and Winternitz, have all been well impressed with the fact that Jaina monks and authors have always been very good tellers of tales The commentaries to the canonical texts, even many an early didactic and philosophical work, contain, besides a mass of traditions and legends, numerous fairy-tales and stories The Jaina Puranas and the many **Charitras** (Pauranic Kavyas), **Kathas**, and **Kathanankas** were often only a frame in which all manner of fairy-tales and stories were inserted The **Champus** are ornate novels in prose and verse mixed, and the **Dharma-parikshas** are didactic-polemical works so closely inter-wiven with narratives that they may well be included in the story literature, while there are also satirical humorous tales like the **Dhurtakhyana** In some cases, as in the **Malayasundari Katha**, of unknown authorship and originally written in Prakrit, "The author", says Winternitz, "has worked up popular fairy-tale themes into a

Jaina legend A veritable deluge of the most phantastic miracles and magic feats almost takes away the reader's breath in this work. Countless motifs well-known in fairy-tale literature are interwoven with the novel." (cf HCL, II, p 533), In addition to all this, there is a vast independent fairly-tale literature of the Jainas, in prose and in verse, in Prakrit, Sanskrit, Apabhramsha, even in Kanada, Tamil and the vernaculars, available in the many collections of stories, the **Kathakoshas** (treasuries of tales).

There is no doubt that 'all these works, be they stories in plain prose or in simple verse, or elaborate poems, novels or epics, are all essentially sermons. They are never intended for mere entertainment, but always serve the purpose of religious instruction and edification' (ibid, p 521) In the Jaina novels, it is true, the heroes and heroines after all sorts of adventures usually renounce the world at last and become monks and nuns for the purpose of attaining liberation, copious instructions on religion are inserted in all convenient places, and underlying the main narrative and most of the inserted stories there is the doctrine of **Karma**, according to which even the slightest peccadillo must have the effects in future rebirths But even in modern times, the novel has been made a vehicle for the teaching of history, the advocacy of causes, the showing up of abuses, and so on, there being so much necessary overlapping of the didactic and aesthetic (cf Scot James, **The Making of Literature**, pp 362-363) So even if writers like Winternitz describe the Jaina novels as 'religious novels', which is nothing but a literal translation of the Jaina term 'Dharma-Katha', the fact does not detract from their being novels. Several of these Jaina novels are fine romantic tales of love and adventure, and in the numerous stories, parables and fairly tales inserted one comes across many themes which are often found in non-Jaina narrative literature, and some of which belong to universal literature As Winternitz avers, the vast Jaina narrative literature is of great importance not only to the student of comparative fairy-tale lore, but also because to a greater degree than other branches of literature the Jaina tales allow us to catch a glimpse of the real life of the common people. (HIL, II, p. 545)

Prominent among the pre-mediaeval Jaina novels are **Tarangavai-Kaha** of Padalipta Suri (**circa** 3rd-4th century A D), **Varangacharitra** of Jatasimhanandi (7th century), **Samaraicca-Kaha** and **Dhurtakhyana** of Haribhadra Suri (8th century), **Kuvalayamala** of Udyotana (778 A D), **Nagakumara-chariu** of Svayambhu (**circa** 800 A D) **Jinadatta-charita** of Gunabhadra (**circa** 850 A D), **Upamitibhava-prapancha-Katha** a very popular allegorical novel of Siddharshi (906 A D), **Yashastilaka-Champu** of Somadeva (959 A D), **Nagakumara-chariu** and **Jasahara-charita** of Mahasena (**circa** 975 A D), **Bhavishyadatta-Kaha** of Dhanapala Dharkata, **Tilakamanjari** of another Dhanapala (970 A D.), **Dharmapariksha** of Harisena (988 A D) and of Amitagati (1014 A D.), **Jivandhara-**

Champu of Harichandra, **Gadyachintamani** and **Kshatrachudamani** of Vadibha-simha, **Jivaka Chintamani** in Tamil by Tirutakkatevara (**circa** 8th century **A D**), **Yashodhar Charita** of Vadiraja, **Yashodhar Kavya** in Tamil (anonymous) **Surasundari-charium** of Dhaneshvara and **Malayasundari Kaha** (anonymous)—all **circa** 11th century, **Mrigavati charita** of Devaprabha and **Samyaktva-Kaumudi** (**circa** 13th century), **Mahipalala Charitra** of Charitrasundara, **Champaka-Shreshthi-Kathanaka**, **Pala-Gopala-Kathanaka** and **Dana-Kalpadruma** of Jina-kirti, **Ratna-Chuda Katha** of Jinasagara, **Ambada-Charitra** of Amarasuri, **Papabuddhi-Dharmabuddhi-Kathanaka**, **Aghataknamar-Katha**, and **Uttama Kumara-Charitra** (all **circa** 15th century), **Silappadhikaram** by Illango (**circa** 2nd century A D), **Neelkesi** (anonymous) (**circa** 4th-5th century A D), **Valaiyapati** (anonymous) (**circa** 10th century A D), **Chudamani** by Tolamolite-vara, **Perunkadai** by Prince Konguvela are some specimens of Jain novels written in Tamil, and there are more than a dozen in Kannada The list is by no means exhaustive

———

"TO FORGET IS A CRIME.
TO BE LAZY IS A GREATER CRIME,
TO NEGLECT WORK AND OFFER
EXCUSES IS A GREATEST CRIME,
ACTION WITHOUT DELAY IS
THE SOUL OF EFFECIENCY "

AHINSA

1 Ahinsa is the true character of life for it appeals to all the men and beasts alike It engenders in them love, trust and friendlyness

2 Ahinsa does not mean any religious faith it rather represents that sweet and loving character which makes life worth living, which sustains it through helpless condition and makes it capable of growing into society

3 Ahinsa is the inner urge of life to love and behave other in a way, as one would like to be loved and behaved by others

4 Ahinsa is born of the universal outlook, which recognizes oneness of truth, oneness of self and oneness of purpose through all the veried forms of life

5 Love begets love and hatred begets hatred so a seeker after love should ever live a life of Ahinsa

6 The essence of all great men and their philosophies is that Ahinsa is the greatest good and Hinsa, is the greatest evil

7 Ahinsa like mother is the greatest protector in life It is the safest royal road to happiness

8 Ahinsa is the art of living by which one can live and let others live.

9 The life of Ahinsa costs little but enriches all

10 Ahinsa is double blessing, it blesses him that gives and him that takes

LOVE ALL, SERVE ALL

विज्ञापन

भगवान् महावीर स्वामी की पावन जयन्ती के शुभावसर

पर

आत्मचिंतन करें

उपयोग जीव का लक्षण है।

प्रमाद पाप का उद्गम है।

जब जीवन मे पुरुषार्थ बढता है तो विषयवासना कम होती है।

आचरणहीन ज्ञान और ज्ञानहीन आचरण दोनो व्यर्थ है।

अहिंसा मानव को नही मानवता को महत्व देती है।

किसी के अस्तित्व को मत मिटाओ। शान्तिपूर्वक जीओ और दूसरो को जाने दो।

कोई वस्तु नही वरन् उस वस्तु मे आसक्ति, ममत्व, मूर्छा रखना ही परिग्रह है।

मोह माया को कृश करे, केवल शरीर कृश करने से कुछ भी उपलब्ध नहीं होगा।

जो पुरुष सत्यकार्य मे सपत्ति का विमोचन करता है, सपदा उसे स्वय ढूढती है, सद्बुद्धि उसे खुद खोजती है, कीर्ति उसे निर्निमेष निहारती है, प्रीति उसमे स्वय स्नेह करती है, सुमति उसका आश्रय ग्रहण करती है, नीरोगता उसके पास सदैव बनी रहती है और मुक्ति स्वयमेव उसकी अभिलाषा करती है।

आत्मशोधक का कर्त्तव्य है कि वह क्रोध का दमन करे, अहकार का निवारण करे, माया की काली छाव से बचे और लोभ को तिलाजलि दे।

कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक उत्कर्ष कर मानव से महामानव (अर्हत्) बन सकता है

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा प्रचारित

सहायता निर्बल की की जाती है सबल की नहीं। समुद्र में जा मिलने से नदियों का मीठा पानी भी खारा हो जाता है।

—भ० महावीर

रत्न प्रकाश

(INDIAN GEMMOLOGY)

राजस्थान में श्वेत-क्रान्ति

- श्वेत क्रान्ति के लिए ५२ करोड़ रुपये व्यय का अनुमान।
- डेयरी विकास निगम व दुग्ध उत्पादक संघों की स्थापना।
- डेयरी परियोजनाओं व अवशीतन संयत्रों की शृंखला।
- दुग्ध उत्पादकों की लगभग ८०० सहकारी समितियां गठित।
- दूध की बिक्री से किसानों को प्रतिदिन ३ लाख रुपये की आय।
- किसानों को दुधारु पशुओं की खरीद के लिए ऋण सुविधायें।

अनिच्छा ही अपरिग्रह है ।

— भ० महावीर

भगवान् श्री महावीर के जयन्ती महोत्सव

पर्व पर

प्रेम प्रकाश टाकीज

(वातानुकूलित छविगृह)

द्वारा

हार्दिक अभिनन्दन

भगवान् महावीर की २५७५वीं जयन्ती पर

हार्दिक शुभ कामनाएं

गणेशनारायण गुप्ता

बिल्डिंग एण्ड रोड कन्ट्राक्टर एवं ट्रेक्टर सप्लायर

सेठी कालोनी

जयपुर

जिसकी वासनाओ का क्षय हो गया वह ही जीवन मुक्त है।

—भ० महावीर

णमोत्थुण समणस्य भगवओ महावीरस्स

शिवमस्तु सर्वजगताम

परहितनिरता भवन्तु भूतगणा ।

दोषा प्रयान्तु शांति

सवत्र सुखी भवन्तु लोक ।।

सर्व मगल मांगल्य

सर्वकल्याणकारकम ।

प्रधान सर्वधर्माणां

जन जयतु शासनम ।

देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञ करोतु शांति भगवान जिनेन्द्र

ॐ शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!

---

१ आय कर और सम्पत्ति कर मे छूट पान के लिए

२ नियमित बचत क साथ जीवन बीमा का लाभ पान क लिए,

३ कवल सात वर्ष तक १00) रुपया मासिक बचत करक जीवन भर पीढी दर पीढी- दो सौ रुपये का लाभ पान क लिए,

४ परिवार की समृद्धि क साथ राज्य क विकास म भागीदार बनन क लिए

डाकघर अल्प बचत योजनाओ मे धन लगाइए

विशेष जानकारी के लिए —

निदेशक
अल्प बचत एव स्टेट लौटरीज,
राजस्थान जयपुर
फोन न० ७५४५६ ।